नागरी प्रचारिणी पत्रिका

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

(त्रैमासिक)

वर्ष ५३-अंक १ [नवीन संस्करण] सं० २००५

वैशाख-आषाढ़

विषय-सूची

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

'पत्रिका' के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार ।

२—हिंदी-साहित्य के विविध अंगों का विवेचन ।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान ।

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन ।

संपादक

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

सहायक

बटेकृष्ण

मूल्य प्रति अंक २॥)

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५३—अंक १ [नवीन संस्करण] वैशाख-आषाढ़—सं० २००५

रंगवल्ली कला का इतिहास

(सन् ५० ई० से १९०० ई० तक)

श्री परशुराम कृष्ण गोडे एम० ए०

इस निबंध में मैं भारत के कुछ भागों में[1] त्योहार, आनंदोत्सव आदि के अवसरों पर *रंगीन चूर्णों द्वारा भूमि (फर्श) पर चित्रकारी करने की प्रचलित कला* के किन्हीं संदर्भों का उल्लेख करना चाहता हूँ। इस कला का प्रयोग स्त्रियाँ करती हैं। कुछ हिंदू मंदिरों में इस कला का प्रदर्शन कभी कभी त्योहारों के अवसरों पर होता है। इसकी सम्यक् ऐतिहासिक परंपरा चित्रित करने के लिये संस्कृत तथा अन्य ग्रंथों के आधार पर इस प्रचलित तथा प्रसिद्ध कला का इतिहास-निर्माण आवश्यक है। महाराष्ट्र में इस कला को *रांगोली* शब्द से अभिहित करते हैं। श्री यशवंत रामकृष्ण दाते तथा श्री चिंतामण गणेश कर्वे द्वारा निर्मित 'शब्द-कोश' नामक मराठी कोश में इस शब्द का अर्थ निम्नलिखित रूप में दिया गया है—

"रांगोली, रांगवली" = भोज आदि के अवसरों पर देवताओं के संमुख विभिन्न प्रकार के चित्रों को अंकित करने के लिये चावल अथवा अन्य वस्तुओं का चूर्ण।

१—देखिए बांबे गजेटियर, भाग २२ (धारवाड़), बांबे, सन् १८८४ ई०, परिशिष्ट 'डी' (राव बहादुर श्री तिरुमलराव वेंकटेश लिखित) में 'रांगोली' क्राट्ँज पाउडर (रांगोली), पृष्ठ ८२१-८२२ —

"रांगोली, दि वर्ड यूज्ड फार दि क्राट्ँज लाइंस ऐंड पिक्चर्स व्हिच प्रुडेंट हाउस-वाइव्ज स्प्रिंकल इन फ्रंट ऑव् देअर हाउस डोर्स, इज सेड टु मीन दि ब्रिलिएंट लाइन् फ्रॉम दि संस्कृत रंग, कलर ऐंड आवलि, ए रो। दि आर्थोडाक्स एक्स्प्लेनेशन ऑव् दि स्प्रिंक्लिंग ऑव् दीज लाइंस ऐंड फिगर्स, ऐज वेल ऐज ऑव् व्हाइट-वाशिंग, काउ-डंगिंग ऐंड टाइंग स्ट्रिंग्स ऑव् मैन्गोलीव्ज़ इन हाउसेज, इज दैट इट इज फार व्यूटी बिकॉज गॉड ड्वेल्स इन दि हाउस।"

प्रयोग--तिआ रांगवली सूतीं राणिया । चक्रवर्ती चिआं ।

—शिशुपालवध[1], ५९१ ।

"रांगोली करणें" = मार डालना, पूर्णतः नष्ट कर देना आदि ।

प्रयोग—"ठेंचून करी रांगोली" ।

--संग्राम ।

व्युत्पत्ति--[संस्कृत-रंज् = रँगना, रंगवल्ली = रंग + ओळ]

"रांगोली होणे" = पूर्णतः नष्ट हो जाना ।

—मोरोपंत[2]-विराट पर्व ४, ३३ ।

"रांगोळें"[3]=रांगोली से भरा वर्तुलाकार लंबा पात्र जिसे विलोलित कर (ढँगलाकर) भूमि पर चित्र बनाए जाते हैं ।

—शब्द-कोश, पृष्ठ २६०४ ।

यतः 'रांगवली' का प्रयोग महानुभाव काव्य 'शिशुपालवध' (रचनाकाल सन् १२७३ ई०) में भी मिलता है, अतः हम यह भली भाँति अनुमान कर सकते हैं कि *रांगोली* चित्र बनाने की यह कला महाराष्ट्र में सन् १२०० ई० के आसपास निश्चय ही प्रचलित थी ।

'शब्द-कोश' (पृष्ठ २५७६) में इस कला के लिये एक दूसरे शब्द का भी उल्लेख हुआ है, यथा 'रंगमाला' और इसकी व्याख्या में लिखा है—"रांगोलीची चित्रें" (रांगोली-चित्र) अथवा 'रांगोली' (चूर्ण) । 'शब्द-कोश' में 'रंगमाला' का निम्नलिखित प्रयोग दिया गया है—

"प्रवर्तोनि गृहकामी *रंगमाला* घालुं पाहती"

--भूपाली घनश्यामाची २०,२",

उपर्युक्त प्रयोग अधिक प्राचीन नहीं है । यहाँ मैं महानुभाव मराठी रचना *'लीला-चरित'* (रचना-काल सन् १२५० ई०, भाग ३, पूर्वार्ध खंड २, श्री एच्० एन्० नेने संपादित, नागपुर, सन् १९३७ ई०) में आए "रंगमालिका" शब्द का उल्लेख करता हूँ—

१—यह प्राचीन मराठी काव्य–शिशुपालवध–भानु भट या भास्कर भट बोरीकर (सन् १२७३ ई०–देखिए श्री चित्रावशास्त्री, पूना कृत मध्ययुगीन चरित्रकोश, पृष्ठ ५८५, सन् १९३७ ई०) द्वारा निर्मित हुआ था ।

२—मराठी कवि मोरोपंत का रचनाकाल सन् १७२९ से १७९४ ई० तक है । —देखिए वही, पृष्ठ ६६० ।

३—यह जानना आवश्यक है कि भूमि पर रांगोली चित्रों को अंकित करने के ऐसे यांत्रिक प्रकार किस समय प्रचलित हुए ।

"मग तेही सडासंमार्जन : चौक रंगमालिका भरवीलीया : गुढी उभविली : उपहाराची आइति करविली : आपण घोडें घेउनि साउमे आले : मार्गी भेट जाली।"[1]

—पृष्ठ ६८।

"मग वीळिचां वेळीं ब्राह्मणाचेया घरां बीजें केलें : ब्राह्मणें सडासंमार्जन केलें : चौक रंगमालिका भरिलीया :"[2] —पृष्ठ ३७।

संत रामदास (सन् १६०८–८२ ई०) 'रंगमाला' का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

"तुलसी वनें वृन्दावनें। सुंदर सडे संमार्जनें।
ओटे रंगमाला आसनें। ठाईं ठाईं ॥ २॥"

——मानस-पूजा, प्रकरण १ (रामदास समग्रग्रंथ, पूना, पृष्ठ ३३९, सन् १९०६।)

अब तक हमने *रांगोली* विषयक मराठी-साहित्य से सन्-संवत्-युक्त निम्नलिखित प्रयोगों का उल्लेख किया है—

सन् १२७३ ई०—"रांगवली"।
सन् १२५० ई०—"रंगमाली(लि)का"।
सन् १६५० ई०—"रंगमाला"।
सन् १७५० ई०—"रांगोली"।

अब मैं *रांगोली*-चित्रण के विषय में संस्कृत ग्रंथों के प्रमाणों का उल्लेख करूँगा।

'आकाशभैरवकल्प' (पूने के भंडारकर प्राच्य-अनुसंधानशाला का सन् १६२५-२६ ई० का हस्तलेख संख्या ४३) में जो सन् १४०० ई० और सन् १६०० ई० के मध्य की रचना प्रतीत होती है, रंगवल्ली अथवा *रांगोली* के विषय में हम निम्नलिखित संदर्भ पाते हैं—

"सुशिल्पिना कारयित्वा वेदिं कुंडादिकं प्रिये।
लेपयित्वा गोमयेन रंगवल्या समन्ततः ॥"

—दुःस्वप्नशांति-स्वरूप-निरूपण, (वेदिका वर्णन) पटल ११० पृष्ठ ३११।

(वेदी के पास की भूमि गोमय से लीपी गई थी और उस पर रांगोली के चित्र अंकित किए गए थे।)

१—इस गद्य-खंड में एक भक्त द्वारा गोसावि (महानुभाव संप्रदाय के प्रवर्तक चक्रधर) के स्वागत-सत्कार का वर्णन है। गृह के सामने की भूमि पर पहले (गोबर-मिला) जल छिड़का हुआ था। तत्पश्चात् रांगोली चित्रों आदि से भूमि रँगी गई थी।

२—इसमें एक ब्राह्मण द्वारा चक्रधर के आदर-सत्कार का वर्णन है। इस वर्णन में भी हमें ये वस्तुएँ दृष्टिगत होती हैं—

(१) सडा संमार्जन (भूमि पर गोबर-मिले जल का छिड़काव) और
(२) रंगमालिका (सडा संमार्जित भूमि पर रांगोली के चित्र) की ये प्रथाएँ भोज और त्योहार के अवसरों पर आज भी महाराष्ट्र में प्रचलित हैं।

—"गोमयेन विलिप्योर्वी रंगवल्लीं विधाय तु"

—नानावशकुनशान्तिविधानम्, (वेदी-वर्णन), पटल १०८, पृष्ठ ३७७।

"कारयित्वा गोमयेन लेपयित्वा सवारिणा ।
पंचवर्णैरजोभिस्तं अलंकृत्य तु मण्डपम् ॥"

—नृपपट्टाभिषेकांगमंडप, पटल ९२, पृष्ठ ३१६।

(गोमय-मिले जल से लिपी भूमि पर पाँच रंगों के चूर्णों (के चित्रों) से अलंकृत अभिषेक मंडप।)

"एवं कुण्डं वेदिकां च कारयित्वा सुशिल्पिभिः ।
लेपयित्वा गोमयेन रजोभिः पञ्चवर्णकैः ।
अलंकृत्य पुरोधास्तदाभिषेचनिकन्दिनम् ॥

—नृपाभिषेक-कर्तव्यमंडप-वेदिका, पटल ८५, पृष्ठ २९२।

(गोमय से लिपी भूमि के चित्रण के लिये पाँच रंगों के रज प्रयुक्त होने चाहिए।)

—"*कुमारीपूजासंत्रस्वरूपकथनम्*" नामक पटल में (नवरात्रि पर्व पर) विभिन्न वर्णों की कुमारियों के आसन तथा तिलक का विस्तृत वर्णन इस प्रकार है—

तिलक—

(१) ब्राह्मणी—चंदन का चतुरस्र तिलक।
(२) क्षत्रिया—कुंकुम का अर्ध-चंद्र तिलक।
(३) वैश्या—चंदन और अगरु का ऊर्ध्व तिलक।
(४) शूद्रा—कस्तूरी और चंदन का वर्तुल तिलक।
(५) अंत्यजा—रक्तचंदन का वेदिमध्य तिलक ।

आसन— भूमि पर विभिन्न कुमारियों के लिये विभिन्न आसन-निर्माण के हेतु चूर्णित तंडुल का उपयोग होना चाहिए। ये आसन अनेक प्रकार के होते हैं—

(१) अष्टपत्र—आठ दलों के।
(२) षडश्र—छह कोणवाले।
(३) त्रिकोण—तीन कोणवाले।
(४) चतुर्दल—चार दलों के।
(५) चतुरस्र—चौकोर।
(६) स्वस्तिकांक—स्वस्तिक के रूप का।

मंडलानि—रेखाचित्र

"अष्टपत्रं षडश्रं च त्रिकोणं च चतुर्दलम्।
चतुरश्रं स्वस्तिकांकं क्रमशो मण्डलानि वै ॥
कल्पयेदासनार्थं वै शालितण्डुलचूर्णतः ॥"

—पटल ६६, पृष्ठ २१५।

"मासि भाद्रपदे शुक्लचतुर्दश्यां गृहांगणे।
कारयित्वा पुष्पमयं मण्डपं सुमनोहरम् ॥
तदनन्तरे सरोजाक्षि गोमयेन सवारिणा।
संलिप्य सर्वतो भद्रं **रंगवल्या विलिख्य तु** ॥"
—अनंतव्रतस्वरूपकथनम्, पटल ५१, पृष्ठ १५७।

"वेद्यां पश्चिमदिग्भागे गोमयेन सवारिणा।
संलिप्य समलंकृत्य **रंगवल्या** समन्ततः ॥
—महाशांतिअंगग्रहयज्ञस्वरूपकथनम्, पटल १७, पृष्ठ ६०।

"राज्ञा संकल्पितमहाशांत्यंगं वास्तुपूजनम्।
करिष्य इति संकल्प्य वेद्यां दक्षिणभागतः ॥
गोमयेनानुलिप्योर्वीं **रंगवल्लीं** विधाय च ॥"
—"महाशांत्यंग**वास्तुहोम**स्वरूपकथनम्, पटल १६, पृष्ठ ५५।

"तत्कुण्डं वेदिकां चैव गोमयेनानुलिप्य वै।
रंगमाल्यादिभिः सम्यगलंकृत्याथ मंत्रवित् ॥"
—साम्राज्यलक्ष्मी**मंत्रहोम**स्वरूपकथनम्, पटल ७, पृष्ठ २५।

रंगवल्ली के विषय में जिन संदर्भों का उल्लेख ऊपर हुआ है उनके द्वारा इस प्रथा के संबंध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें उद्घाटित होती हैं। जैसे—

(१) जिस भूमि पर रंगवल्ली का चित्रण होता है उस पर पहले गोमयानुलेप[1] अवश्य होता है।

१—देखिए शांडिल्यगोत्रीय श्री त्र्यंबक माटेकृत आचारेंदु, पृष्ठ ७, (आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, सन् १९०९ ई०)। यहाँ इस लेखक (सन् १८३८ ई०) ने गोमयानुलेपन के महत्त्व के विषय में **मार्कंडेय पुराण** से निम्नलिखित उद्धरण दिया है—

"मार्कण्डेयपुराणे—"प्रातःकाले स्त्रिया कार्यं **गोमयेनानुलेपनम्**।
अकृत**स्वस्तिकां** यातु कामेच्छितां च मेदिनीम्"।
तस्या स्त्रीणि विनश्यन्ति वित्तमायुर्यशस्तथा।"

इस उद्धरण में कहा गया है कि नित्य प्रातःकाल गोमय से भूमि के लीपे जाने के पश्चात् उस पर **स्वस्तिक** चिह्न बनाना नितांत आवश्यक है। सभी पुनीत अवसरों पर रंगवल्ली चित्रों में भी सामान्यतः यह चिह्न बनाया जाता है। आचारेंदु (पृष्ठ १०४) स्थंडिल (यज्ञस्थल) के उपलेपन का विधान करता है—

"एवं स्थण्डिलं कृत्वोपलेपनादि कुर्यात्। तदुक्तं गृह्ये—उपलिप्योल्लिख्य षड्लेखा उदगायतां...। उपलेपने कारणमुक्तं स्मृतिरत्नाकरे पुराणे—

"सर्वत्र वसुधा मेध्या सशैलवनकानना।
अथ विष्णुपदाक्रान्तोपलेपनमिदं कृतः ॥

(२) वेदी से रंगवल्ली का संबंध, अर्थात्, वेदी के चारों ओर की भूमि को सजाने के लिये इसका उपयोग।

(३) नृपाभिषेक के अवसर पर पंचवर्ण रज से भूमि को सजाने के लिये रंगवल्ली का उपयोग।

श्री त्र्यंबक माटेकृत *आचारेंदु* (सन् १८३८ ई०, आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, सन् १९०९ ई०) *स्वस्तिक* तथा अन्य चिह्नों[1] के अंकन के लिये शिलाचूर्ण के प्रयोग की ओर ध्यान आकृष्ट करता है—

"पारिजाते.............................
शिलाचूर्णेन यो मर्त्यो देवतायतने नृप।
करोति स्वस्तिकादीनि तेषां पुण्यं निशामय ॥
यावत्यः कणिका भूमौ क्षिप्ता रविकुलोद्भव।
तावद्युगसहस्राणि हरिसालोक्यमश्नुते ॥"

—पृष्ठ १७५।

पारिजात में संमार्जन और गोमय तथा अन्य वस्तुओं से उपलेपन का भी उल्लेख इस प्रकार है—

"देवतायतने राजन् कृत्वा संमार्जनं नरः।
यत्फलं समवाप्नोति तन्मे निगदतः शृणु ॥
यावत्यः पांसुकणिकाः सम्यक्संमार्जिता नृप।
तावद्युगसहस्राणि विष्णुलोके महीयते ॥
मृदा धातुविकारैर्वा वर्णकैर्गोमयेन वा।
उपलेपनकृद्यस्तु नरो वैमानिको भवेत् ॥"

(उपरिलिखित शिलाचूर्ण का तात्पर्य मनः शिलाचूर्ण *अर्थात् लाल रंग का रासायनिक चूर्ण* हो सकता है। इसका तात्पर्य 'प्रस्तर चूर्ण' (स्टोन-पाउडर) भी हो सकता है। आजकल '*रांगोली*' चूर्ण सफेद पत्थरों के टुकड़ों से तैयार किया जाता है।)

पुरा शक्रो हि वज्रेण वृत्रं जघ्ने महासुरम्।
तन्मेदसा हि निर्लिप्ता तदर्थमुपलेपनम् ॥"
"आयतनेऽप्युपलेपनादिविधिमाह परशुरामः......"

—पृष्ठ १०५।

१—अपरार्क (सन् ११०० ई०) याज्ञवल्क्य स्मृति (आनंदाश्रम; पूना, भाग १, सन् १९०३ ई०, पृष्ठ १४७, गृहस्थधर्मप्रकरण) की व्याख्या करते हुए बौधायन की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत करता है जिनमें भूमि के उपलेपन तथा उस पर चित्रांकन का उल्लेख है—

"बौधायन—उपलिप्ते समे स्थाने शुचौ श्लक्ष्णसमन्विते।
चतुरश्रं त्रिकोणं तु वर्तुलं चार्धचन्द्रकम् ॥
कर्तव्यमानुपूर्व्येण ब्राह्मणादिषु मण्डलम्।"

जटासिंह नंदीकृत *'वरांग-चरित'* (ईसा की सातवीं शती की रचना, श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये द्वारा संपादित, बंबई, सन् १९३८ ई०) में *रात्रिबली* के अवसर पर विभिन्न चित्रों से भूमि को सजाने के लिये अनेक प्रकार के चूर्णों, कुसुमों और तंडुल के प्रयोग का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

"चूर्णैश्च पुष्पैरपि तंडुलैश्च दशार्धवर्णैं बलिकर्मयोग्यैः ।
नानाकृतींस्तत्र बलीन्विधिज्ञा भूमिप्रदेशे रचयांबभूवुः ॥"

—सर्ग २३, श्लोक १५, पृष्ठ २२१ ।

(दशार्धवर्णैः = पाँच रंगोंवाला) । उपर्युक्त श्लोक में लिखित 'दशार्धवर्णैः' की तुलना *'आकाशभैरवकल्प'* (*पटल ६२*) में वर्णित नृपाभिषेक स्थल को सजाने के लिये प्रयुक्त 'पंचवर्णरजोभिः' से की जा सकती है ।

वादीभसिंहकृत *गद्यचिंतामणि* (श्री टी० एस० के० शास्त्री तथा श्री एस० एस० शास्त्री संपादित, मद्रास, सन् १९०२ ई०) में 'भोजन-स्थान-मंडप' में 'मंगलचूर्ण रेखा' (किसी लाल चूर्ण से बना चित्र) का उल्लेख मिलता है—

"हर्म्यमविशत् । तत्र च प्रसार्यमाणसौवर्णामत्रविडम्बितमित्रमण्डले, त्वरमाणपरिजनवनिता-करप्रमृज्यमानमणिचषकशुक्तिसंचये, संमूर्च्छदतुच्छपाटलपरिमलसुरभिपानीयभरिततपनीयभृंगारके, **लिख्यमानमंगलचूर्णरेखानिवेद्यमानभोजनभुवि**, समुद्घाटितपंजरकवाटविनिर्गतक्रीडाशुकसारिका-हूयमानपौरोगवे, प्रवेश्यमानबुभुक्षितजने प्रदीयमानपंक्तिभोजनामत्रकदलीपत्रे, प्रत्यग्रपाकजनित-सौरभ्यलुभ्यद्घ्राणे समन्ततश्चलिततालवृन्तग्राहिणीचरणनूपुररणितभरितदिशि **भोजनस्थानमंडपे** ......बालचन्द्रमसमायुष्मन्तमपश्यत् ।"

—पृष्ठ ३८ ।

उपर्युक्त गद्यखंड में राजकीय मंडप का बहुत ही रंगीन चित्र मिलता है । इसकी तुलना आजकल के भारतीय राजाओं के किसी भी भोजन-मंडप से की जा सकती है । यहाँ उल्लिखित स्वर्ण पात्रों के अतिरिक्त हमारे सामान्य आधुनिक विवाह और मुंज संस्कार के अवसरों पर व्यवहृत भोजन-मंडप सहस्र वर्ष से भी अधिक पूर्व के वादीभसिंह द्वारा वर्णित अत्यंत चित्रात्मक भोजन-मंडप से ज्यों के त्यों मिलते हैं । संपादकों के मत्यनुसार यह रचयिता ईसवी सन् ६५० के बाद का है; क्योंकि इसने *कादंबरी* आदि के रचयिता *बाणभट्ट* की काव्य-शैली का अनुकरण किया है । यह भोज (सन् १०५० ई०) के भी बाद का हो सकता है । (देखिए *गद्यचिंतामणि* की भूमिका, पृष्ठ ४-५) । वादीभसिंह ने स्पष्टतः उल्लेख किया है कि भोजन-मंडप के चित्रों में रांगोली चित्र भी होते हैं । ('मंगलचूर्ण रेखानिवेद्यमानभोजनभुवि')[1] ।

१—यहाँ मैं रांगोली के उपयोग का उल्लेख कर सकता हूँ, जैसा कि बांबे गजेटियर सन् १८८४ ई० के भाग २२ (धारवाड़), परिशिष्ट डी, पृष्ठ ८२१–२२ पर उल्लिखित है—

"दि बेस्ट रांगोली इज मेड बाइ पाउंडिंग व्हाइट कार्ट्ज इनटु पाउडर । इट्स कलर इज व्हाइट ऐंड इट मे बी यूज्ड ईवर व्हाइल दि ब्राह्मणस् आर इन ए प्योर स्टेट आफ्टर बेदिंग, और व्हेन दे हैव नॉट बेद्ड । इन दि ऐब्सेंस ऑव् कार्ट्ज पाउडर, राइस-फ्लौर मे बी यूज्ड ।

रंगवल्ली-संबंधी तिथि-पुष्ट उल्लेखों के साथ और आगे बढ़ने के पूर्व यह भी विचार कर लिया जाय कि भारतीय कला के क्षेत्र में रंगवल्ली चित्रों के स्थान के विषय में उपलब्ध लेखों का क्या मत है। इस संबंध में मैं अपने मित्र डा० वी० राघवन् के लेख 'चित्रकला-संबंधी कुछ संस्कृत उल्लेख,' (सम संस्कृत टेक्स्ट्स आन पेंटिंग, इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग ९, सन् १९३३ ई०, पृष्ठ ८९९-९११) से विस्तृत उद्धरण देने से अधिक कुछ नहीं कर सकता—

इन ऐडिशन टु दि व्हाइट लाइंस डॉट्स और फिगर्स ऑव् येलो, रेड, ब्लैक, ग्रीन, ऐंड ब्लू पाउडर आर आल्सो आकेजनली यूज्ड। दि येलो पाउडर इज मेड फ्रॉम टर्मेरिक, दि रेड इज दि आर्डिनरी गुलाल ऑव् राइस और रागी फ्लौर डाइड विथ रेड सैंडर्स, दि ग्रीन इज फ्रॉम दि ग्राउंड ड्राइड लीव्ज ऑव् दि इशीनोमीनी ग्रैंडिफ्लोरा, दि ब्लैक चारकोल, ऐंड दि ब्लू इज इंडिगो। एवरी डे लाइंस, डॉट्स ऐंड फिगर्स आर ड्रान ऑन दि फ्लोर्स ऑव् ऑल ब्राह्मण हाउसेज, थ्री, फोर और फाइव स्ट्रेट लाइंस, पैरेलेल टु दि वाल्स ऑव् रूम्स ऐंड व्हरांडाज्। क्रास लाइंस, सर्किल्स विथ डॉटस इन दि सेंटर ऐंड इलाबोरेट फिगर्स आर आल्सो ड्रान; ऑन ग्रेट आकेजन्स इलाबोरेट ट्रेसरी ऐंड फिगर्स ऑव् मेन, एनिमल्स ऐंड ट्रीज आर आल्सो ड्रान।

ऑन नागर-चौथ और दि कोब्रा'ज-फोर्थ, दैट इज दि ब्राइट फोर्थ ऑव् श्रावण और ऑगस्ट-सेप्टेंबर, ब्राह्मणज, इन ऐडिशन टु मेकिंग दि यूजुअल फिगर्स, ड्रा ऐंड वर्शिप सिंगल्, डबल ऐंड ट्विस्टेड फार्म्स ऑव् स्नेक्स स्प्रिंकिल्ड इन कार्ट्'ज पाउडर। ड्यूरिंग दि लीडिंग डेज ऑव् दि दिवाली फीस्ट, दि डार्क फोर्टीन्थ ऐंड फिफ्टींथ ऑव् आश्विन और ऑक्टूबर-नावेंबर ऐंड ड्यूरिंग दि ब्राइट हाफ ऑव् कार्तिक और नावेंबर डिसेंबर, ऑल हिंदूज सेट व्हाट दे कॉल दि पंडुज, फाइव काउ-डंग कोंस, टू और थ्री इंचेज हाइ ऐंड अबाउट दि सेम राउंड दि फुट, आउटसाइड टु दि राइट ऐंड लेफ्ट ऑव् दि थ्रेश-होल्ड ऐंड ऑन दि टॉप ऑव् दि आउटर हाउस डोर। राउंड ईच काउ-डंग कोन दे ड्रा डबल और ट्रिबल व्हाइट ऐंड रेड लाइंस, सेट ए फ्लावर ऑव् दि कुंबल (के), कुकुरबिटाहिस्पिडा गार्ड ऑन ईच ऑव् दि काउडंग कोंस ऐंड थ्रो ओवर ऑल टर्मेरिक ऐंड रेड-पाउडर। ऑन दि मैरेज-डे ऑव् विष्णु ऐंड दि तुलसी प्लैंट, दैट इज दि इवनिंग ऑव् दि ब्राइट ट्वेल्फ्थ ऑव कार्तिक और नेवंबर-डिसेंबर, ऐंड व्हेन लक्ष्मी, दि गॉडेस ऑव् वेल्थ कम्स इन श्रावण और ऑगस्ट-सेप्टेंबर, बिसाइड्स दि यूजुअल कार्ट्ज फिगर्स, गोपद और काउ'ज-फुट-प्रिंट्स आर स्प्रिंकल्ड विथ रांगोली पाउडर ऑल एलांग दि ग्राउंड फ्रॉम दि आउटर थ्रेश-होल्ड ऑव् दि हाउस टु दि श्राइन व्हिच हैज बीन मेड रेडी फॉर दि गॉड।

व्हेन फीस्ट्स आर गिवेन इन दि ओपेन एअर, इन फ्रंट ऑव् ऐंड ऑन ईच साइड ऑव् दि बोर्ड ऑन व्हिच ईच गेस्ट सिट्स, लाइंस ऐंड आर्चेज आर ड्रान इन कार्ट्ज ऐंड रेड पाउडर। ऑन बर्थ, मैरेज ऐंड अदर फेस्टिव ऑकेजंस, ऐंड व्हेन इंटरटेनमेंट्स आर गिवेन इलाबोरेट कार्ट्ज-पाउडर फिगर्स आर ट्रेस्ड। ऑन ऑकेजंस ऑव् डेथ्स, फ्युनेरल सेरिमनीज, इयर्ली माइंड-राइट्स और माइंड-डिनर्स, नो कार्ट्ज लाइंस, डॉट्स और फिगर्स आर ड्रान, एक्सेप्ट दैट ऐट डिनर्स इन ऑनर ऑव् सेंट्स ए लिट्ल कार्ट्ज पाउडर इज ऑकेजनली

"अभिलषितार्थ-चिंतामणि (राजा सोमेश्वरकृत, सन् ११३० ई०) में चित्रों के पाँच प्रकार बताए गए हैं—विद्ध, अविद्ध, भावचित्र, रसचित्र और धूलिचित्र। इनमें से 'भावचित्र' अनुपम होता है और इसका महत्त्व भी सर्वाधिक है। ऊपर इसकी विवेचना करते हुए बताया गया है कि '*भावचित्र*' में भाव का चित्रण होता है। '*रसचित्र*' तथा '*धूलिचित्र*' समान कोटि के होते हैं। '*धूलिचित्र*' तमिल '*कोलम*' है जो सफेद पिसान द्वारा भूमि पर घरों के सामने बनाया जाता है। *मार्गशीर्ष* मास में ग्रामीण तमिल बालिकाएँ अपने घरों के सामने बृहत्तम और अत्यंत पेंचीदे 'कोलमों' की रचना के लिये परस्पर होड़ करती हैं और बाद में उन 'कोलमों' के विभिन्न कोणों को कूष्मांड-पुष्पों से अलंकृत करती हैं। उत्सवसंबंधी अन्य अवसरों पर घरों, मंदिरों तथा '*नीराजन*' के लिये तंवलमों पर (गृहों में प्रयुक्त होनेवाले पीतल के पात्र) अनेकानेक रंगीन चूर्णों से ये कोलम रचे जाते हैं। ये चित्र स्वभावतः अल्पकालिक होते हैं। इसीलिये '*शिल्परत्न*'कार श्रीकुमार ने इन्हें '*क्षणिक*' की संज्ञा दी है। चूँकि ये विशेष रूप से भूमि पर ही अंकित किए जाते हैं, अतः नारद ने इस प्रकार के चित्रों को 'भौम' कहा है। श्रीकुमार इनका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

> "एतान्यनलवर्णानि चूर्णयित्वा पृथक् पृथक्।
> (ए) तैश्चूर्णैः स्थण्डिले रम्ये क्षणिकानि विलेपयेत्॥
> धूलीचित्रमिदं ख्यातं चित्रकारैः पुरातनैः।"

—शिल्परत्न, अध्याय ३६, श्लोक १४४, १४५।

यूज्ड। नो स्पेशल कार्ट्ज-फिगर्स आर ड्रान अ नो-मून और फुल-मून डेज। दि काउ-डंगिंग ऑव् दि ग्राउंड ऐंड दि ड्राइंग ऑव् फीयरफुल कार्ट्ज-पाउडर इज ऐन इंपार्टेंट पार्ट इन मोस्ट एक्सॉर्सिज्म्स।

दि ग्रेट टेसर्स ऑव् कार्ट्ज-पाउडर फिगर्स फॉर्मिंग देम सिंप्ली बाइ लेटिंग दि पाउडर ड्रॉप फ्रॉम बिट्वीन दि थंब ऐंड फिंगर्स आर ब्राह्मण विमेन। नो ब्राह्मण ऊमन ड्युरिंग हर मंथ्ली सिक्नेस, फॉर थ्री मंथ्स आफ्टर चाइल्ड-बर्थ, और व्हेन इन मोर्निंग मे ड्रा कार्ट्ज लाइंस। जैन्स यूज रांगोली लाइक ब्राह्मण्स ऐंड मराठाज यूज इट ऑन स्पेशल ऑकेजंस। सम, बट नॉट ऑल लिंगायत्स ड्रा ए फ्यू लाइंस एवरीडे इन देअर हाउसेज। ऑन मून-लाइट नाइट्स ऐंड ऑन ग्रेट ऑकेजंस लिंगायत्स ड्रा लांग बल लाइंस ऑव् डॉट्स, ऑल्टरनेटली ऑव् लाइम ऐंड वाटर ऐंड रेड अर्थ ऐंड डाइन ऐंड प्ले क्लोज बाइ दीज लाइंस। लिंगायत्स ऑल्सो ड्रा वन और टू लाइंस ऑव कार्ट्ज-पाउडर एलांग दि एज ऑव् दि ग्रेव बिफोर बेरिइंग दि बॉडी। पारसीज, लाइक हिंदूज, डेकोरेट देअर हाउस फ्रंट्स बाइ स्टैंपिंग देम विथ कार्ट्ज-पाउडर प्लेट्स। मुसल्मान्स ऐंड नेटिव कन्वर्ट्स टु क्रिश्चियानिटी आर दि ओन्ली पर्सन्स हू डू नॉट यूज कार्ट्ज डेकोरेशन्स। फॉर्मर्ली दि ट्रेसरीज वेअर ऑल मेड बाइ लेटिंग दि पाउडर स्लिप बिट्वीन दि थंब ऐंड फिंगर्स। ऑव् लेट इयर्स ट्यूब्स ऐंड प्लेट्स विथ अपटर्न्ड एजेज पीयर्स्ड विथ डिजाइंस हैव बीन फिल्ड विथ पाउडर ऐंड आइदर रोल्ड और स्टैंप्ड ओवर दि प्लेस टु बी डेकोरेटेड।"

रसचित्र '*कोलम*' का दूसरा प्रकार है। रसचित्र में आए *रस* शब्द से भ्रमित होकर कोई उसे भावचित्र से न जोड़े। यहाँ '*रस*' शब्द का अर्थ '*द्रव*' या रंगीन घोल है। *अभिलषितार्थ-चिंतामणि* में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

"सद्रवैर्वर्णकैः लेख्यं रसचित्रं विचक्षणैः।"

इस प्रकार के *कोलम* कुछ तमिल घरों में अब भी अंकित किए जाते हैं। इसके लिये सफेद पिसान का घोल और *लाल कावि* (गेरू) का घोल प्रयुक्त होता है और ये तमिल में *मावुक्कोलम* और *काविक्कोलम* कहे जाते हैं। इनमें से प्रथम में लहरदार रेखाएँ बनाई जाती जाती हैं। इस प्रकार रसचित्र भी एक प्रकार का *कोलम* ही है। जिस प्रकार धूलिचित्रों में चूर्ण का प्रयोग होता है उसी प्रकार रसचित्रों में द्रव का। (काव्य-ग्रंथों के अनुसार कुमारियों के कपोलों तथा वक्षस्थलों पर अंकित किए जानेवाले मकर तथा अन्य रंगीन चित्र भी इसी रसचित्र की ही श्रेणी में आते हैं।)

अतः श्रीकुमार का मत है कि धूलिचित्र,[1] चित्र (वास्तुचित्र) आदि की भाँति ही रसचित्र भी भित्तियों पर अंकित नहीं होते—

"सुधाधवलिते भित्तौ नैव कुर्यादिदं सुधीः।
रसचित्रं तथा धूलीचित्रं चित्रमिति त्रिधा॥"

—शिल्परत्न, श्लोक १४३।

इस प्रकार चित्राभास और अर्धचित्र— दो ही भित्तियों पर अंकित होते हैं। डा० ए० के० कुमारस्वामी ने इन तथ्यों पर विचार नहीं किया है। फलस्वरूप वे *विष्णुधर्मोत्तर* के वैणिक का संबंध श्रीकुमार[2] के रसचित्र से स्थापित करते हैं और दोनों को एक ही बताते हैं। (देखिए आशुतोष मुकर्जी कोमेमोरेशन वॉल्यूम, भाग १, पृष्ठ ५०)। निस्संदेह, रस का तात्पर्य भाव भी है और भाव वीणा से संबद्ध है जिससे उन्होंने वैणिक प्रकार व्युत्पन्न किया है। किंतु जब सोमेश्वरकृत रसचित्र की स्पष्ट परिभाषा सामने आती है, जो श्रीकुमार के भी ज्ञान का आधार है, तब इस तथ्य का निश्चय हो जाता है कि रसचित्र भी धूलिचित्र से संबद्ध *कोलम* का ही एक प्रकार है। यहाँ रस का अर्थ द्रव है।"

—पृष्ठ ९०५-९०६।

१—देखिए इंट्रोडक्शन टु विष्णुधर्मोत्तर (भाग ३), डा. स्टेला क्रामरिशकृत अनुवाद, पृष्ठ ८, कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२८ ई०—"फ्रॉम दि शिल्परत्न.....वी नो दैट धूलिचित्र, पाउडर-पेंटिंग फैमिलिअर टु बेंगाल लेडीज ऐज अल्पोन, वाज अप्लाइड ऐज टेंपोरैरी कोटिंग ऑव् पाउडर्ड कलर्स ऑन ए ब्यूटिफुल पीस ऑव् ग्राउंड।"

२—शिल्परत्न (त्रिवेंद्रम् संस्कृत सीरीज में प्रकाशित, सन् १९२२ ई०) के कर्ता।

"नारदशिल्प (अड्यार हस्तलेख) के *इकहत्तरवें अध्याय* में चित्रालंकृतिरचना-विधिकथन है। उशीनर के अनुसार चित्र सुरों तथा वास्तुनाथों (घरों के प्रतिनिधि देवताओं) के ही प्रीत्यर्थ नहीं होते, *सौंदर्य के लिये भी* होते हैं। नारद ने चित्रों का नए ढंग का वर्गीकरण किया है, जो अन्य ग्रंथों में नहीं मिलता और यह वर्गीकरण *चित्रांकन के स्थलों के विचार से ही* किया गया है। उनका कथन है कि चित्र तीन प्रकार के होते हैं-(१) *भौम* (भूमि पर बनाए जानेवाले) और (२) *कुड्यक* (भित्ति पर बनाए जानेवाले) और (३) *ऊर्ध्वक* (छत पर बनाए जानेवाले)। ये दूसरी दृष्टि से पुनः दो वर्गों में विभक्त हैं—*शाश्वतक* (स्थायी) और *तात्कालिक* (अस्थायी)। अंतिम का संबंध भौम से है। सोमेश्वर के *धूलिचित्र* तथा *रसचित्र* कोलम का संबंध इसी वर्ग से है। *नारद का कथन है कि इस प्रकार के चित्र घर के सामने द्वार की सीढ़ियों तथा घर के भीतर भूमि पर सर्वत्र अंकित किए जाते हैं।* पक्षी, *सर्प, हाथी, घोड़े आदि भी चित्रित किए जा सकते हैं।* इस ढंग के चित्र हमारे घरों में अब भी बनाए जाते हैं[1]।" —पृष्ठ ९१०।

त्रिविक्रम भट्ट ने (सन् ९१५ ई०)[2] 'रंगवलि' का उल्लेख अपने *नलचंपू* अथवा दमयंती-कथा (जयपुर के श्री शिवदत्त द्वारा संपादित, बंबई, सन् १८८५ ई०, पृष्ठ १४०) के चतुर्थ उच्छ्वास में इस प्रकार किया है—

इत्याशास्य विश्रान्तायां वियद्वाचि स्थित्वा च किंचित्कृतोचितापचितिषु गतेषु क्षणादन्तर्धानं मुनिषु "समुच्छ्रीयन्तां वैजयन्त्यः, बध्यन्तां तोरणानि, सिच्यन्तां चन्दनाम्भोभिः पन्थानः, **मण्डयन्तां मसृणमुक्ताफलक्षोदरंगावलीभिः प्रांगणानि**, क्रियन्तां कुसुमप्रकरभाञ्जिचत्वराणि, पूज्यन्तां द्विजन्मानो देवताश्च, दीयन्तां दानानि, गीयन्तां मंगलानि, विसृज्यन्तां वैरिबन्द्यः, मुच्यन्तां पक्षिणोऽपि पञ्जरेभ्यः" इति श्रूयमाणेषु परितः परिजनालापेषु।"

दिगंबर जैन रचनाकार सोमदेव ने अपनी प्रसिद्ध रचना *यशस्तिलकचंपू* (सन् ९५९ ई०)[3] में 'रंगवल्ली' का उल्लेख किया है। डा० वी० राघवन् ने "ग्लीनिंग्स फ्रॉम

१—राजदफ्तरदार प्रोफेसर श्री सी० बी० जोशी ६ दिसंबर सन् १९४७ ई० को मुझे लिखते हैं—"आइ हैव नॉट मेट विथ एनी डिस्क्रिप्शन्स् ऑव् **रांगोली** इन दि पालि टेक्स्ट्स।

रांगोली इज कॉल्ड सांजी इन गुजरात। **सांजीवाले** इज दि नेम ऑव् ए डेक्नी फैमिली हिअर (ऐट बरोदा), हूज ड्यूटी इज टु अरेंज **रांगोली** इन दि पैलेस।"

उपर्युक्त सूचना के लिये मैं प्रो० जोशी महोदय का बहुत कृतज्ञ हूँ। आशा है गुजराती साहित्य के कोई विद्वान् उसके नवीन-प्राचीन साहित्य से, विशेषतः तिथि-पुष्ट लेखों से, **सांजी**-संबंधी सभी संभाव्य सूचनाएँ प्रकाशित करेंगे।

२—देखिए ए० बी० कीथकृत हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिटरेचर, सन् १९२८ ई०, पृष्ठ ३३२—त्रिविक्रम इज दि ऑथर ऑव् नवसरी इंस्क्रिप्शन ऑव् राष्ट्रकूट किंग इंद्र थर्ड ऑव् ए. डी. ९१५।

३—वही, पृष्ठ ३३३।

सोमदेवसूरिं'ज यशस्तिलकचंपू" (*जर्नल ऑव् गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टिट्यूट*, इलाहाबाद, वाल्यूम १, भाग २, फरवरी सन् १९४४ ई०, पृष्ठ २५५) नामक निबंध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं—

"पृष्ठ १३३—पर्यन्तपादपैः संपादितकुसुमोपहारः प्रदत्तरंगावलि (रंगवल्लिः) इव गुहापरिसरेषु ।

यह उल्लेख क्षणिक भौम चित्रों से संबंद्ध है जो सफेद और रंगीन चूर्णों से हमारी स्त्रियों द्वारा रचा जाता है। इनसे भूमि सजाई जाती है और इन्हें *रंगवल्ली*, *रांगोली*, *अल्पना* अथवा *कोलम* (तमिल) के नाम से पुकारते हैं। चित्रकला-संबंधी संस्कृत ग्रंथों के अनुसार यह *क्षणिक चित्र* कहा जाता है और इसे *धूलिचित्र* और *रसचित्र* के अंतर्गत माना जाता है।

इस भौम रंगवल्ली-संबंधी तीन अन्य उल्लेख पृष्ठ ३५०, ३६९ और भाग २, पृष्ठ २४७ पर भी हैं—

(क) "अकालक्षेपं दक्षस्व रंगवल्लिप्रदानेषु" । —पृष्ठ ३५० ।

(ख) "अनल्पकर्पूरपरागपरिकल्पितरंगावलिविधानम् ।"

यह राजसभ-भवन का वर्णन है, जहाँ चित्र-निर्माण के लिये श्वेत कर्पूर की धूलि का व्यवहार किया गया है। —पृष्ठ ३६९ ।

(ग) "चरणनखस्फुटितेन रंगवल्लीमणीन् इव असहमानया ।"

यह उल्लेख रनिवास के कमरों की भूमि पर रंगीन पत्थरों द्वारा स्थायी रूप से निर्मित रंगवल्ली चित्रों का है।

चौथे उल्लेख के लिये देखिए भाग ३, पृष्ठ २४७—"रंगवल्लीषु परभागकल्पनम्—अर्थात् चित्र-रचना के लिये भूमि का प्रस्तुत करना।"[1]

हेमचंद्र (सन् १०८८-११७२ ई०) ने *देशीनाममाला*, १,७८[2] में 'आइप्पणं' शब्द का उल्लेख ('रांगोली-रचना' के अर्थ में) इस प्रकार किया है—

१—यह उद्धरण मूल अँगरेजी का हिंदी अनुवाद है। —संपादक।

२—इस संदर्भ के लिये मैं कलकत्तास्थित अपने मित्र श्री बी० सी० देव का ऋणी हूँ। आपने १ दिसंबर सन् १९४७ ई० के पत्र में मुझे लिखा है—

"ऐज रिगार्ड्स **रांगोली**—येस, दैट इज ऑल्सो दि प्रैक्टिस इन बेंगाल, ऐंड इनडीड, आइ बिलीव एवरी व्हेअर अमंग हिंदूज इन इंडिया। इन बेंगाल, इट इज यूज्ड नॉट ओनली इन फ्लोर-डेकोरेशन, बट ऑल्सो इन डेकोरेटिंग उडेन सीट्स फॉर ब्राइड ऐंड ब्राइडग्रूम ऐंड फॉर ऑनर्ड गेस्ट्स ऐट सेरिमनीज ऐंड स्टांसेज फॉर इमेजेज इन पूजाज। इन बेंगाल इट इज कॉल्ड आलिपना और आल्पना व्हिच कैरीज अस बैक टु हेमचन्द्र'ज **देशीनाममाला** १,७८ व्हेअर दि वर्ड अकर्स ऐज आइप्पणं···आइ थिंक दि वर्ड इज नॉट रिअली **देशी** बट ए तद्भव फ्रॉम आलिंपन।"

"आइप्पणं च पिट्ठे छणघर मंडण लुहा छडाए अ।"

हेमचंद्र इसकी व्याख्या करते हैं—

"आइप्पणं पिष्टं उत्सवे गृहमण्डनार्थं सुधाछटा च।तदुन्लपिष्टक्षीरं गृहमण्डनम् आइप्पणं इति अन्ये।"

—पृष्ठ ३८, भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, सन् १९३८ ई० का संस्करण।

शब्दसूची—(पृष्ठ ७) में संपादक ने 'आइप्पण' की व्याख्या इस प्रकार की है—

"आइप्पण, १,७८, पिष्टम्, ए ग्राउंड सब्स्टैंस, उत्सवे गृहमण्डनार्थं सुधाछटा; व्हाइट वाश। तन्दुलपिष्टक्षीरं गृहमण्डनमित्यन्ये।"

उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि हेमचंद्र के समय में 'आइप्पण' शब्द किसी पिष्ट वस्तु के लिये प्रयुक्त होता था। इसका अर्थ "त्योहारों के अवसर पर घरों को सुंदर बनाने के लिये 'सफेदी करना' भर था। इस शब्द का अर्थ 'घर को अलंकृत करने के लिये पिसे हुए तंदुल का घोल' भी था। अर्हद्दास[1] (सन् १२५० ई०) ने अपने 'मुनि-सुव्रत-काव्य' (पंडित के० भुजबली शास्त्री तथा पंडित हरनाथ द्विवेदी द्वारा संपादित, आरा, सन् १९२९ ई०) में 'रंगालय' (रंगोली) चित्र का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जिनेंद्र के जन्म के अवसर पर इसका निर्माण प्रत्येक गृह के आँगन में पाँच विभिन्न रत्नों द्वारा हुआ था। उक्त ग्रंथ के सर्ग ४, श्लोक २३ में लिखा है--

"प्रत्यंगणं कलितपंचरत्नरंगालयश्चकुरनेकभंगाः।
जिनेन्द्रजन्मावसरप्रणश्यत्पयोधरस्रस्तधनुर्विशंकाम्॥"[2] —पृष्ठ ८०।

टीका में इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

"बहुविधाः(अनेकभंगाः) रंगाणां आलयः (रंगालयः) पंचरत्नैः[3] कृताः अंगणमंगणं

[ऐपन—एक मांगलिक द्रव्य जो चावल और हल्दी को एक साथ गीला पीसने से बनता है। देवताओं की पूजा में इससे थापा लगाते हैं और घड़े पर चिह्न बनाते हैं।—हिंदी शब्द-सागर, पृष्ठ ३९३। ऐपन का प्रयोग विवाहादि के अवसरों पर बहुत प्रचलित है और भूमि पर भी इससे चिह्न बनाते हैं। —संपादक।]

१—अर्हद्दास ने **मुनिसुव्रत-काव्य** में तथा अपने अन्य दो ग्रंथों **पूर्णदेवचंपू** और **भव्यकंठाभरण** में भी आशाधर का उल्लेख किया है। आशाधर अर्हद्दास के गुरु थे। यतः आशाधर का समय संवत् १३०० (सन् १२४४ ई०) के आसपास है, अतः न्यायतः हम इस निष्कर्ष तक तो पहुँच ही सकते हैं कि अर्हद्दास **सन् १२५० ई० के** लगभग हुए। देखिए, भूमिका, पृष्ठ क।

२—जिनेंद्र के जन्म के अवसर पर पाँच रंगों से निर्मित **रांगोली** चित्र लुप्त होते मेघ द्वारा भूमि पर गिराए गए इंद्रधनु के समान लगे।

३—अर्हद्दास द्वारा वर्णित **रांगोली** के पाँच रंग किसी शुभ लक्षण का संकेत करते जान पड़ते हैं। मैं ईसा की सातवीं शती के वरांगचरित (२३,१५) में वर्णित बलिकर्म में प्रयुक्त

प्रतिकल्पिताः जिनेन्द्रजन्मावसरे विनश्यत् मेघः (पयोधरः) तस्मात् स्रस्तं धनुः तस्य संदेहं (विशंकां) चक्रुः ।"

रांगोली चित्रों के इतिहास का चित्रण करते हुए अब तक मैंने इसका सबसे प्राचीन प्रमाण *वरांगचरित* (ईसा की सातवीं शती) का ही दिया है। इसमें (२३, १५) विभिन्न प्रकार के भौम चित्रों की रचना के लिये (भूमिप्रदेशे नानाकृतीन् रचयां बभूवुः) पचरंगे चूर्णों (दशार्धवर्णैः चूर्णैः), फूलों (पुष्पैः) और तंदुल-कणों (तण्डुलैः) के प्रयोग का उल्लेख है। ईसा की सातवीं शती के इस उल्लेख का संबंध वात्स्यायन (ईसवी सन् ५०-४०० के बीच) के *कामसूत्र* में उल्लिखित ६४ कलाओं से स्थापित किया जा सकता है। *कामसूत्र* में इस कला को 'तण्डुलकुसुमबलिविकाराः' कहा गया है। (देखिए श्री केदारनाथ द्वारा संपादित *कामसूत्र*. साधारणमधिकरणम्, अध्याय ३, पृष्ठ ३२, निर्णयसागर प्रेस, सन् १९०० ई०)। टीकाकार यशोधर ने अपनी *जयमंगला* टीका में उक्त कला की व्याख्या इस प्रकार की है—

"तंडुल-कुसुम-वलिविकारा[1] इति। अखण्डतण्डुलैः नानावर्णैः सरस्वतीभवने कामदेव-भवने वा मणिकुट्टिमेषु भक्तिविकाराः। तथा कुसुमैः नानावर्णैः ग्रथितैः शिवलिंगादिपूजार्थं भक्ति-विकाराः। अत्र ग्रथनं माल्यग्रथन एवान्तर्भूतम्। भक्तिविशेषेण अवस्थानं कलान्तरम्।"

यशोधर के मत्यनुसार वात्स्यायन द्वारा वर्णित इस कला के अन्तर्गत सरस्वती ("सरस्वती नागरकाणां विद्याकलासु अपि देवता, पृष्ठ ५१।) मंदिर अथवा कामदेव-मंदिर में अनेक वर्णों के तंदुल कणों से निर्मित भूमि-रचना तथा शिवलिंग की पूजा के लिये अनेक वर्णों के फूलों से निर्मित चित्र आते हैं।

उपरि उद्धृत "तण्डुलकुसुमवलिविकाराः" की यशोधरकृत-व्याख्या को दृष्टि में रखते हुए मेरा मत है कि *रांगोली* चित्रों की प्रचलित आधुनिक रचना का मूल वात्स्यायन कथित ६४ कलाओं में से एक में स्थिर है—यद्यपि बाद में यह कला भारत के विभिन्न प्रांतों के कलाभिरुचिसंपन्न प्रतिभाशाली व्यक्तियों द्वारा अधिक विकसित और संकुल होती गई। इस कला को धर्म के साथ भी जोड़ दिया गया है। सरस्वती वा कामदेव के मंदिरों की भूमि पर अथवा शिवलिंग की पूजा के अवसर पर चित्र अंकित किए जाते थे, यह उपरि उद्धृत यशोधर के कथन से स्पष्ट है।

पचरंगे तंदुल कणों द्वारा निर्मित चित्रों के संदर्भों का उल्लेख पहले ही कर चुका हूँ। साथ ही मैंने **आकाशभैरवकल्प** (सन् १४००-१६०० ई०) में उल्लिखित राजाभिषेक के अवसर पर पंचवर्ण रजों (पंचवर्णरजोभिः) से निर्मित चित्रों के संदर्भों का भी उल्लेख किया है।

१—पृष्ठ ३२ की आठवीं पाद-टिप्पणी में संपादक ने लिखा है कि वृत्तिकार (भास्कर नृसिंह शास्त्री) ने 'वलिविकाराः' के स्थान पर 'वालिविकाराः' पाठ रखा है। वे इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—"तण्डुलाश्च कुसुमानि च तैः वालिविकाराः कर्णभूषाविशेषरचना।" श्री केदार-नाथ ने 'वलिविकाराः' पाठ रखा है जिसकी व्याख्या यशोधर ने 'भक्ति-विकारा' के रूप में की है। भक्ति = सजावट क' रेखा।

विभिन्न स्थलों से मेरे द्वारा संगृहीत *रांगोली* के इतिहास-संबंधी प्रमाणों की तिथिक्रमयुक्त तालिका इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

तिथिक्रम	संदर्भ
सन ५०-४०० ई०	*कामसूत्र* 'तण्डुल कुसुम-बलिविकाराः' को ६४ कलाओं में से एक मानता है।
सन् ६००–७०० ई०	*वरांग-चरित* रात्रि-बलि के अवसर पर पचरंगे चूर्णों, तंदुल कणों, फूलों द्वारा निर्मित विभिन्न प्रकार के चित्रों का उल्लेख करता है।
सन् ९१५ ई०	त्रिविक्रम भट्ट अपने *नलचंपू* में एक उत्सव (विवाह-संस्कार) के अवसर पर घर के सामने बने 'रंगावलि' का उल्लेख करते हैं।
सन् ९५९ ई०	सोमदेव अपने '*यशस्तिलकचंपू*' में कर्पूर-धूलि, रत्न आदि रंगवल्ली अथवा रंगावली का उल्लेख चार बार करते हैं।
सन् १०५०ई० के पश्चात्	वादिभ सिंह अपने '*गद्य-चिंतामणि*' के 'भोजनमंडप' में अंकित 'मंगलचूर्णरेखा' का वर्णन करते हैं।
सन् १०८८-११७२ ई०	हेमचंद्र अपनी *देशीनाममाला* में 'आइप्पण' का उल्लेख करते हैं और इसकी व्यवस्था "तन्दुलपिष्टक्षीरं गृह-मण्डनम्" के रूप में करते हैं।
सन् ११०० ई०	अपरार्क बौधायन को उद्धृत करते हैं जिन्होंने (बौधायन ने) भूमि के उपलेपन के पश्चात् वृत्त आदि ज्यामितिक चित्रों का अंकन करना स्वीकार किया है।
सन् ११३० ई०	सोमेश्वर अपने *मानसोल्लास* में धूलिचित्र और रस-चित्र का उल्लेख करते हैं जो धूलियों अथवा घोल द्वारा निर्मित रंगवल्ली चित्रों के समान हैं।
सन् ११३०ई० के पश्चात्	श्रीकुमार अपने *शिल्परत्न* में भी धूलिचित्र अथवा क्षणिक चित्र का उल्लेख करते हैं।
सन् १२५० ई०	अर्हद्दास कृत *मुनिसुव्रत-काव्य* में इंद्रधनु से प्रतीत होने-वाले पाँच रंग के रत्नों से निर्मित *रांगोली* चित्रों का वर्णन है। ये चित्र 'रंगालय' के नाम से अभिहित किए गए हैं।

तिथिक्रम	संदर्भ
सन् १२५० ई०	*लीला-चरित्र* में 'रंगमालिका' और 'सडासंमार्जन' का उल्लेख है।
सन १२७३ ई०	भास्कर भट्ट ने अपने *शिशुपाल-वध* में 'रांगवली' का उल्लेख किया है।
सन् १४००-१६५० ई०	*पारिजात* मंदिर में शिला-चूर्ण द्वारा स्वस्तिक आदि के अंकन का विधान करता है।
सन् १४००-१६०० ई०	*आकाशभैरवकल्प* अनेक बार विभिन्न धार्मिक संस्कारों के अवसर पर रंगवल्ली चिन्नों के अंकन का उल्लेख करता है।
सन् १६०८-१६८२	संत रामदास अपनी *मानसपूजा* में 'सडे संमार्जनें' तथा 'रंगमाला' का उल्लेख करते हैं।
७२९-१७९४ ई०	मराठी कवि मोरोपंत अपने *'विराटपर्व'* में 'रांगोली' का उल्लेख करते हैं।
सन् १८३८ ई०	त्र्यंबक भट्ट माटे ने अपने आचारेंदु में *मार्कण्डेयपुराण* को उद्धृत किया है जिसमें भूमि के गोमयानुलेपन के पश्चात् उस पर स्वस्तिक चिन्नों के अंकन का विधान है। ये *स्मृति रत्नाकर* को भी उद्धृत करते हैं जिसमें भूमि के उपलेपन का विधान है।
सन् १८९४ ई०	बांबे *गजेटियर* में रांगोली पर टिप्पणी।

मेरा विश्वास है कि उपर्युक्त प्रमाण निर्णयात्मक रूप से स्पष्ट कर देते हैं कि *रांगोली* कला का इतिहास लगभग २००० वर्ष प्राचीन है। यह इतिहास भली भाँति कम से कम इससे भी ५०० वर्ष पूर्व तक ले जाया जा सकता है। हम निश्चित रूप से यह कल्पना कर सकते हैं कि *कामसूत्र* में 'तण्डुलकुसुमवलिविकाराः' के रूप में उल्लिखित यह कला कामसूत्र से सैकड़ों वर्ष पूर्व भी परिचित थी और इसी कारण वात्स्यायन ने इसका उल्लेख ६४ कलाओं में किया है।

[भूमि पर चित्र-रचना की पद्धति उत्तर भारत में भी है। मंदिरों में विशेषतः राधाकृष्ण के मंदिरों में वर्षा ऋतु में 'साँझी' का बहुत प्रचार है। 'साँझी' के दर्शन सायंकाल ही होते हैं। अतः इसकी उत्पत्ति 'संध्या' के 'साँझ' से हुई हो तो कोई आश्चर्य नहीं। साँझी भूमि, जल, थाल आदि पर भी बनाई जाती हैं। इसमें भाँति भाँति के बेलबूटे, पशु-पक्षियों आदि की नाना आकृतियाँ

बनाई जाती हैं। 'जल' की साँझी अत्यधिक श्रम तथा चातुरी से बनती है। सेलखड़ी को महीन पीसकर उसे पाँच छह बार कपड़-छान करके स्थिर जल पर इस प्रकार फैलाया जाता है कि सर्वत्र समान रहे और पानी पर बराबर तैरती रहे। तदुपरांत 'चित्र का पत्ता' काटकर पानी की सतह पर रख देते हैं और उस पर रंगों को इस ढंग से भरते हैं कि सेलखड़ी पर अभीप्सित आकृतियाँ बन जायँ और रंग भी पानी में न घुलें। तत्पश्चात् पत्ता इस प्रकार उठा लेते हैं कि पानी हिलने न पाए।

हिंदी के कृष्णभक्त कवियों की रचना में साँझी के पद बहुत मिलते हैं। सोलहवीं सत्रहवीं शती के कवियों की कृतियों तक में इसका कथन है।

मंगल कार्यों के अवसर पर चौक पूरने की प्रथा भी रंगवल्ली चित्रों की सी ही है। सूरदास (संवत् १५४० के लगभग) लिखते हैं—

१—कौरनि सथिया चीतति नव निधि। (सूर-सागर, दशम स्कंध, पद ३०, पृष्ठ ४३१, सभा संस्करण)।

२—चंदन आँगन लिपाइ, मुतियनि चौकैं पुराइ, उमँगि अँगनि आनंद सौं तूर बजावौ। वही, पद ९५, पृष्ठ ४६७।

'सथिया चीतना' (स्वस्तिक बनाना) और 'चौक पूरना' यही चीज है। आज भी विवाहादि मांगलिक कार्यों में चौक पूरने की प्रथा है। बढ़ार (वैवाहिक प्रीतिभोज) के अवसर पर आँगन में अनेकानेक रंगों के बेल-बूटे बनाने का प्रचलन है और यह 'रंगोली' नाम से प्रसिद्ध भी है।

ये सब धूलि-चित्र के उदाहरण हैं। देवोत्थानी एकादशी के अवसर पर रसचित्र बनाए जाते हैं। इनमें अनेक रंगों के घोल का प्रयोग होता है। वृत्ताकार कई बड़े बड़े चित्र बनाए जाते हैं जिनके भीतर शंख, चक्र, गदा, पद्म, तुलसी वृक्ष आदि की अनेक आकृतियाँ बनाई जाती हैं।

—संपादक।]

———

विद्यापति का समय

[डा० विमानबिहारी मजुमदार, एम० ए०, पी० एच० डी०, पी० आर० एस०]

सन् १८७५ ई० में श्री राजकृष्ण मुखोपाध्याय ने 'वंगदर्शन' नामक बँगला पत्रिका में कवि विद्यापति के विषय में एक लेख लिखा। उसी समय से विद्यापति के विषय में गवेषणाएँ आरंभ हुईं और तब से अब तक तिहत्तर वर्ष हो गए पर उस अमर कवि के जीवन की मुख्य घटनाओं की तिथियाँ निश्चित नहीं हो पाई हैं। सभी लेखक विद्यापति के जीवन की तिथियाँ मैथिल पंजियों के आधार पर ही निर्धारित करते हैं, किंतु उनमें परस्पर विरोधी बातों की विद्यमानता के कारण सबके काल-निर्णय तथा तथ्य-निरूपण में भिन्नता पाई जाती है, साथ ही उचित निर्णय तक पहुँचने के लिये इन पंजियों का आलोचनात्मक अध्ययन भी अपेक्षित है। श्री जान बीम्स ने 'विद्यापति का युग और उनका देश'[1] नामक लेख में मैथिल पंजियों के आधार पर जिन तिथियों का वर्णन किया है उनकी तालिका निम्नलिखित है—

नाम	राजतिलक	शासन-काल
देवसिंह	१३८५ ई०	६१ वर्ष
शिवसिंह	१४४६ ई०	३॥ वर्ष
रानी पद्मावती	१४५० ई०	१॥ वर्ष
रानी लक्ष्मीदेवी	१४५२ ई०	६ वर्ष
रानी विश्वासदेवी	१४६१ ई०	१२ वर्ष
नरसिंह	१४७३ ई०	

उक्त लेखक के अनुसार राजा शिवसिंह की तीन रानियाँ थीं—(१) पद्मावती, (२) लक्ष्मीदेवी और (३) विश्वासदेवी; तीनों रानियों ने बारी बारी से राज्य किया। उनके बाद राजा शिवसिंह के चचेरे भाई राजा नरसिंह शासनारूढ़ हुए। कवि विद्यापति के वास्तविक पदों का आलोचनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने राजा शिवसिंह की छह रानियों का उल्लेख किया है—(१) लखिमा, (२) सुखमा, (३) रूपिणी, (४) मेधा, (५) मधुमती और (६) सुरमा।[2] इनमें पद्मावती और विश्वासदेवी दोनों का उल्लेख नहीं है। श्री ग्रियर्सन को भी मिथिला के मौखिक इतिवृत्त से

१—इंडियन ऐंटिक्वेरी, भाग ४, अक्टूबर १८७५, पृष्ठ २९९।

२—श्री विमानबिहारी मजुमदारकृत 'भनिताज इन विद्यापति'ज पदज' नामक निबंध, जर्नल ऑव् दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग २८, पृष्ठ ४०६-४३०, दिसंबर सन् १९४२ ई०।

पता चला था कि विश्वासदेवी राजा शिवसिंह की रानियों में से एक थीं[1], किंतु कवि ने अपनी 'शंभु-वाक्यावलि' और 'गंगावाक्यावलि' नामक रचनाओं में स्पष्ट लिखा है कि विश्वासदेवी राजा शिवसिंह की नहीं बल्कि उनके भाई पद्मसिंह की रानी थीं। इन बातों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्री जान बीम्स ने रानी विश्वासदेवी को राजा शिवसिंह की रानी मान कर भूल की है और साथ ही उन्हें 'पद्म' शब्द से रानी पद्मावती का व्यर्थ भ्रम हुआ है। वह शिवसिंह के भ्राता पद्मसिंह का बोधक है।

श्री ग्रियर्सन ने स्वनिबंध 'विद्यापति और उनके समकालीन' में श्री अयोध्याप्रसाद के उर्दू में लिखे 'दरभंगा का इतिहास' नामक पुस्तक से निम्नलिखित तिथियाँ उद्धृत की हैं[2]—

नाम	राजतिलक-समय
भवसिंह	१३४८ ई०
देवसिंह	१३८५ ई०
शिवसिंह	१४४६ ई०
लखिमादेवी	१४४९ ई०
विश्वासदेवी	१४५८ ई०
द्रव्यनारायण उपनाम नरसिंह देव	१४७० ई०
हृदयनारायण उपनाम धीरसिंह	१४७१ ई०
हरिनारायण उपनाम भैरवसिंह	१५०६ ई०

वहीं उन्होंने सुगौना-वंश की वंशावली भी मैथिल पंजियों के आधार पर प्रकाशित की है। किंतु उसमें भोगीश्वर की किसी संतान का उल्लेख नहीं किया है। इस त्रुटि का अनुभव उन्हें उस समय हुआ जब उन्होंने 'कीर्तिलता' के उद्धरण दरभंगा से सन् १८८८ ई० में प्रकाशित 'पुरुष-परीक्षा' की भूमिका में पढ़े। तत्पश्चात् उन्होंने तिथियों और वंशावली का निम्नलिखित संशोधित रूप प्रस्तुत किया था[3]—

कामेश्वर ठाकुर
- भोगीश्वर (मृत्यु १३६० ई०)
  - गणेशराय (मृत्यु २५२ ल० सं०)
    - कीर्तिसिंह
- भवसिंह
  - देवसिंह (मृत्यु २९३ ल० सं०)
    - शिवसिंह
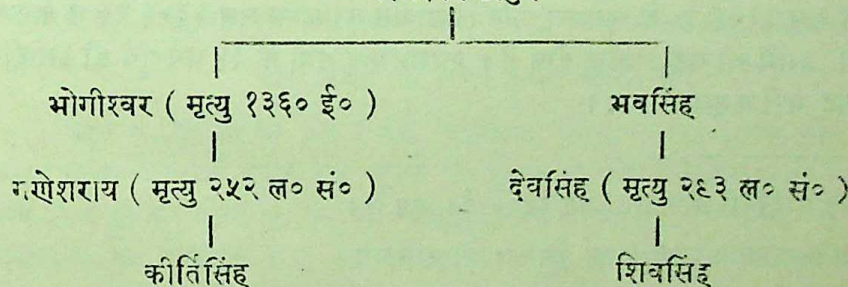
१—क्रेस्टेमैथी, सन् १८८१-८२ ई०।

२—देखिए 'विद्यापति ऐंड हिज कांटेंपोरेरीज' नामक निबंध, इंडियन ऐंटिक्वेरी, भाग १४, जुलाई सन् १८८५ ई०, पृष्ठ १८७ की पादटिप्पणी।

३—'ऑन सम मिडिविअल किंग्स ऑव् मिथिला' नामक निबंध, वही, भाग २८, मार्च १८९९ ई०, पृष्ठ ५७।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि श्री ग्रियर्सन ने सन् ११०६ ई० को लक्ष्मण संवत् का आदि वर्ष माना है किंतु श्री कीलहार्न[1] ने दश वर्ष बाद से अर्थात् सन् १११६ ई० से लक्ष्मण संवत् का आरंभ होना सिद्ध किया है। अन्य विद्वानों ने भी श्री कीलहार्न का ही मत स्वीकार किया है।

कीर्तिलता की रचना-तिथि

श्री नगेंद्रनाथ गुप्त ने लिखा है कि २४३ ल० सं० को राजा शिवसिंह का जन्म-संवत् मानने से हम यह मान सकते हैं कि कवि विद्यापति का जन्म २४१ ल० सं० के लगभग हुआ होगा।[2] इस अनुमान को बाद के बहुत से विद्वानों ने ऐतिहासिक सत्य माना है। डा० बाबूराम सक्सेना[3] तथा डा० उमेश मिश्र ने[4] भी यही माना है कि विद्यापति का जन्म २४१ ल० सं० (सन् १३६० ई०) में हुआ था और उन्होंने 'कीर्तिलता' की रचना बीस वर्ष की वय में की थी।

विद्यापति ने इस रचना में कीर्तिसिंह द्वारा अपने पिता की हत्या का बदला लिया जाने तथा तत्पश्चात् जौनपुर के सुलतान इब्राहीम की सहायता से अपना राज्य वापस पाने का वर्णन किया है। 'कीर्तिलता' में इब्राहीम को बादशाह या सम्राट् कहा गया है। यह ऐतिहासिक सत्य है कि इब्राहीमशाह जौनपुर की गद्दी पर सन् १४०२ ई० में बैठा।[5] यदि विद्यापति ने 'कीर्तिलता' की रचना सन् १३८० ई० में की तो उस समय उनका इब्राहीमशाह को जौनपुर का शासक मानना अप्रसिद्ध हो जाता है। सन् १४०२ ई० में इब्राहीमशाह का शासनारूढ़ होना भी ध्रुव सत्य है और राजा कीर्तिसिंह का इब्राहीमशाह की सहायता से मिथिला का राज्य पाना भी वैसे ही निश्चित है। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि 'कीर्तिलता' की रचना सन् १४०२ ई० के पश्चात् ही हुई, इससे पूर्व सन् १३८० ई० में नहीं जैसा कि डा० बाबूराम सक्सेना तथा डा० उमेश मिश्र ने माना है। श्री शिवनंदन ठाकुर ने भी इसी प्रकार की भ्रमात्मक बातें लिखी हैं। उन्होंने 'कीर्तिलता' की रचना सन् १३७१ ई० के लगभग और विद्यापति का जन्म सन् १३५१ ई० के लगभग माना है।[6] इसमें भी वही पूर्वोक्त दोष है। शासनारूढ़ होने के ३१ वर्ष पूर्व ही इब्राहीमशाह सम्राट् नहीं कहला सकता।

१—इंडियन ऐंटिक्वेरी, भाग १९, सन् १८९० ई०, पृष्ठ ७।

२—विद्यापति-पदावली, प्रथम बँगला संस्करण की भूमिका।

३—कीर्तिलता, प्रथम संस्करण (काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित) की भूमिका, पृष्ठ ८।

४—विद्यापति ठाकुर, प्रथम संस्करण (सन् १९३७ ई०), पृष्ठ १६।

५—कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव् इंडिया, भाग ३, पृष्ठ २५१। [देखिए हिस्ट्री ऑव् इंडिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियंस, भाग ४, पृष्ठ ३८। —संपादक।]

६—देखिए महाकवि विद्यापति, पुस्तक भंडार लहेरिया सराय से प्रकाशित।

'कीर्तिलता' में लिखा है कि गणेशराय की हत्या की गई।

"लक्खनासेना नरेशा लीहिया जावे पक्खा पन्चावे।"[1]

महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री ने 'जावे' का अर्थ 'जब' तथा 'पक्खा पनचावे' का अर्थ २५२ ल० सं० किया है। डा० जायसवाल ने 'जावे' का अर्थ '५२' किया है और उसे 'पक्खा पनचावे' अर्थात् २५२ में जोड़ दिया है। इस प्रकार जायसवालजी के कथनानुसार गणेशराय का मृत्यु-संवत् ३०४ ल० सं० (सन् १४२३ ई०) ठहरता है[2] जो ठीक नहीं प्रतीत होता। ३०४ ल० सं० को गणेशराय का मृत्यु-संवत् मानने से शिवसिंह २९१ ल० सं० में महाराज नहीं कहे जा सकते। २९१ ल० सं० में विद्यापति की आज्ञा से 'काव्यप्रकाश-विवेक'[3] नामक हस्तलेख की प्रतिलिपि शिवसिंह के शासन-काल में की गई थी। इसलिये २५२ ल० सं० को ही गणेशराय का हत्या-काल मानना चाहिए।

गणेशराय की मृत्यु के पश्चात् एक पीढ़ी तक मिथिला में अराजकता फैली हुई थी। कवि विद्यापति ने लिखा है—"राजा (गणेशराय) की हत्या के उपरांत युद्धभूमि में कोलाहल होने लगा और चारों ओर शोक छा गया। ठाकुर लोग ठक हो गए। बड़े बड़े महलों पर चोरों का अधिकार हो गया। दासों ने अपने स्वामियों को पकड़ लिया। धर्म चला गया और धंधे डूब गए। दुष्टों ने सज्जनों पर विजय पाई। कोई विचार करनेवाला नहीं रहा। छोटी और बड़ी जातियों में विवाह-संबंध होने लगा। साहित्यिकों का ह्रास हो गया। कविगण भिक्षुक हो गए। जब राजा गणेशराय का स्वर्गवास हुआ— तिरहुत से सद्गुणों का लोप हो गया।"[4] यह अराजकता कई वर्षों तक विद्यमान थी। गणेशराय की मृत्यु के ३१ वर्ष के उपरांत इब्राहीमशाह जौनपुर की गद्दी पर बैठा। तब तक गणेशराय के पुत्र कीर्तिसिंह भी पूर्ण वयस्क हो चुके थे। अतः उन्होंने जौनपुर जाकर इब्राहीमशाह से सहायता माँगी और उसी की सहायता से तिरहुत का राज्य वापस पाया। इस प्रकार गणेशराय का मृत्यु-काल सन् १३७१ ई० और इब्राहीम शाह के राजतिलक के समय सन् १४०२ ई० में कोई असामंजस्य नहीं प्रतीत होता।

'कीर्त्तिलता' कवि की प्रथम कृति नहीं

बहुत से विद्वानों का मत है कि 'कीर्तिलता' विद्यापति की प्रथम कृति है और अवहट्ट भाषा में उसकी रचना कर चुकने के पश्चात् उन्होंने मैथिली भाषा अपनाई।' इसके साथ ही उन लोगों का यह भी कहना है कि विद्यापति ने बंगाल के सुलतान गयासुद्दीन को जिनकी मृत्यु सन् १३७३ ई० में हुई थी[5] एक पद्य लिखकर भेंट किया

१—कीर्तिलता, द्वितीय पल्लव, छंद १।

२—दी जर्नल ऑव् बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग १३, पृष्ठ २९९।

३—भारत सरकार की पांडुलिपि, 'काव्यप्रकाश विवेक' फोलिओ ११७।

४—मिलाइए कीर्तिलता, द्वितीय पल्लव, पृष्ठ १६-१९ (सभा का संस्करण)।—संपादक।

५—श्री नगेंद्रनाथ गुप्त कृत विद्यापति ठाकुर की पदावली के पद्य सं० २६८ की टिप्पणी।

था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि 'कीर्तिलता' की रचना के पूर्व भी विद्यापति काव्य-रचना करते थे तभी तो उन्होंने एक पद्य उक्त सुलतान को समर्पित किया था। डा० भट्टसाली की सिक्का-संबंधी खोजों से यह ज्ञात होता है कि सुलतान गयासुद्दीन की मृत्यु सन् १३७३ ई० में न होकर सन् १४१० ई० के पश्चात् ही हुई होगी। क्योंकि उनके बहुत से सिक्के ८१२ हि० सं० और ८१३ हि० सं० के भी ढले हुए पाए गए हैं। डा० भट्टसाली ही आगे कहते हैं कि गयासुद्दीन अपने पिता सिकंदर की हत्या कर सन् १३९२ ई० के लगभग बंगाल के सुलतान हुए।[1] सुलतान गयासुद्दीन विद्या-प्रेमी थे। उन्होंने फारस के प्रसिद्ध कवि हाफिज को बंगाल आने के लिये निमंत्रित किया था, किंतु कवि ने यह निमंत्रण स्वीकार न किया और सुलतान को एक कविता लिखकर भेंट की। अतः विद्यापति ने भी सुलतान गयासुद्दीन के विद्या-प्रेमी होने के कारण उन्हें कविता लिखकर भेंट की हो तो हो सकता है। उस समय तिरहुत में अपना कोई राजा नहीं था। इस कारण भी कवि विद्यापति ने ऐसा किया हो तो भी संभव है। किंतु कीर्तिसिंह के गद्दी पर बैठने के पश्चात् इसकी आवश्यकता न रही और वे अपने नृपति के ही लिये कविता लिखने लगे। यदि यह निष्कर्ष सत्य मान लिया जाय तो 'कीर्तिलता' विद्यापति की पहली रचना नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इसके पूर्व भी इनके कविता करने का प्रमाण मिलता है। 'कीर्तिलता' को ही ध्यान से पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी रचना के पूर्व ही कवि के रूप में विद्यापति की ख्याति चारों ओर फैल चुकी थी। कवि ने 'कीर्तिलता' के प्रारंभ में लिखा है--

बालचंद बिज्जावइ भासा,
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर-शिर सोहइ,
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ॥[2]

कोई भी कवि इतने आत्मविश्वास के साथ अपनी प्रथम रचना में ऐसी शब्दावली नहीं लिख सकता। अतः यह निश्चय है कि कवि ने इसके पूर्व भी रचनाएँ की थीं।

विद्यापति के आश्रयदाता

विद्यापति ने अपने आश्रयदाताओं का भी उल्लेख किया है। 'कीर्तिलता' में उन्होंने कामेश्वर, उनके पुत्र भोगीशराय, उनके पुत्र गणेशराय और गणेशराय के तीनों पुत्र वीरसिंह, कीर्तिसिंह तथा राजसिंह का वर्णन किया है। 'पुरुष-परीक्षा' में उन्होंने भवदेव, उनके पुत्र देवसिंह तथा देवसिंह के पुत्र शिवसिंह का उल्लेख किया है। 'शंभुवाक्यावलि' या 'सैव-सरबस-सार' नामक पुस्तक में उन्होंने भवसिंह, उनके पुत्र देवसिंह, देवसिंह के पुत्र शिवसिंह और शिवसिंह के भाई पदमसिंह और पदमसिंह की पत्नी विश्वासदेवी के नाम लिए हैं। 'गंगा-वाक्यावलि' में भी विश्वास देवी का नाम

१—डा० एम० के० भट्टसालीकृत क्वाएंस ऐंड क्रोनोलॉजी ऑव् अर्ली सुलतान्स ऑव् बंगाल।
२—कीर्तिलता, प्रथम पल्लव, पृष्ठ ४, (सभा संस्करण)। —संपादक।

आया है। 'विभाग-सार' में भवेश, उनके लड़के हरिसिंह और हरिसिंह के पुत्र दर्पनारायण का उल्लेख है। 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' में नरसिंह और उनके तीनों पुत्र धीरसिंह, भैरवसिंह और चंद्रसिंह का वर्णन है। इस प्रकार विद्यापति ने अपने ग्रंथों में कामेश्वर-परिवार के तेरह पुरुषों एवं एक स्त्री का उल्लेख किया है, किंतु उन्होंने भवसिंह और कामेश्वर या नरसिंह और शिवसिंह के आपसी संबंध का उल्लेख कहीं नहीं किया है।

विद्यापति की पुस्तकों तथा स्थानीय इतिवृत्तों के आधार पर उन लोगों का वंश-वृत्त इस प्रकार बनता है—
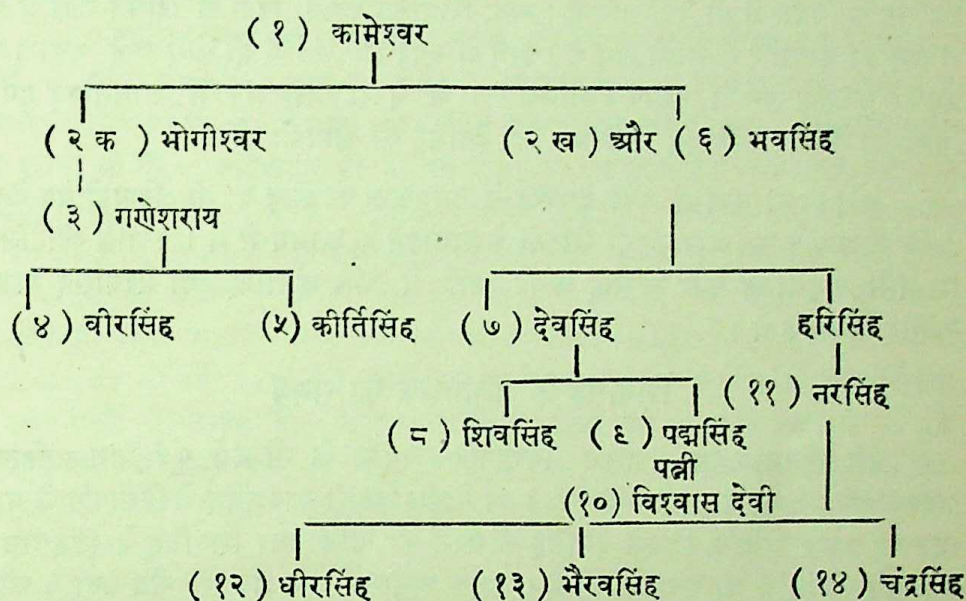
'पुरुषपरीक्षा' में शिवसिंह के पितामह का नाम भवदेवसिंह लिखा है, किंतु 'शंभुवाक्यावलि' भवसिंह। दोनों नाम एक ही व्यक्ति के जान पड़ते हैं। जायसवालजी के कथनानुसार कंडाहा नामक स्थान पर प्राप्त राजा नरसिंह देव के ताम्र-लेख में[1] उनके पिता के नाम का पहला अक्षर लुप्त है। अन्य पांडुलिपियों से ज्ञात होता है कि 'विभाग-सार' में नरसिंह के पिता का नाम हरिसिंह लिखा है। मसरूमिश्र ने स्वग्रंथ 'विवाद-चंद्र' में यही नाम लिखा है। यही नहीं पंजियों में भी हरिसिंह का उल्लेख हुआ है। हरिसिंह कभी शासनारूढ़ नहीं हुए, क्योंकि विद्यापति ने 'विभागसार' में 'राजा' की उपाधि से भवेश और दर्पनारायण को संबोधित किया है, हरिसिंह को नहीं। ठीक इसी प्रकार कंडाहा के ताम्र-लेख में भवसिंह और नरसिंह को राजा कहा गया है और हरिसिंह को विचारक एवं वीर।

विद्यापति के ग्रंथों और गीतों में सुगौना-वंश के कीर्तिसिंह से लेकर भैरवसिंह तक नौ संरक्षकों का उल्लेख हुआ है। विद्यापति के लिये यह सौभाग्य की ही बात थी कि

१—जर्नल ऑव् बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग २०, सन् १९३४ ई०, पृष्ठ १३।

उन्हें एक ही वंश के इतने राजाओं का संरक्षण प्राप्त हुआ। ऐसा सौभाग्य विश्व के अन्य किसी कवि को शायद ही कभी प्राप्त हुआ हो। वंशावली देखने से पता चलता है कि उन्होंने चार पीढ़ियों के राजाओं के लिये रचनाएँ कीं। कीर्तिसिंह सन् १४०२ ई० के पश्चात् ही राजगद्दी पर बैठे और शिवसिंह का राजतिलक निश्चित रूप से सन् १४१२ ई० में हुआ। अतः सन् १४०२ ई० और सन् १४१२ ई० के बीच में ही कीर्तिसिंह, भवसिंह और देवसिंह ने राज्य किया। दस वर्ष के इस अल्पकाल में तीन राजाओं का होना कोई असंभव बात नहीं। गद्दी पर बैठने के समय भवसिंह बहुत वृद्ध हो चुके होंगे। क्योंकि वे अपने भाई भोगीश्वर के पौत्र कीर्तिसिंह के पश्चात् गद्दी पर बैठे। उनके पुत्र देवसिंह के विषय में भी यही बात है। अतः शिवसिंह अपने पिता के जीवन-काल में ही शासन की बागडोर सँभालने लगे थे। इसी से २९१ ल० सं० में ही लोग उन्हें महाराजा कहकर पुकारने लगे थे, यद्यपि वैधानिक ढंग से वे २९३ ल० सं० में शासनारूढ़ हुए। विद्यापति ने चार कविताएँ लिखकर राजा देवसिंह को समर्पित कीं।

यदि राजा भवसिंह और देवसिंह के अल्पकाल को छोड़ दें तो दिखाई यह देता है कि विद्यापति इस वंश की दो पीढ़ियों के राजाओं के आश्रय में थे। क्योंकि कीर्तिसिंह शिवसिंह, पद्मसिंह और नरसिंह चचेरे भाई थे और धीरसिंह तथा भैरवसिंह राजा नरसिंह के लड़के थे।

शिवसिंह के राजतिलक का समय

श्री नगेंद्रनाथ गुप्त संपादित 'विद्यापति-पदावलि' के नौ वर्ष पूर्व 'बंग साहित्य-परिषद्' की पत्रिका में (१३०७ बं० सं०) श्री विनोदबिहारी काव्यतीर्थ ने विद्यापति के एक गीत का प्रकाशन किया जिससे देवसिंह के मरने की तिथि तथा शिवसिंह के सिंहासनारूढ़ होने की तिथि का पता चलता है। इसके अनुसार २९३ ल० सं० चैत्र बदी ६ और १३२४ शक सं० को देवसिंह की मृत्यु हुई[1] और तत्पश्चात् मुसलमानों का आक्रमण रोककर शिवसिंह ने अपने पिता का श्राद्ध किया। श्री मनोमोहन चक्रवर्ती ने ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार निश्चय किया है कि २९३ की ल० सं० की चैत्र बदी ६ बृहस्पतिवार को १३३४ श० सं० में पड़ती है, १३२४ शक सं० नहीं।[2] संभवतः यह गलती 'कर' शब्द को 'पुर' पढ़ लेने से ही हुई है। श्री कीलहार्न और जायसवालजी के अनुसार भी २९३ ल० सं० में शक संवत् १३३४ ही था, १३२४ नहीं। इस पद्य को प्रामाणिक स्वीकार कर लेने पर शिवसिंह के सिंहासनारूढ़ होने की तिथि २३ मार्च सन् १४१३ ई० ठहरती है।

मिथिला के इतिवृत्त से पता चलता है कि राजा शिवसिंह ने तीन वर्ष नौ मास तक राज्य किया। राजतिलक के समय में इसे जोड़ देने से उनका शासन-काल सन्

१—मिलाइए श्री उमेश मिश्र कृत विद्यापति ठाकुर, प्रथम संस्करण (सन् १९३७ ई०) पृष्ठ २०१।
२—'मिथिला ड्युरिंग प्रीमुगल पीरिअड' नामक निबंध, जर्नल ऑव् दि एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बंगाल, भाग ११, नवंबर-दिसंबर सन् १९१५ ई, पृष्ठ ४१९।

१४१६ ई० के अंत तक जाता है। विद्यापति ने अपनी पुस्तक 'लिखनावलि' की रचना पुरादित्य के संरक्षण में की। पुरादित्य ने सप्तरी के शासक अर्जुन की हत्या की। विद्यापति ने अपने पाँच गीतों में अर्जुन का उल्लेख अपने संरक्षक की भाँति किया है। श्री चंद्र झा ने एक ऐसे इतिवृत्त का उल्लेख किया है जिससे ज्ञात होता है कि बादशाह के द्वारा शिवसिंह के पकड़े जाने के बाद विद्यापति और लखिमा देवी ने नेपाल में सप्तरी के शासक के यहाँ जाकर शरण ली।[1] 'लिखनावलि' में पत्रों का एक संग्रह भी है जिनमें से अधिकांश २९९ ल० सं० अर्थात् सन् १४१८ ई० के लिखे हुए हैं। यही समय विद्यापति के प्रवास का भी है।

विद्यापति ने स्वयं ही भागवत पुराण की एक प्रतिलिपि तैयार की थी जिसके अंत में ३०९ ल० सं० (सन् १४२८ ई०) लिखा हुआ है। विद्यापति के जीवन में यह एक निश्चित तिथि है। विद्यापति ने नरसिंह दर्पनारायण की संरक्षता में 'विभाग-सार' की रचना की थी। जायसवालजी को इस राजा का एक ताम्र-लेख भागलपुर जिले के मधुपुरा सब-डिवीजन के कंडाहा[2] नामक स्थान पर मिला था। लेख की तिथि शक संवत् में इस प्रकार दी हुई है—"सार अश्व-मदन"। 'सार' का अर्थ पाँच, 'अश्व' का अर्थ सात और 'मदन' का अर्थ तेरह अर्थात् शक सं० १३७५ तदनुसार सन् १४५३ ई० हुआ। 'सेतुदर्पणी' और 'महाभारत' के कर्ण पर्व[3] की दो प्रतियाँ क्रमशः ३२१ ल० सं० और ३२७ ल० सं० की और मिली हैं। इन दोनों हस्तलेखों में राजा नरसिंह के पुत्र धीरसिंह के राज्य करने का वर्णन है। जायसवालजी ने सोचा था कि यदि नरसिंह के पुत्र ३२१ ल० सं० में राज्य कर रहे थे, तो उनके पिता का १३ साल बाद ३३४ ल० सं० में राज्य करना संभव नहीं। इसलिये उन्होंने इस प्रसंग में 'अंकानां वामतो गतिः' का खंडन किया।

जिस प्रकार राजा शिवसिंह को विद्यापति ने उनके पिता के जीवन-काल में ही राजा कहा है, ठीक उसी प्रकार धीरसिंह का भी अपने पिता नरसिंह के जीवन-काल में ही महाराजा कहा जाना संभव है। 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' के आरंभ में उल्लिखित पंक्तियों से इसकी पुष्टि होती है। इस पुस्तक को सभी लेखक विद्यापति की अंतिम रचना मानते हैं। इसके तीसरे पद्य में नरसिंह देव का उल्लेख वर्तमान काल में किया गया है। इसी आधार पर श्री शारदाचरण मित्र ने 'विद्यापति पदावली'[4] की भूमिका में लिखा है कि 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' राजा नरसिंह देव के शासन-काल में रची गई, किंतु बाद की खोजों से यह स्पष्ट हो गया है कि इसकी रचना धीरसिंह के ही शासन-काल में हुई थी।[5]

१—देखिए पुरुष-परीक्षा की भूमिका।
२—जर्नल ऑव् दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग २०, पृष्ठ १५-१९।
३—वही भाग १०, पृष्ठ ४२-४३।
४—श्री शारदाचरण मित्र संपादित विद्यापति-पदावलि, १२८५-७ बं० सं०।
५—मिथिला की पांडुलिपियों की सूची, भाग १, पृष्ठ ९०।

कंडाहा ताम्रलेख की तिथि ठीक मान लेने पर यह कहा जा सकता है कि विद्यापति कम से कम सन् १४५३ ई० तक अवश्य जीवित थे। श्री नगेंद्रनाथ गुप्त ने एक पद्य प्रकाशित किया है जिसमें विद्यापति कहते हैं कि मैंने शिवसिंह के मरने के बत्तीस साल बाद उन्हें स्वप्न में देखा।[1] इसी के आधार पर वे विद्यापति को कम से कम सन् १४४८ ई० तक जीवित मानते हैं। श्री शिवनंदन ठाकुर ने इस पद्य की प्रामाणिकता में विश्वास किया है और यह प्रतिपादित किया है कि इस स्वप्न के आठ महीने के भीतर ही विद्यापति इस लोक से प्रयाण कर गए।

सन् १४४८ ई० में मृत्यु मानकर श्री नगेंद्रनाथ गुप्त पद्य सं० ३४, ४४ और ४८४ की स्वलिखित टिप्पणियों का स्वतः ही खंडन कर देते हैं। उनके संकलित पद्य सं० ४८४[2] में राजा हुसेनशाह का उल्लेख हुआ है जिसे वे बंगाल का पठान सुलतान बतलाते हैं। हुसेनशाह बंगाल की गद्दी पर सन् १४९२-९३ के पूर्व कदापि नहीं बैठा था। श्री नगेंद्रनाथ गुप्त ने पद्य सं० ३४ और ४४ की अपनी टिप्पणियों में लिखा है कि विद्यापति हुसेनशाह के पुत्र नसरतशाह के शासन-काल में भी जीवित थे। यह असंभव है। क्योंकि ऐसा मानने से विद्यापति की आयु कम से कम १५४ वर्ष की माननी पड़ेगी जो गुप्त महोदय की भूमिका के ठीक विपरीत है जिसमें इन्होंने विद्यापति की आयु ९० वर्ष की मानी है। उनके द्वारा संपादित पद्यसंख्या ३४ में कविशेखर की एक भनिता (छाप) है। लोचन कवि विद्यापति को ही कविशेखर मानते हैं। किंतु विद्यापति के और किसी भी वास्तविक पद्य में उनकी उपाधि कविशेखर नहीं मिलती। इस पद्य (सं० ३४) में राय नसरतशाह का नाम आया है। संभवतः यह व्यक्ति हुसेनशाह का पुत्र नसरतशाह ही है जो विद्यापति की मृत्यु के पचास वर्ष बाद गद्दी पर बैठा।[3] महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के मतानुसार इस पद्य के कर्ता कविशेखर रायशेखर ही हैं।[4] पद्यसंख्या ४४ की टिप्पणी में भी गुप्त महोदय ने इस भनिता की प्रामाणिकता का समर्थन किया है। यह पद्य उन्हें बँगला के संग्रह-ग्रंथों में मिला है। यदि इस पद्य को विद्यापति की रचना मान लें तो नासिरशाह को नासिर खाँ मानना पड़ेगा जिसने सन् १४२२ ई० से लेकर सन् १४५९ ई० तक बंगाल में राज्य किया। नासिर खाँ छंदानुरोध से नासिरशाह हो सकता है, किंतु राय नसरत नहीं।

१—देखिए श्री उमेश मिश्रकृत विद्यापति ठाकुर, पृष्ठ ३७ पर उद्धृत पद। —संपादक।

२—श्री नगेंद्रनाथ गुप्त ने इस पद्य को सत्रहवीं शती के लोचन कवि द्वारा संपादित 'रागतरंगिणी' पृष्ठ ६७ से लिया है जिसमें उस पद्य के रचयिता का नाम 'यशोधर नव कविशेखर' लिखा हुआ है।

३—देखिए श्री एन० बी० सान्यालकृत 'डेट ऑव् दि रेन ऑव् नासिरुद्दीन नसरतशाह, सुलतान ऑव् बंगाल' नामक निबंध, दि इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, भाग २३, संख्या १, सन् १९४७ ई०, पृष्ठ ४७।

४—कीर्तिलता की भूमिका, पृष्ठ २८।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। विद्यापति ने 'कीर्तिलता', 'कीर्ति पताका', 'भू-परिक्रमा' और 'पुरुष-परीक्षा' को छोड़कर शेष रचनाएँ शिवसिंह की मृत्यु के पश्चात् ही प्रस्तुत की हैं, किंतु उनके थोड़े ही पद्य ऐसे मिलते हैं जिनमें शिवसिंह के बाद के वंशजों के नाम आए हों। श्री शिवनंदन ठाकुर द्वारा संगृहीत पद्यों में से केवल एक ही में विश्वास-देवी के पति पद्मसिंह का उल्लेख है। यह पद्य श्री नगेंद्रनाथ गुप्त के संग्रह में नहीं है। 'राग-तरंगिणी' के एक पद्य में "कंस-दलन-नारायण-सुंदर" का ही उल्लेख है। संभवतः इस विशेषण का प्रयोग धीरसिंह के लिये किया गया है। विद्यापति ने 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' में धीरसिंह को "कंस-दलन-प्रत्यक्ष नारायण" कहा है। कुछ पद्यों में राघवसिंह और रुद्रसिंह का भी उल्लेख है, किंतु इनकी प्रामाणिकता में संदेह है। क्योंकि ये पद्य हाल ही में मौखिक इतिवृत्तों से संकलित किए गए हैं, किसी प्राचीन संग्रह-ग्रंथ से नहीं। विद्यापति ने किसी भी पद्य में राजा नरसिंह, धीरसिंह और भैरवसिंह का उल्लेख नाम लेकर नहीं किया है। हो सकता है कि राजा शिवसिंह की मृत्यु के पश्चात् विद्यापति शृंगार और नरकाव्य से मुख मोड़कर विद्वत्तापूर्ण शास्त्रों की रचनाओं की ओर उन्मुख हो गए हों।

संक्षेप में विद्यापति का साहित्यिक जीवन कीर्तिलता के बहुत पहले आरंभ नहीं हुआ था। कीर्तिलता की रचना सन् १४०४ या १४०५ ई० के लगभग हुई। उनकी अंतिम रचना 'दुर्गाभक्ति तरंगिणी' राजा नरसिंह देव के शासन-काल में प्रस्तुत हुई। राजा नरसिंह देव उस समय तक काफी बूढ़े हो गए थे। वे कम से कम सन् १४५३ ई० तक अवश्य ही विद्यमान थे। उनके सामने १४४० ई० और सन् १४४७ ई० में ही उनके पुत्र धीरसिंह महाराजा कहे जाने लगे थे। जहाँ तक साहित्यिक कार्यों का संबंध है विद्यापति कवि और विद्वान् के रूप में पंद्रहवीं शती के प्रथम अर्धभाग में फूले-फले।

वत्सराज उदयन और उसका कौटुंबिक इतिहास

[श्री नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी एम० ए०]

यह बात निर्विवाद है कि भारतीय साहित्य का प्रख्यात नायक वत्सराज उदयन चंद्रवंश में उत्पन्न हुआ था। पुराण हस्तिनापुर में प्रतिष्ठित पुरुवंश से उसका संबंध बतलाते हैं। पौरव विचक्षु के पश्चात् उदयन सत्रहवाँ शासक बतलाया गया है।[1] भास के नाटक 'स्वप्न-वासवदत्ता'[2] और हर्ष की नाटिका 'रत्नावली'[3] में उसे भरत-कुलोत्पन्न कहा गया है। जैन ग्रंथों में कहीं कहीं उसे ऋषभवंशीय भी कहा जाता है।[4] परंतु ऋषभदेव भी स्वयं चंद्रवंश में ही उत्पन्न हुए थे। इसलिये उदयन का भी चंद्रवंशीय होना स्वाभाविक ही है।

पिता और माता

पुराणों के अनुसार उदयन के पिता का नाम शतानीक था।[5] जैन ग्रंथ भी उदयन को शतानीक का ही पुत्र बतलाते हैं।[6] 'बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह' में उदयन के पिता का नाम शतानीक ही लिखा है।[7] 'प्रतिज्ञायौगंधरायण' में उसे 'शतानीक-पुत्र' और 'सहस्रानीकस्य नप्ता' कहा गया है।[8] 'धुल्वा' (विनय-पिटक का तिब्बती संस्करण) के अनुसार उदयन शतानीक-पुत्र ही था।[9] परंतु 'कथासरित्सागर'[10] और 'बृहत्कथामंजरी'[11] में उसे सहस्रानीक का पुत्र और शतानीक का पौत्र कहा है। बौद्धों के मतानुसार उदयन का जनक परंतप था।[12] अब हम इन विभिन्न प्रमाणों पर विचार करेंगे।

अधिकतर ग्रंथ उदयन को शतानीक-पुत्र मानने के पक्ष में हैं। पुरुवंश का यह शतानीक द्वितीय था। 'कथासरित्सागर' और 'बृहत्कथामंजरी' उदयन को शतानीक का

१—'अर्ली हिस्ट्री ऑव् कौशांबी', पृष्ठ ११।

२—'भारतानां कुले जातो''''''।'—अंक ६, श्लोक १६।

३—'किमिदमकारणमेव भरतकुलं सशंयमारोपितम्।'—अंक ४, सोलहवें श्लोक के बाद।

४—वत्सराजोदयन-प्रबंध, प्रबंध-कोष (विश्वभारती शांतिनिकेतन से प्रकाशित), पृष्ठ ८६।

५—मत्स्यपुराण ५०, ८६; भागवत २२, ३३–३४।

६—अभिधान-राजेंद्र, पृष्ठ ७८३।

७—५, ८९–९१।

८—अंक २, श्लोक ८ के पश्चात्।

९—रॉकहिलकृत लाइफ ऑव् बुद्ध, पृष्ठ १७।

१०—२, १, ११।

११—२, १, १८।

१२—धम्मपद, बुद्धघोष की टीका।

पौत्र बतलाते हैं। इसमें निम्नांकित बातें विचारणीय हैं। पुराणों के अनुसार उदयन के पूर्ववर्ती राजाओं में सहस्रानीक नामक कोई राजा नहीं है। 'कथासरित्सागर' और 'बृहत्कथामंजरी' का यह नया आविष्कार मालूम पड़ता है। संभवतः भास ने अपने 'प्रतिज्ञायौगंधरायण' में यह नाम इन्हीं ग्रंथों से लिया है। दूसरे जैसा कि हम आगे देखेंगे उदयन की माता का नाम मृगावती सर्वथा मान्य है। उपर्युक्त दोनों ग्रंथों का भी इस नाम से कोई विरोध नहीं है। तीसरे जैसा कि लॉकोत ने बतलाया है 'कथासरित्सागर' और 'बृहत्कथामंजरी' के लेखक सोमदेव और क्षेमेंद्र ने स्वतंत्रतया परंतु एक ही मूल स्रोत से अपने अपने ग्रंथों के लिये विषय चुने हैं।[1] ऐसी अवस्था में मूल पाठ में अशुद्धि रह जाने से इन दोनों पुस्तकों में भी उस अशुद्धि का होना स्वाभाविक ही है। 'बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह' का समग्र पर्यालोचन करने पर कहा जा सकता है कि उसकी कथा-वस्तु 'बृहत्कथा' की किसी भिन्न प्रति से अधिक छानबीन के साथ ली गई है। साथ ही साथ शतानीक और सहस्रानीक ये दोनों नाम बहुत कुछ एक से हैं। अतएव इनमें भ्रम का होना विशेष आश्चर्य की बात नहीं।

बौद्ध ग्रंथों के परंतप के विषय में भी विरोध नहीं है। क्योंकि शतानीक को ही परंतप शतानीक भी कहते थे। अथवा यों कहा जाय कि 'परंतप' शतानीक का ही दूसरा नाम उसी प्रकार था[2] जिस प्रकार बिंबसार का श्रेणिक और अजातशत्रु का कुणिक। ऐसी अवस्था में बुद्धघोष का परंतप को उदयन का पिता कहना युक्ति-संगत ही है।

इस प्रकार उदयन के पिता का नाम निश्चित होने के उपरांत उसकी माता के नाम का भी विचार करना चाहिए। 'कथासरित्सागर' के अनुसार उसकी माता का नाम मृगावती था।[3] जैन ग्रंथ भी इस बात से सहमत हैं।[4] संस्कृत ग्रंथ अधिकतर इस विषय में मौन हैं।

यद्यपि नाम विशेष में 'कथासरित्सागर' और जैन ग्रंथ दोनों का मतैक्य है फिर भी उसके कुल के विषय में दोनों में बड़ा भारी मतभेद है। 'कथासरित्सागर' के अनुसार मृगावती अयोध्याधीश कृतवर्मन् की पुत्री थी।[5] भास अपने नाटक 'स्वप्नवासव दत्ता' में उदयन को वैदेही-पुत्र कहता है[6] अर्थात् इससे मृगावती का विदेहराज-पुत्री होना सिद्ध होता है। इस समस्या को सुलझाने में जैन-ग्रंथों से बहुत कुछ सहायता मिलती है। जैन ग्रंथों से इस बात का पता लगता है कि लिच्छवियों के नायक चेटक को सात कन्याएँ थीं। उनमें से एक जैन भिक्षुणी हो गई और शेष छहों का भिन्न भिन्न देश के राजाओं से विवाह कर दिया गया।[7] उनकी सूची इस प्रकार है—

१—लॉकोतकृत गुणाढ्य ऐंड बृहत्कथा, मिथिक सोसाइटी जर्नल, भाग १२-१३, पृष्ठ १४।

२—जैनिज्म इन नार्थ-इंडिया, पृष्ठ ९५, पाद-टिप्पणी।

३—२,१,४२।

४—वत्सराजोदयन-प्रबंध, प्रबंध-कोष, पृष्ठ ८६; कौशांबी-नगर-कल्प, विविध-तीर्थ-कल्प, पृष्ठ २३।

५—२,१,४०-४२।

६—'सदृशमेतद् वैदेहीपुत्रस्य'। -अंक ६, श्लोक ६ के पश्चात् कंचुकी का कथन।

७—आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ६७६।

१—प्रभावती—वीतिभय के राजा उदायन।
२—पद्मावती—चंपा के राजा दधिवाहन।
३—मृगावती—कौशांबी के राजा शतानीक।
४—शिवा—उज्जयिनी के राजा प्रद्योत।
५—ज्येष्ठा—महावीर के बड़े भाई नंदिवर्धन।
६—चेल्लना—राजगृह के राजा श्रेणिक (बिंबसार)।

मृगावती के विषय में आए हुए अन्य उल्लेख भी उपर्युक्त विधान की पुष्टि करते हैं। विनयविजयगणिन् के मतानुसार महावीर जब कौशांबी गए थे उस समय वहाँ का राजा था शतानीक और रानी थी मृगावती।[१] 'प्रबंधकोष'कार का भी यही मत है।[२] 'विविध-तीर्थ-कल्प' भी इसी मत की पुष्टि करता है।[३] यह तो हुई जैन ग्रंथों की बात। संस्कृत साहित्य में जो उदयन-विषयक प्रमुख ग्रंथ समझा जाता है उस 'कथा-सरित्सागर' का भी मत उपर्युक्त विधान का पुष्टिकर्ता है,[४] यद्यपि जैसा कि अभी हम ऊपर बतला आए हैं उदयन के पिता के नाम के विषय में अन्य ग्रंथों से उसका मतैक्य नहीं है।

अब यह देखना है कि भास ने उदयन को जिस वैदेही का पुत्र कहा है वह वैदेही कौन थी। क्या वह मृगावती ही थी? अभी हम देख आए हैं कि मृगावती लिच्छवियों के नायक चेटक की तीसरी कन्या थी। ऐसी अवस्था में उसे वैदेही कहना ठीक नहीं ज्ञात होता। परंतु ऐसा ही एक उदाहरण हमें बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। बिंबसार-पुत्र अजातशत्रु को भी पालि-ग्रंथों में वैदेही-पुत्र कहा गया है।[५] यद्यपि चेटक स्वयं लिच्छवी था तथापि उसकी भगिनी तृषला, महावीर की माँ, को विदेहदत्ता कहा गया है और पुत्री को वैदेही।[६] इससे यह सिद्ध होता है कि विदेह और वैशाली में किसी न किसी प्रकार का पारस्परिक संबंध अवश्य था। यह भी संभव है कि कुछ विदेहनिवासी वैशाली में बस गए हों और चेटक तथा उसका परिवार इन्हीं विदेह-निवासियों में से हो। महावीर को भी, जिनका जन्म वैशाली के समीप कुंडन ग्राम में हुआ था, जैन ग्रंथों में ज्ञात्री-क्षत्रिय-कुल-चंद्र विदेह, विदेहदत्ता-सुत, विदेहकुमार यही नहीं विदेहनिवासी भी कहा गया है।[७] यह विधान हमारी उपर्युक्त धारणा की पुष्टि करता है। ऐसी अवस्था में उदयन को वैदेही-पुत्र कहना असंगत नहीं प्रतीत होता। 'कथासरित्सागर' में यद्यपि मृगावती को अयोध्या-

---

१—कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, पृष्ठ २५७।
२—'चेटकराजनन्दिनी मृगावती', प्रबंध-कोष, पृष्ठ ८६-८७।
३—'मिगावई कुक्खिसंभवो'। -विविध-तीर्थ-कल्प, पृष्ठ २३।
४—कथासरित्सागर २,१,४२।
५—रिस् डेविडकृत कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव् इंडिया, भाग १, पृष्ठ १८३।
६—राय चौधरीकृत पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव् इंडिया, पृष्ठ १०६।
७—श्री शाहकृत जैनिज्म इन नार्थ इंडिया, पृष्ठ ८६-८७।

धीश कृतवर्मा की कन्या बतलाया गया है तथापि उसमें कुछ भी तथ्यांश नहीं ज्ञात होता। क्योंकि उसका समर्थन किसी भी ग्रंथ द्वारा नहीं होता है।

जन्म और शैशव—इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चंद्रवंशीय वत्स-सम्राट् शतानीक और विदेहकुमारी मृगावती से हमारे चरित्रनायक का जन्म हुआ था। उदयन के जन्म के विषय में भी बड़ी मनोरंजक कथाएँ प्राप्त होती हैं। 'कथा-सरित्सागर' में वर्णित कथा इस प्रकार है—

"सहस्रानीक (शतानीक) और मृगावती कौशांबी में रहा करते थे। तिलोत्तमा अप्सरा का ऐसा शाप था कि इन दोनों का वियोग हो। इन दिनों मृगावती गर्भवती थी। राजा ने एक दिन उससे दोहद पूछे। मृगावती ने यह इच्छा प्रदर्शित की कि मैं रक्त से भरे हुए कुंड में स्नान करूँ। राजा ने उसकी इच्छा अन्य प्रकार से पूरी करने की सोची। एक बड़े भारी कुंड में रक्तवर्ण का जल भरवाया गया और रानी को अपनी इच्छा पूर्ण करने के लिये कहा गया। मृगावती उस कुंड में प्रसन्न चित्त से स्नान कर बाहर आई। आकाश-संचारी एक पक्षी ने मृगावती का रक्त से सना शरीर देख उसे खाद्य-वस्तु समझकर हरण कर लिया और उदयाद्रि नामक एक पर्वत पर उसे रख दिया। वहाँ पर रहनेवाले जमदग्नि ऋषि ने मृगावती को बचाया। उसी पर्वत पर उदयन का जन्म हुआ।"

इसी के अंतर्गत एक शबर कथा भी आती है जिसमें एक सर्प को बचाने के निमित्त उदयन को तीन अमूल्य वस्तुएँ--वीणा, तांबूली और अम्लान माला—प्राप्त हो जाती हैं और अंत में चमत्कारपूर्ण प्रकार से पिता-पुत्र का मिलन होता है।[1]

इसी प्रकार की एक कथा हमें बौद्ध साहित्य से मिलती है। वहाँ पर यही कथा थोड़े से हेरफेर के साथ कही गई है। वत्सराज परंतप ने अपनी गर्भिणी रानी (मृगावती) को एक लाल दुशाला ओढ़ा दिया और उसके हाथ में एक अमूल्य मुद्रिका भी पहना दी। ठीक उसी समय आकाश में एक 'हत्तिलिंग' उड़ता हुआ आया और उसे हरण कर ले गया। उसने उड़कर उसे एक बट-वृक्ष पर रख दिया और स्वयं विश्राम करने लगा। इतने में स्वसंरक्षण-हेतु मृगावती चिल्लाई और 'हत्तिलिंग' भय से भाग गया। उसी वृक्ष पर मृगावती के गर्भ से उदयन जन्मा। उस समय उसे शीत, उष्ण और वर्षा इन तीन ऋतुओं का एक साथ अनुभव हुआ। वहीं पर एक ऋषि रहते थे। उन्हीं से नूतन बालक ने जिसका नाम उदयन रखा गया था, गजवशीकरण विद्या प्राप्त की। तत्पश्चात् वश किए हुए हाथियों तथा उस लाल दुशाले और मुद्रिका की सहायता से उसने अपने पिता से राज्य प्राप्त किया।[2]

इन दोनों कथाओं में बहुत कुछ साम्य प्रतीत होता है, परंतु किसी को भी पूर्ण ऐतिहासिक मानना असंभव है। 'कथासरित्सागर'वाली कथा से बुद्धघोष की कथा

१—कथासरित्सागर २, १, ८८ तथा २, २, २०५-२०७।

२—श्री घोष कृत अर्ली हिस्ट्री ऑव् कौशांबी, पृष्ठ १२-१३।

में चमत्कार तथा अद्भुत रस की मात्रा अधिक है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि सोमदेव ने चमत्कार-कथन छोड़ ही दिया हो। अब यह देखना है कि इन दोनों कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन हमें किन ऐतिहासिक निष्कर्षों पर पहुँचाता है। दोनों कथाओं से ये बातें स्पष्ट होती हैं। उदयन का जन्म कौशांबी में नहीं हुआ था। उसके जन्मकाल में मृगावती और शतानीक वियुक्त थे। उदयन का सारा शैशव कष्टमय परिस्थिति में ही बीता था और राज्य प्राप्त करने के लिये उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था।

अन्य बौद्ध ग्रंथ इसके जन्म के विषय में अधिक नहीं बतलाते। इतना अवश्य कहा जाता है कि उदयन का जन्म ठीक उसी दिन हुआ था जिस दिन गौतम बुद्ध ने जन्म लिया था। उसी दिन श्रावस्ती में प्रसेनजित्, राजगृह में बिंबसार और उज्जयिनी में प्रद्योत भी जन्मे थे। ये सब लोग सहजात कहे जाते हैं।[१]

अध्ययन—उदयन के अध्ययन के विषय में भी साहित्य-ग्रंथों से अधिक ज्ञात नहीं होता, तथापि इने-गिने उल्लेखों से निम्नांकित बातें जानी जा सकती हैं। उसने गज-वशीकरण विद्या भी सीख ली थी।[२] वह गान-विद्या में अत्यंत पटु था।[३] इसलिये वह 'नाद-समुद्र' नामक पदवी से विभूषित था।[४] उसे अत्युच्च कोटि का वीणावादन आता था। अवंति के राजा प्रद्योत ने उसे अपनी कन्या के लिये उपयुक्त शिक्षक समझा था। 'कथासरित्सागर' में वर्णित दिग्विजय को देखकर तथा अन्य स्थलों पर किए गए उनके वर्णनों को पढ़कर कहा जा सकता है कि वह युद्ध-कला में भी निपुण था। जैन ग्रंथों में उसे कलासक्त, धीर और ललित नायक कहा गया है।[५] इससे स्पष्ट होता है कि उसने कलाओं का विशेषकर ललित कलाओं का अच्छा अध्ययन किया था। इसके सिवा 'प्रियदर्शिका' से यह ज्ञात होता है उसे सर्पविष हरण करने की भी विद्या अवगत थी[६] जिसके बल पर उसने प्रियदर्शिका को विष-प्रभाव से बचा लिया। इसी नाटक के बल पर उसका अभिनय-पटुत्व भी सिद्ध होता है।

रानियाँ

संस्कृत का उदयन-विषयक साहित्य उसके प्रेमी रूप का ही अधिक वर्णन करता है। बौद्ध और जैन साहित्य भी उदयन की प्रेम-विषयक कथाओं से रिक्त नहीं हैं। तीनों साहित्य वत्सराज की अनेकानेक पत्नियों की चर्चा करते हैं। प्रथम संस्कृत

१—रॉकहिल कृत लाइफ ऑव् बुद्ध, पृष्ठ १६।

२—गज-हृदयानि बलाद् वशीकरोति। —प्रतिज्ञायौगंधरायण, अंक, २ श्लोक १२।

३—'गंधव्व 'वेयनिवुणो' ।—विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ २३-२४।

४—प्रबंध-कोष, पृष्ठ ८६।

५—प्रबंध-कोष, पृष्ठ ८६।

६—'नागलोकादृगृहीतविषविद्यं आर्यपुत्रम्'। —प्रियदर्शिका, अंक ४, श्लोक ७ के पश्चात्।

साहित्य देखिए। 'कथासरित्सागर' में उदयन की तीन पत्नियाँ बतलाई गई हैं—वासवदत्ता, बंधुमती और पद्मावती[1]। श्रीहर्ष ने उसकी दो और पत्नियों का वर्णन किया है—अंगदेश की राजकुमारी प्रियदर्शिका तथा सिंहल की राजकुमारी रत्नावली।[2] बौद्ध साहित्य में भी उसकी दो रानियों का उल्लेख मिलता है—शामावती और माकंदिका।[3] जैन ग्रंथों द्वारा वासवदत्ता, पद्मावती, वसुदत्ती और सुवीणा ये चार भार्याएँ बतलाई गई हैं।[4] हो सकता है कि इनी गिनी रानियों के अनेक नामों को लेकर इस कथा-भांडार का सर्जन किया गया हो, परंतु प्रथमत: इन तीनों साहित्यों में उल्लिखित राजकुमारियों का पृथक् पृथक् विचार करने के उपरांत ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचना ठीक होगा।

वासवदत्ता—वासवदत्ता का नाम संस्कृत तथा जैन साहित्य दोनों में समान रूप से आता है। संस्कृत साहित्य में उसके परिणय की पूरी कथा मिलती है। जैन 'प्रबंधकोष'कार ने भी उसका उदयन-पत्नी होना स्वीकार किया है।[5] उदयन और वासवदत्ता का विवाह भास के 'प्रतिज्ञायौगंधरायण' की मुख्य कथा-वस्तु बना है। यद्यपि 'कथासरित्सागर' और 'प्रतिज्ञायौगंधरायण' की कथा में किंचित् भिन्नता है तथापि वह भिन्नता ऐसी नहीं है जिससे मूल ऐतिहासिक तत्त्वों में ही परिवर्तन हो। दोनों का सार यही है कि अवंतिनाथ प्रद्योत छल से उदयन को बंदी बनाता है। अवंती में आने पर उदयन को राजकुमारी वासवदत्ता को वीणा-वादन सिखाने का कार्य सौंपा जाता है। शनैः शनैः उदयन और वासवदत्ता में प्रणय उत्पन्न हो जाता है और एक दिन उदयन अपने मंत्री यौगंधरायण की सहायता से वासवदत्ता का हरण कर लेता है। प्रद्योत को जब यह बात ज्ञात होती है तब वह मन में प्रसन्न होते हुए भी उदयन का विरोध करता है, परंतु अंततोगत्वा अपने पुत्र गोपालक को भेजकर विवाह संपन्न करा ही देता है।

कुछ दिनों पूर्व कौशांबी से प्राप्त तीन मृण्मय आलेखों पर इसी कथा का पूर्ण अंकन किया हुआ है। ये ईसा-पूर्व दूसरी शती के हैं।[6] अतएव यह कथा उस समय भी लोकविश्रुत रही होगी ऐसा मानने में कोई हानि नहीं। वासवदत्ता की इस कथा का उल्लेख श्रीहर्ष ने अपने नाटकों में किया है।[7] वासवदत्ता के विषय में उपर्युक्त ग्रंथों को देखते हुए ये बातें बतलाई जा सकती हैं—वासवदत्ता उज्जयिनी के राजा चंडप्रद्योत की पुत्री थी। उदयन से इसके विवाह की कथा हम बतला आए हैं। उसका पति-प्रेम अप्रतिम है। उदयन-पद्मावती-विवाह की यौगंधरायण की योजना

१—२, ६, २७; ३, २, ६२-८५; २, ६, ६९।

२—रत्नावली और प्रियदर्शिका।

३—दिव्यावदान, अध्याय ३६।

४—प्रबंधकोष, पृष्ठ ८८ और करिकंडु-चरिउ, ६, १, ५, पृष्ठ ५४।

५—वही, पृष्ठ ८८।

६—जर्नल ऑव् दि यू० पी० हिस्टॉरिकल सोसाइटी, पन्नालाल नंबर, पृष्ठ ८२।

७—'राजा—···न खलु सर्वो वत्सराजो य एवं वासवदत्तामवाप्य बन्धनान्निर्यास्यति।'—प्रियदर्शिका, अंक १, ७।

उसके लिये कटुतम होते हुए भी अपने पति के सुख एवं ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये उसे मान्य होती है। हम आगे बतलाएँगे कि यौगंधरायण की इस योजना का वर्णन भी ऐतिहासिक आधार पर ही अवलंबित है। वासवदत्ता में स्त्री-सुलभ मात्सर्य भी निहित है जिसके ही कारण वह रत्नावली और प्रियदर्शिका दोनों को बंदीगृह भिजवाने में भी नहीं हिचकती।[1] इसके अतिरिक्त उसमें मान भी कम नहीं है। उदयन को पैरों पर गिरते देखकर भी उसका हृदय नहीं पसीजता।[2] परंतु इसके साथ साथ उसके हृदय की कोमलता भी नहीं छिपती। पद्मावती की अस्वस्थता से वह स्वयं अस्वस्थ हो जाती है।[3] आरण्यिका के विषपान की वार्ता पाकर तथा यह जानकर कि वह मेरी भतीजी है वह व्याकुल हो उठती है।[4] उदयन के हृदय पर उसका पूरा अधिकार है। अन्य पत्नियों को चाहते हुए भी वह उसे नहीं भूलता।[5] संस्कृत साहित्य में उसके देवपूजन का भी वर्णन आता है। कभी वह मन्मथ-पूजन करती हुई[6] तथा कभी यक्षिणी के दर्शन को जाती हुई[7] दिखाई देती है। संक्षेपतः वह एक आर्य नारी का उत्तम आदर्श है।

पद्मावती—पद्मावती उदयन की द्वितीय भार्या थी। 'कथासरित्सागर' तथा 'स्वप्न-वासवदत्ता' दोनों से यह सिद्ध होता है कि वत्स को शक्तिशाली बनाने के लिये ही यह संबंध किया गया था। 'अर्थशास्त्र' से भी इस घटना की ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है।[8] भास के कथनानुसार ही यौगंधरायण ने खोए हुए वत्सराज्य की प्राप्ति के लिये इस संबंध की आयोजना की थी अथवा जैसा 'कथासरित्सागर' बतलाता है कि नवीन राज्यों से मैत्री-स्थापना के लिये यह संबंध किया गया था—इसका विचार हम अन्यत्र करेंगे। प्रकृत अवस्था में इतना ही बतलाया जा सकता है कि यह संबंध हुआ अवश्य था और इसमें यौगंधरायण का भी बहुत कुछ हाथ था। मगध वत्स का निकटस्थ देश था और किसी भी अवस्था में उससे मैत्री-भाव का रहना आवश्यक था। इतिहास में इस प्रकार मैत्री-स्थापना के लिये किए गए वैवाहिक संबंधों की कोई कमी नहीं है।

पद्मावती मगधराज दर्शक की भगिनी थी।[9] 'बृहत्कथामंजरी' के अनुसार वह मगध के तत्कालीन अधिपति प्रद्योत की पुत्री थी।[10] 'कथासरित्सागर' भी इससे सहमत

१—रत्नावली और प्रियदर्शिका, अंक ३ का अंतिम भाग।
२—वही।
३—'वासव—अहो अकरुणा खु इस्सरा मे···' इत्यादि। —स्वप्नवासवदत्ता ५, ६ के पश्चात्।
४—'वासव—···लब्धिहैवानयताम्···'इत्यादि। —प्रियदर्शिका ४, ७ के पश्चात्।
५—स्वप्नवासवदत्ता ४, ४।
६—'उभे—···एवं देवी विज्ञापयसि···'इत्यादि। —रत्नावली, १, १६ के पश्चात्।
७—'विदू०—या सा कालाष्टमी अतिक्रान्ता····'इत्यादि।—प्रतिज्ञायौगंधरायण, ३, ५ के पश्चात्।
८—अर्थशास्त्र, शामशास्त्री का भाषांतर, पृष्ठ ३८७।
९—'कांचुकीय—···महाराजदर्शकस्य भगिनी पद्मावती···।'—स्वप्नवासवदत्ता, १,५ के बाद।
१०—लावाणक लंबक ३,९३।

है। 'प्रबंधकोष' के मतानुसार वह डाहल देश के राजा की कन्या थी।[1] यह दर्शक कौन था, 'कथासरित्सागर' में उल्लिखित प्रद्योत से उसका क्या संबंध था, प्रद्योत आवंत्य था या मागध, अथवा क्या ये दोनों भिन्न भिन्न व्यक्ति थे, नामसादृश्य के कारण कथा-लेखकों ने इस प्रकार की गड़बड़ी उत्पन्न कर दी, इन सब बातों का विस्तृत विवेचन उदयन के काल-निर्णय की चर्चा करने के समय आगे करेंगे। यहाँ पर इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि संभवतः दर्शक 'कथासरित्सागर' में वर्णित राजा का ही पुत्र रहा होगा, केवल 'कथासरित्सागर' का मूल पाठ 'प्रद्योत' न होकर 'प्राद्योत' (प्रद्योत के वंश में उत्पन्न बालक) रहा होगा। उन दिनों मगध की राजधानी राजगृह थी।[2] पद्मावती की माता उन दिनों जीवित थी जब उदयन और पद्मावती का विवाह हुआ था।[3] 'कथासरित्सागर' में वर्णित तथा भास के 'स्वप्नवासवदत्ता' में कथित कथा में अधिक अंतर नहीं है। यौगंधरायण ने इस विवाह को संपन्न कराने के लिये एक जाल रचा। जिस समय उदयन शिकार खेलने के लिये लावाणक (मगध का निकटस्थ प्रदेश)[4] गया हुआ था उस समय यौगंधरायण ने गुप्त रूप से वासवदत्ता को वहाँ से हटाकर अपने मित्र रुमण्वान द्वारा अंतःपुर में आग लगवा दी। तदुपरांत जनता में यह प्रगट किया गया कि अंतःपुरवाली आग में महारानी वासवदत्ता भी जल गई। उदयन को भी यही समाचार दिया गया। इधर यौगंधरायण ने वासवदत्ता का वेष बदलकर उसे अपनी भगिनी वा कन्या के रूप में किसी बहाने से पद्मावती के पास धरोहर रख दिया। इस प्रकार अपत्नीक बने हुए उदयन को मगधराज ने पद्मावती देने की बात चलाई और अंततोगत्वा दोनों का विवाह भी हो गया। तदुपरांत यौगंधरायण ने ही सारा भेद खोल दिया और उदयन-वासवदत्ता का पुनर्मिलन हुआ।

पद्मावती रूप, शील तथा माधुर्य से युक्त थी।[5] वह धर्मभीरु भी थी।[6] बड़ों का आदर करना उसके चरित्र का वैशिष्ठ्य है। मात्सर्य उसे छू भी नहीं गया था। यह जानकर भी कि पति अद्यापि वासवदत्ता को प्यार करता है, वह विचलित नहीं होती। वासवदत्ता के प्रगट होने पर भी उसका व्यवहार एक सा बना रहता है। यहाँ पर इस बात को ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि पद्मावती का चरित्र-चित्रण हम केवल 'स्वप्नवासवदत्ता' के ही आधार पर कर रहे हैं। नाटक होने के कारण यह पूर्ण ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता।

१—प्रबंधकोष, पृष्ठ ८८।

२—'कांचुकीयं—···राजगृहमेव यास्यति'।— स्वप्नवासवदत्ता, १,५ के बाद।

३—(क)'···महाराजमातरं महादेवीमाश्रमस्थामभिगम्य'।—स्वप्नवासवदत्ता, १,५ के बाद।
(ख) बृहत्कथामंजरी, ३,८१।

४—कथासरित्सागर, ३,१,११९।

५—'पद्मावती बहुमता मम यद्यपि रूपशीलमाधुर्यैः'।—स्वप्नवासवदत्ता, ४, ४।

६—'धर्मप्रिया नृपसुता·····'।—वही १, ६।

बंधुमती, रत्नावली और प्रियदर्शिका—'कथासरित्सागर' में उदयन की जिस तीसरी पत्नी का भी वर्णन आता है वह है बंधुमती।[1] 'कथासरित्सागर' के अनुसार वासवदत्ता के भाई गोपालक ने बंधुमती नामक राजपुत्री का पराक्रम से हरण कर उसे अपनी बहिन को सौंपा था। एक दिवस उदयन की और बंधुमती की लतागृह में भेंट हुई। तत्पश्चात् वसंतक की सहायता से उदयन ने गांधर्व विधि द्वारा उससे विवाह भी कर लिया। उस पर वासवदत्ता का क्रुद्ध होना स्वाभाविक ही था। उसने वसंतक और बंधुमती दोनों को बंदीगृह भेजवा दिया। पश्चात् सांकृत्यायनी नामक एक प्रव्राजिका की मध्यस्थता से सबों में मेल हो गया। बंधुमती के पिता का नाम 'कथासरित्सागर' में नहीं बतलाया गया है। संभवतः वह प्रद्योत या उसकी ओर से युद्ध करनेवाले गोपालक द्वारा विजित किसी समीपवर्ती राजा की कन्या होगी। श्रीहर्ष ने अपने नाटकों के लिये यही कथा-वस्तु ली है। अंतर नामों का है। रत्नावली को उसने सिंहलाधीश की पुत्री बतलाया है और प्रियदर्शिका को अंगपति दृढ़वर्मा की कन्या। इसके अतिरिक्त दोनों कथाएँ, यदि वस्तु को चरित्र-प्रधान और घटना-प्रधान बनाने के लिये नाटककार की बरती हुई स्वतंत्रता को छोड़ दिया जाय, तो एक सी ही हैं। दोनों मुग्धा नायिका के रूप में दिखलाई गई हैं और वासवदत्ता की तुलना में दोनों सामान्या ही हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि 'कथासरित्सागर' की बंधुमती को ही रत्नावली और प्रियदर्शिका के रूप में नाटककार ने सामने रखा है।

अब हम बौद्ध साहित्य में वर्णित उदयन-पत्नियों की ओर ध्यान देते हैं। 'दिव्यावदान' हमें उसकी दो पत्नियों के विषय में बहुत कुछ बतलाता है।

शामावती—"एक दिन उदयन ने अपने प्रासाद के बाहर बैठी हुई तरुण शामावती को देखा। देखते ही वह उस पर मोहित हो गया। पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह 'वड्डवई' देश के सेठ 'वड्डवत्ती' की कन्या है। परंतु वहाँ अकाल पड़ने के कारण कौशांबी के सेठ घोषित द्वारा गोद ले ली गई है। उदयन ने उससे विवाह कर लिया और शनैः शनैः वह पट्टमहिषी भी हो गई।"[2] इसी शामावती के विषय में दिव्यावदान[3] में भी बहुत कुछ लिखा है। इस ग्रंथ के अनुसार वह श्रमण गौतम की उपासिका थी। इसकी और भी सखियाँ बौद्ध ही थीं। उस कन्या के ऊपर गौतम का विशेष अनुग्रह था। गौतम के लिये यह सब कुछ करने को तैयार थी। उदयन की भी इसके आगे कुछ नहीं चलती थी। अनुपमा और माकंदिका द्वारा रचे गए षड्यंत्र के फलस्वरूप यह और इसकी सखियाँ जला दी गईं।

१—कथासरित्सागर, २, ६, ६७-७३।

२—श्री घोषकृत अर्ली हिस्ट्री ऑव् कौशांबी, पृष्ठ १३।

३—दिव्यावदान, अध्याय ३६।

अनुपमा—'दिव्यावदान' में शामावती की कथा के साथ हमें अनुपमा की कथा भी पूर्ण विस्तार के साथ मिलती है। परंतु मूल ऐतिहासिक अग्निकणों के ऊपर बौद्ध प्रभाव की इतनी अधिक राख जमी हुई है कि मूल अग्नि का पता पाना असंभव सा है। वर्णित कथा इस प्रकार है—

'माकंदिक नामक एक परिव्राजक अपनी कन्या अनुपमा को लेकर कौशांबी आया। वह वहाँ के राजकीय उद्यान में पहुँचा। सेवकों से अनुपमा के रूप का वर्णन सुनकर उदयन भी वहाँ पहुँचा और माकंदिक की संमति से उसने अनुपमा से विवाह किया। अब माकंदिक को मंत्री बना दिया गया। अनुपमा अपनी सपत्नी शामावती से बहुत जलती थी। उसने अनेक युक्ति-अयुक्तियों द्वारा उदयन के मन में यह बात भर दी कि शामावती गौतम के लिये सब कुछ करने को तैयार है, परंतु उदयन के लिये नहीं। फलत: उदयन शामावती को मारने गया, परंतु उसके बाण शामावती का कुछ भी न बिगाड़ सके। इससे उदयन बहुत प्रसन्न हुआ और उसने शामावती के लिये उपासना करने की पूरी व्यवस्था कर दी।

एक बार किसी विद्रोही को दबाने के लिये जब मंत्री माकंदिक को नगर-व्यवस्था सौंपकर उदयन बाहर गया हुआ था तब अनुपमा ने अपने पिता को स्वदु:ख-निवेदन द्वारा प्रभावित कर शामावती का प्रासाद दग्ध करने के लिये बाध्य किया। माकंदिक ने प्रासाद में छल द्वारा भूर्जपत्रादि अग्निग्राही वस्तुओं को एकत्र करा उसमें आग लगा दी। शामावती और उसकी सखियों ने आकाश-गमन की सिद्धि से युक्त होते हुए भी उसी में अपने को भस्म करा दिया। आग बुझाने के लिये दौड़ आनेवाले नगर-निवासियों को माकंदिक ने हठात् रोक दिया था। इस प्रकार अनुपमा ने सपत्नी से बदला लिया।

धीरे धीरे उदयन को इसकी वार्ता मिली। क्रुद्ध होकर उसने माकंदिक और अनुपमा को इसी प्रकार जला डालने की आज्ञा दी, परंतु यौगंधरायण की युक्ति से वे दोनों बच गए।'

वसुदत्ता और सुवीणा—जैन साहित्य हमें उसकी दो पत्नियों के नाम बतलाता है—वसुदत्ता और सुवीणा। 'प्रबंधकोष'[1] वसुदत्ता के विषय में निम्नांकित कथा बतलाता है—'पाताल के क्रौंचहरण नामक नगर में वासुकी राज्य करता था। उसी की कन्या का नाम वसुदत्ता था। कौशांबी के नयनाभिराम उद्यानों का वर्णन सुनकर यह कन्या एक दिन अपनी सखियों के साथ वहाँ क्रीड़ा करने के लिये गई। उद्यान-पालकों ने उदयन को इस कन्या के आने का समाचार दिया। उदयन उसे देखने के लिये वहाँ आया। जैसे ही वह इसकी ओर बढ़ा वैसे ही वसुदत्ता एक बिलमार्ग में प्रविष्ट हो गई। फलत: उदयन उसे न पा सका केवल उसकी वेणी उदयन के हाथ में आ गई। राजा ने तलवार से उसकी वेणी काट ली। तदुपरांत वह उसके विरह से अत्यंत व्याकुल हुआ और उसने पुरवासियों को आज्ञा दी

१—प्रबंधकोष, पृष्ठ ८६, ८७।

कि वेणी को सिंहासन पर बैठाकर राज्य चलाया जाय और स्वयं विरहावेग में सब कुछ छोड़कर एकांत में जा बैठा। इधर जब नागराज को पुत्री के वेणीहरण की सूचना मिली तब क्रुद्ध हो उसने अपने सेनापति तक्षक को उदयन का नाश करने के लिये भेजा। परंतु कौशांबी में वेणी-राज्य की वार्ता सुन तथा तापस वत्सराज को देखकर तक्षक का विचार बदला और उसने वासुकी से यह विवाह करा देने की प्रार्थना की। इस प्रकार विवाह संपन्न हो गया।

सुवीणा[1] के केवल नाम का उल्लेख हमें 'करकंडु-चरिउ' में मिलता । इस ग्रंथ से हम इतना ही जानते हैं कि वह नरवाहनदत्त की माता थी।

इस प्रकार इन भिन्न भिन्न कथाओं को देखने के बाद अब उनकी मीमांसा कर किसी ऐतिहासिक निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। बौद्ध ग्रंथों को छोड़कर वासवदत्ता का पटरानी होना सबको मान्य है। बौद्धों के अनुसार शामावती उदयन की पट्टमहिषी थी। वासवदत्ता तथा शामावती की कथाओं में निम्नलिखित बातें समान ज्ञात होती हैं—

१—दोनों उदयन की पटरानियाँ थीं।

२—दोनों का उदयन पर पूर्ण प्रभाव था। हम ऊपर देख चुके हैं कि वह वासवदत्ता को प्रसन्न करने के लिये उसके पैरों पर गिरने में भी नहीं हिचकिचाता। इधर शामावती के विरुद्ध अनुपमा उसके अनेक प्रकार से कान भरने की चेष्टा करती है तथापि उदयन उधर ध्यान नहीं देता[2] और बाद में उसके प्रभाव को देखकर पूर्ण प्रभावित हो जाता है।[3]

३—हम ऊपर कह आए हैं कि वासवदत्ता धर्मभीरु थी। शामावती में भी वह बात प्रत्यक्ष है। उसके धार्मिक प्रभाव के ही कारण उदयन के बाणों को निष्फल करने की तथा आकाशागमन की सिद्धियाँ उसके पास हैं।

४—वासवदत्ता पद्मावती के प्रति मात्सर्य की भावना से अभिनिविष्ट नहीं है। शामावती को भी अनुपमा से कोई द्वेष नहीं है।

५—उदयन की अनुपस्थिति में दोनों पटरानियों का अग्नि में जलना दोनों ग्रंथों को मान्य है। अंतर केवल इतना ही है कि एक में वह यौगंधरायण की नीति का एक भाग है और दूसरे के अनुसार अनुपमा के षड्यंत्र का फल।

इन आधारों पर कहा जा सकता है कि संस्कृत साहित्य की वासवदत्ता बौद्धों के वस्त्र पहनकर महाश्रमण गौतम की उपासना करती हुई शामावती के रूप में आई है, यद्यपि बौद्धों के द्वारा उसका और उसके पिता का नाम तथा उसके विवाह की कथा भी बदल दी गई है।

१—करकंडु-चरिउ, ६,१,५।

२—'मा संरभं कुरु उपासकैषा नात्रादोषः…'—दिव्यावदान, अध्याय ३६।

३—'…राजा विनीतः कथयति…'। वही।

उदयन की दूसरी रानी पद्मावती के विषय में भी बौद्ध साहित्य मौन है। परंतु जैसा हम ऊपर देख चुके हैं उसके अस्तित्व के प्रबल एवं पुष्ट प्रमाण उपस्थित हैं। अतएव इस मगधराज-पुत्री का वत्सराज उदयन से विवाह होना ऐतिहासिक माना जा सकता है।

अब 'कथासरित्सागर' की बंधुमती, श्रीहर्ष की प्रियदर्शिका और रत्नावली तथा बौद्ध ग्रंथों की अनुपमा का विचार करें। इनमें से प्रथम तीन का हम विचार कर आए हैं और यह बतलाने की चेष्टा की गई है कि श्रीहर्ष ने बंधुमती के ही ये दो नवीन नाम रखे हैं और नवीन कथाओं की सृष्टि की है। अनुपमा तथा बंधुमतीवाली कथा का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम निम्नांकित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१—दोनों कौशांबी में कहीं बाहर से दूसरों के द्वारा लाई गई थीं।
२—दोनों अत्यंत रूपवती थीं।[१]
३—उदयन से दोनों की प्रथम भेंट उद्यान में ही होती है।[२]
४—इनका उदयन से परिणय कराने में राजसेवक ही सहायक होते हैं।[३]
५—दोनों की कथाओं में उदयन रूपमुग्ध होकर ही गांधर्व विधि से विवाह करता है।

'कथासरित्सागर' में बंधुमती की कथा विस्तार से नहीं आई है। फलतः हम उसके परवर्ती चरित्र से अनभिज्ञ हैं। अन्यथा हमें अपने इस निष्कर्ष से कि अनुपमा ही 'कथा-सरित्सागर' की बंधुमती है, जाँच करने में बड़ी सहायता मिलती है। उपर्युक्त साम्य के अतिरिक्त इन दोनों की कथाओं में एक भेद भी दिखाई देता है। 'कथासरित्सागर' में बंधुमती को राजकुमारी कहा गया है और 'दिव्यावदान' में परिव्राजक-पुत्री। परंतु 'परि-व्राजक-पुत्री' समास में ही स्पष्ट विरोध दिखाई पड़ने से स भेद का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। साथ ही साथ भारतीय इतिहास स्वेच्छापूर्वक तोड़ मरोड़ करनेवाले बौद्धों की कथाओं में इस प्रकार के भेद का कोई विशेष मूल्य नहीं रखते।

अब केवल जैनों की वसुदत्ती पर विचार करना शेष रह जाता है। वसुदत्ती वासवदत्ता नहीं हो सकती। वासवदत्ता और पद्मावती दोनों के भिन्न भिन्न स्वतंत्र उल्लेख 'प्रबंधकोष' में विद्यमान हैं।[४] तीसरी बच जाती है बंधुमती। इसकी तथा वसुदत्ती की कथा में साम्य और विरोध समान रूप से दिखाई पड़ते हैं। बंधुमती के समान

१—(क) कथासरित्सागर, २,६,६८।
(ख) 'दृष्टाहारिणीन्द्रियाणि सकृद्दर्शनादेव क्षिप्तहृदयः····'। —दिव्यावदान, अध्याय ३६।
२—(क) कथासरित्सागर, २,६,६९।
(ख) '···उद्याने अवस्थितः···उद्यानं गतः···'। —दिव्यावदान, अध्याय ३६।
३—(क) 'वसन्तकसहायः'। —कथासरित्सागर, २,६,६८।
(ख) '···उद्यानपालकपुरुषेण राज्ञा निवेदितम्'। —दिव्यावदान, अध्याय ३६।
४—'क्रमेण स वासवदत्तां चण्डप्रद्योतपुत्रीं पर्यणैषत्'।
'डाहलदेशाधिपपुत्रीं पद्मावतीं च'। —प्रबंधकोष, पृष्ठ ८८।

वसुदत्ती की भी उदयन से प्रथम भेंट उद्यान में ही होती है और वह उन पर मुग्ध हो जाता है। दोनों कौशांबी में अनायास ही चली आई थीं। उदयन ने स्वयं उनके लिये कोई प्रयास नहीं किया था। परंतु विरोध इस बात का है कि वसुदत्ती नागराज की पुत्री थी। उसके वियोग में उदयन ने राज त्याग किया था और इस विवाह के फलस्वरूप उसकी नागों से मित्रता हो गई थी। इस नागमैत्री का संकेत हमें 'प्रियदर्शिका' तथा 'कथासरित्सागर' में भी मिलता है, परंतु विवाह के अवसर पर नहीं विद्याध्ययन के अवसर पर।[1] इस कथा का विवेचन करते हुए निम्नांकित बातों का भी ध्यान रखना चाहिए —

१—यह कथा जैनों को भी संमत नहीं है, केवल विनोद के लिये कही गई है।[2]

२—'प्रबंधकोष' बहुत परवर्ती काल का ग्रंथ है।[3]

अतएव यह कहा जा सकता है कि उदयन-चरित्र के दो भिन्न भिन्न कथा-भागों को लेकर इस कथा का संकलन किया गया है। संभव है कि बंधुमती ही वसुदत्ती का रूप धारण कर आई हो और उदयन का नागराज से संबंध होने के कारण वह नागराज की पुत्री भी बना दी गई हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उदयन की वासवदत्ता, पद्मावती और मती ये तीन पत्नियाँ थीं।

१—देखिए पीछे पृष्ठ ३२।
२—प्रबंधकोष, पृष्ठ ८२।
३—वही, जिनविजय मुनि की भूमिका।

व्यंजना अर्थ का व्यापार है शब्द का नहीं

[प्रो० श्री कांतानाथ शास्त्री तेलंग, एम० ए०]

(१)

साहित्य-शास्त्र में व्यंजना दो प्रकार की मानी गई है—शब्दशक्तिमूला और अर्थशक्तिमूला। पहली को शाब्दी और दूसरी को आर्थी भी कहते हैं। व्यंग्यार्थ जहाँ शब्द की महिमा से निकले वहाँ शाब्दी और जहाँ अर्थ की महिमा से निकले वहाँ आर्थी व्यंजना मानी गई है। शाब्दी व्यंजना के भी दो भेद कहे गए हैं—(१) अभिधामूला और (२) लक्षणामूला। अनेकार्थक स्थल में प्रकरणादि अर्थ-नियामकों द्वारा प्रासंगिक अर्थ में अभिधा का नियंत्रण हो जाने पर अन्य (अप्रासंगिक) अर्थ की प्रतीति शाब्दी अभिधामूला व्यंजना द्वारा होती है। ऐसे ही अभिधा और लक्षणा द्वारा क्रमशः वाच्य और लक्ष्य अर्थ की प्रतीति हो जाने पर प्रयोजन का ज्ञान शाब्दी लक्षणामूला व्यंजना द्वारा होता है।

आर्थी व्यंजना तीन प्रकार की होती है—(१) वाच्यार्थमूला, (२) लक्ष्यार्थमूला और (३) व्यंग्यार्थमूला। वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य ये त्रिविध अर्थ वक्ता, बोधव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, प्रकरण, देश, काल, चेष्टा, (वक्ता और बोधव्य से भिन्न) अन्य व्यक्ति के सान्निध्य आदि की सहायता से अर्थांतर को व्यक्त करते हैं। ये सहायक कुल कितने हैं यह कहना कठिन है। सभी आचार्य इनकी संख्या के अंत में 'आदि' लगा देते हैं। इससे प्रतीत होता है कि ये और भी अनेक हो सकते हैं। अतः इनकी निश्चित संख्या नहीं दी जा सकती।

व्यंजना के पूर्वोक्त भेदों में से कोई न कोई व्यंजना ध्वनि के प्रत्येक भेद में होती है जिसे एकमात्र 'साहित्यदर्पण' कार ने ही स्पष्ट घोषित किया है। उनके अनुसार 'अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि' में लक्षणामूला और 'विवक्षितान्यपर-वाच्य-ध्वनि' में अभिधामूला व्यंजना होती है। इसे इस प्रकार और स्पष्ट किया जा सकता है। अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि के 'अर्थांतर-संक्रमित-वाच्य' भेद में 'प्रयोजनवती-उपादानलक्षणामूला-व्यंजना' होती है और उसी के 'अत्यंत-तिरस्कृत-वाच्य' भेद में 'प्रयोजनवती-लक्षणलक्षणामूला-व्यंजना' होती है। 'विवक्षितान्यपर-वाच्य-ध्वनि' के 'असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य' भेद में वाच्यार्थमूला व्यंजना होती है। वाचक शब्द अभिधा शक्ति द्वारा वाच्यार्थ-रूप विभावादिकों को उपस्थित करता है। तदनंतर वे विभावादिक रसादि-रूप व्यंग्यार्थ व्यक्त करते हैं। यहाँ यह प्रक्रिया इतनी शीघ्रता से होती है कि इसका क्रम लक्षित नहीं होता। इसी से इसे 'असंलक्ष्यक्रम-ध्वनि' कहते हैं।

'विवक्षितान्यपर-वाच्य-संलक्ष्यक्रम-ध्वनि' के शब्दशक्तिमूलक भेद में अभिधा-मूला व्यंजना होती है। ऐसे स्थलों में अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग होता है। प्रकरणादि अर्थ-नियामकों द्वारा अभिधा का प्रासंगिक अर्थ में नियंत्रण हो जाता है। अतः वह

दूसरा अर्थ उपस्थित नहीं कर सकती। फिर भी दूसरे अर्थ का ज्ञान तो होता ही है और वह ज्ञान भी किसी न किसी व्यापार द्वारा ही होता है। वह व्यापार और कोई नहीं व्यंजना ही है। क्योंकि अभिधा नियंत्रित हो जाने के कारण बेकार हो जाती है और मुख्यार्थ का बाध न होने से लक्षणा का प्रसार हो नहीं पाता। प्राचीन आलंकारिकों का यह मत ठीक प्रतीत नहीं होता। प्रासंगिक अर्थ का ज्ञान होने पर अप्रासंगिक संकेतित अर्थ भी अभिधा द्वारा उपस्थित नहीं होता—ऐसा मान लेने के लिये कोई प्रबल तर्क नहीं दिखाई देता। वस्तुतः प्रासंगिक और अप्रासंगिक दोनों अर्थ वाच्यार्थ ही होते हैं। ऐसे ही 'विवक्षितान्यपर-वाच्य-संलक्ष्यक्रम-ध्वनि' के अर्थशक्तिसूलक भेद में आर्थी व्यंजना होती है। ध्वनि के ये ही मुख्य भेद वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि, संकर, संसृष्टि आदि भेदों से अनेक प्रकार के होते हैं। इनमें से प्रत्येक में अभिधामूला, लक्षणामूला और आर्थी—इन त्रिविध व्यंजनाओं में से कोई न कोई अवश्य होती है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों के मत में व्यंजना शब्द और अर्थ दोनों का व्यापार है, किंतु विचार करने से व्यंजना व्यापार अर्थ का ही व्यापार ठहरता है। व्यंजना सर्वत्र आर्थी ही होती है, शाब्दी नहीं। क्योंकि व्यंग्यार्थ का शब्द के साथ प्रत्यक्ष कार्यकारण-भाव-संबंध नहीं है। कारण वही होता है जिसकी उपस्थिति कार्योत्पत्ति के नियत-पूर्व क्षण में अनिवार्यतया अपेक्षित होती है। किंतु व्यंग्यार्थ व्यक्त होने के नियत-पूर्व क्षण में शब्द उपस्थित नहीं रहता, कोई न कोई अर्थ ही उपस्थित रहता है। अतः व्यंग्यार्थ अर्थ से ही निकलनेवाला अर्थ है। द्वितीय अर्थ को प्रकाशित करने का कार्य पूर्व अर्थ किसी न किसी व्यापार द्वारा ही करता है। वह व्यापार अभिधा नहीं हो सकता। क्योंकि प्रथम अर्थ का द्वितीय अर्थ में संकेतग्रह नहीं रहता। यहाँ लक्षणा भी नहीं हो सकती। क्योंकि उसके हेतु मुख्यार्थ-बाधादि भी यहाँ नहीं रहते। जहाँ वे रहते हैं वहाँ तो लक्षणा ही मानते हैं। अतः परिशेषात् यहाँ व्यंजना व्यापार ही मानना पड़ता है और यह व्यापार शब्द से प्रत्यक्ष संबंध न रहने के कारण अर्थ का ही हो सकता है, शब्द का नहीं। प्राचीन आचार्यों ने ध्वनि के जितने उदाहरण दिए हैं उनकी परीक्षा करने से यही सिद्धांत स्थिर होता है।

शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के विषय में यह कहा जाता है कि यह वहीं होती है जहाँ अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग होता है। ऐसे स्थल में अभिधा का एक अर्थ में नियंत्रण हो जाने के कारण वह दूसरा अर्थ उपस्थित करने में अशक्त हो जाती है। अतः दूसरे अर्थ की प्रतीति व्यंजना-व्यापार द्वारा होती है और वही दूसरा अर्थ व्यंग्य होता है। यह व्यंग्य केवल वस्तु-रूप अथवा केवल अलंकार-रूप हो सकता है। ध्वनिकार का मत इससे कुछ भिन्न है। उनका कहना है कि यह ध्वनि ऐसे ही स्थल में होती है जहाँ वस्तु के साथ अलंकार भी शब्द की शक्ति से प्रकाशित होता है। जहाँ ऐसा न हो वहाँ शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नहीं हो सकती।[1] ध्वनिकार के इस कथन पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि

१—आक्षिप्त एवालंकारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः॥

जिसे वे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि समझ रहे हैं वह श्लेष-रूप अलंकार से अलंकारांतर की व्यंजना का उदाहरण है। यदि ऐसे स्थल में अलंकार व्यक्त करनेवाले द्वितीय अर्थ को वाच्य नहीं मानते तो यह द्वितीय अर्थ-रूपी वस्तु से अलंकार की व्यंजना का उदाहरण हुआ। दोनों ही अवस्थाओं में यह अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के क्षेत्र में चला जाता है। अतः इसे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि कहना भ्रम है।

अभिनवगुप्त का मत ध्वनिकार के मत से भिन्न प्रतीत होता है। इनके अनुसार अनेकार्थक स्थल में अभिधा का एक अर्थ में नियंत्रण हो जाने पर द्वितीय अर्थ की प्रतीति व्यंजना से ही होती है। यहाँ वस्तु के साथ अलंकार की व्यंजना होना आवश्यक नहीं है।[1] शब्दशक्तिमूलक ध्वनि केवल वस्तु-रूप तथा केवल अलंकार-रूप हो सकती है। साहित्य-शास्त्र के जो ग्रंथ उपलब्ध हैं उनको देखने से यही निष्कर्ष निकलता है कि इस सिद्धांत के प्रवर्तक अभिनवगुप्त ही थे। शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में केवल वस्तु-रूप व्यंग्य भी हो सकता है इसे सर्वप्रथम उन्होंने ही प्रतिपादित किया है। बाद के मम्मटादि आचार्यों ने उन्हीं का अनुसरण किया है।

ध्वनिकार और अभिनवगुप्त के बीच के काल में शब्दशक्ति-मूलक ध्वनि के तत्त्व पर बहुत वाद-विवाद हुआ। अनेक विद्वानों ने इस विषय में अपने मत व्यक्त किए। अभिनवगुप्त ने ऐसे चार प्रमुख मतों का संग्रह अपने 'लोचन' में किया है। उन मतों को जानने के पूर्व वह विवादस्थल भी जान लेना चाहिए जिसके कारण चार मत हो गए। विवादस्थल है—

'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः।'

प्रासंगिक अर्थ—इसी बीच वसंत समय का उपसंहार करते हुए फुल्लमल्लिका-रूपी धवल अट्टहासवाला भयानक ग्रीष्म ऋतु आरंभ हुआ।

अप्रासंगिक अर्थ—फुल्लमल्लिका के सदृश धवल अट्टहासवाला महाकाल।

प्रासंगिक और अप्रासंगिक अर्थ की रूपणा—ग्रीष्म-रूपी महाकाल।

यह गद्य बाणकृत 'हर्षचरित' के द्वितीय उच्छ्वास से लिया गया है। ऋतुवर्णन के इस प्रकरण में शब्दशक्तिमूलक ध्वनि की प्रतीति किस प्रक्रिया से होती है यह विवाद का विषय हुआ जिस पर विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हो गए। अभिनवगुप्त ने जो चार मत उद्धृत किए हैं, वे क्रमशः निम्नलिखित हैं—

यस्मादलंकारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स एव शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितः। वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः। —ध्वन्यालोक, पृष्ठ ९५, (काव्यमाला)।

१—अत्र ऋतुवर्णनप्रस्तावनियन्त्रिता अभिधाशक्तयः। अत एव 'अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी' इति न्यायमपाकुर्वन्तो महाकालप्रभृतयः शब्दा एकमेवार्थमभिधाय कृतकृत्या एव। तदनन्तरमर्थावगतिर्ध्वननव्यापारादेव शब्दशक्तिमूलात्। —लोचन, पृष्ठ ९९, (काव्यमाला)।

प्रथम मत[१]—इस वाक्य में प्रयुक्त 'महाकाल' आदि अनेकार्थक शब्दों की दूसरी अभिधा शक्ति पहले अप्रासंगिक अर्थ में भी देखी जा चुकी है। अतः केवल ऐसे प्रमाता को, जिसने पहले इन शब्दों की अभिधा शक्ति दूसरे अर्थ में भी देखी है, यहाँ नियंत्रित अभिधा शक्तिवाले इन शब्दों से द्वितीय अर्थ की प्रतिपत्ति ध्वनन व्यापार से ही होती है। इसलिये द्वितीय अर्थ में शब्दशक्तिमूलत्व तथा व्यंग्यात्मत्व दोनों हैं।

इस मत में मुख्य रूप से दो सिद्धांत बताए गए हैं। एक तो यह कि ऐसे स्थल में द्वितीय अर्थ की उपस्थिति केवल ऐसे प्रमाता को होती है जिसने प्रयुक्त शब्दों का अभिधा व्यापार द्वितीय अर्थ में भी देखा हो। जिसे द्वितीय अर्थ में संकेतग्रह नहीं हुआ है उसे द्वितीय अर्थ-रूपी व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। दूसरी बात यह कि ऐसे स्थल में प्रकरणादि द्वारा प्राप्त तात्पर्य शब्द के अभिधा व्यापार को प्रासंगिक अर्थ में ऐसा नियंत्रित कर देता है कि वह द्वितीय वाच्यार्थ को उपस्थित ही नहीं कर सकता। अतः द्वितीय अर्थ की उपस्थिति के लिये व्यंजना ही माननी पड़ती है।

उपर्युक्त दोनों सिद्धांतों में से प्रथम सिद्धांत द्वितीय अर्थ के व्यंग्यार्थ होने का पोषण नहीं करता। उसके अनुसार तो द्वितीय अर्थ भी अभिधा द्वारा ही प्राप्त होता है। यदि वास्तव में द्वितीय अर्थ व्यंग्यार्थ है तो उसे केवल उन्हीं व्यक्तियों को नहीं प्रतीत होना चाहिए जिन्हें द्वितीय अर्थ में भी संकेतग्रह हुआ है। व्यंजना व्यापार द्वारा अर्थ-प्रतीति में व्यंग्यार्थ में संकेतग्रह की आवश्यकता नहीं होती। इसलिये जिन्हें केवल प्रासंगिक अर्थ में ही संकेतग्रह हुआ है उन्हें भी द्वितीय अर्थ-रूपी व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जानी चाहिए। किंतु यह बात नहीं होती। अतः द्वितीय अर्थ को व्यंग्यार्थ नहीं माना जा सकता।

अब दूसरे सिद्धांत को लीजिए। प्रकरणादि अर्थ-नियामक शब्द के अभिधा व्यापार को ऐसा नियंत्रित कर देते हैं कि वह दूसरा संकेतित अर्थ उपस्थित ही नहीं करता—यह बात अनुभव से मेल नहीं खाती। वे केवल यह निर्णय कर सकते हैं कि शब्द के अभिधा व्यापार द्वारा उपस्थापित अनेक वाच्यार्थों में से एक वाच्यार्थ प्रासंगिक और मुख्यतया अपेक्षित है तथा दूसरा वाच्यार्थ अप्रासंगिक और अनपेक्षित अथवा गौणतया अपेक्षित है। वे द्वितीय वाच्यार्थ की उपस्थिति में प्रतिबंधक नहीं हो सकते। अनेकार्थक शब्दवाले वाक्य को सुनने पर प्रकरणादि का ज्ञान रहने पर भी सर्वदा प्रासंगिक अर्थ ही उपस्थित होता है यह बात अनुभव में नहीं आती; अथवा प्रासंगिक अर्थ ही पहले उपस्थित होता है—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। कभी कभी ऐसा भी होता है कि कुछ शब्दों के प्रासंगिक और कुछ शब्दों के अप्रासंगिक अर्थ उपस्थित होते हैं। कभी कभी अप्रासंगिक अर्थ पर ही पहले दृष्टि पड़ती है, किंतु प्रकरणादि के अनुकूल न होने से उसका ग्रहण प्रासंगिक अर्थ के पश्चात् किया जाता है। अतः यह नहीं माना जा सकता कि प्रकरणादि अप्रासंगिक अर्थ को अभिधा व्यापार द्वारा उपस्थित ही नहीं होने देते।

१—लोचन, पृष्ठ ९९, (काव्यमाला)।

प्रसंग से यहाँ एक प्रश्न और उठता है। अनेकार्थक स्थल में केवल एक शब्द, एक अभिधा व्यापार और अनेक अर्थ होते हैं अथवा एक शब्द, अनेक अभिधा व्यापार और अनेक अर्थ होते हैं अथवा अनेक शब्द, अनेक अभिधा व्यापार और अनेक अर्थ होते हैं। पहला पक्ष तो ठीक नहीं है क्योंकि एक शब्द के अनेक अर्थ होने पर अभिधा व्यापार भी अनेक अवश्य होंगे। कार्य को देखकर कारण की कल्पना होती है। अतः यदि एक अभिधा का नियंत्रण भी हो जाय तो दूसरी अभिधा दूसरा अर्थ उपस्थित कर सकती है। ऐसी स्थिति में दूसरा अर्थ व्यंग्यार्थ नहीं कहा जायगा। इसी प्रकार दूसरे और तीसरे पक्ष में भी अनेक अभिधा व्यापार होने से द्वितीय अर्थ का व्यंग्य होना असिद्ध हो जाता है। जो लोग अनेकार्थक स्थल में शब्द भी अनेक मानते हैं उनका अभिप्राय यह है कि ध्वनि-साम्य के कारण दोनों शब्द एक दूसरे से ऐसे चिपके रहते हैं कि दोनों मिलकर एक ही प्रतीत होते हैं।

द्वितीय मत[1]—वह अभिधा ही (अप्रासंगिक अर्थ को उपस्थित करने में) ग्रीष्म के भीषण देवता विशेष के साथ सादृश्यात्मक अर्थ-सामर्थ्य को सहकारिता से अवलंबन करती है। इसी लिये वह ध्वनन व्यापार रूप कहलाती है।

इस मत के अनुयायी अप्रासंगिक अर्थ को अभिधा द्वारा उपस्थापित वाच्यार्थ ही मानते हैं। परंतु वह अभिधा आगे आनेवाले अलंकार-रूप व्यंग्यार्थ को सहकारी कारण के रूप में अवलंबन करके अप्रासंगिक अर्थ को उपस्थित करती है। इसलिये उसी को व्यंजना कहते हैं।

इस मत का प्रथम दोष यह है कि इसमें प्रासंगिक और अप्रासंगिक अर्थ से आगे चलकर उपस्थित होनेवाला अलंकार-रूप व्यंग्यार्थ अभिधा का सहकारी कारण मान लिया गया है। यहाँ अप्रासंगिक अर्थ इसलिये उपस्थित होता है कि अलंकार-रूप व्यंग्यार्थ उपस्थित होनेवाला है—ऐसा नहीं है। वस्तुतः अप्रासंगिक अर्थ के उपस्थित होने से ही अलंकार-रूप व्यंग्यार्थ निकलता है। अतः अलंकार-रूप व्यंग्यार्थ को अप्रासंगिक अर्थ की उत्पत्ति में कारण मानना, कार्य को अपने कारण की उत्पत्ति में कारण मानना है।

इस मत का दूसरा दोष यह है कि इसमें अलंकार-रूप व्यंग्यार्थ को अपना सहकारी कारण मान लेने से अभिधा को ही व्यंजना मान लिया गया है। अभिधा व्यापार कोई तिल्ली नहीं है कि व्यंग्यार्थ के संपर्क में आते ही स्वयं व्यंजना बन जाय। तिल्ली भी फूल के संपर्क में आकर स्वयं फूल नहीं बन जाती। उसकी कुछ सुगंध मात्र ले लेती है। दार्शनिक विचार के क्षेत्र में ऐसी बातों को स्थान नहीं मिल सकता।

इस मत पर सूक्ष्म विचार करने से यह प्रतीत होता है कि इस मत के अनुयायी भी वस्तु-व्यंजना के साथ अलंकार-व्यंजना का होना भी आवश्यक मानते हैं। जहाँ अप्रासंगिक अर्थ-रूपी द्वितीय अर्थ के साथ अलंकार-व्यंजना भी होती है वहीं यह ध्वनि

१—लोचन, पृष्ठ ९९, (काव्यमाला)।

होती है। ऐसे स्थल में इस मत के समर्थक अप्रासंगिक अर्थ और अलंकार दोनों को व्यंग्य मानते हैं। इस दृष्टि से उनका मत ध्वनिकार से मिलता है।

तृतीय मत[१]—शब्द-श्लेष की भाँति अर्थ-श्लेष में भी दूसरा अर्थ देखकर शक्तिभेद के आधार पर दूसरे शब्द की कल्पना करनी पड़ती है। यह कल्पना कदाचित् अभिधा व्यापार के बल पर होती है, जैसे दो प्रश्नों के एक ही उत्तर में। यदि कोई पूछे कि 'सफेद घोड़ा दौड़ रहा है या काला' और उसका उत्तर दिया जाय कि 'सफेद दौड़ रहा है', तो यहाँ 'काला नहीं दौड़ रहा है' यह अनायास समझ में आ जाता है। यहाँ विचारणीय यह है कि यह बात (काला नहीं दौड़ रहा है) कैसे समझ में आ गई। यहाँ पर इस अर्थ को व्यक्त करने के लिये उत्तर में कोई शब्द नहीं है। यह अर्थ व्यंग्यार्थ भी नहीं हो सकता क्योंकि इसमें कोई चमत्कार नहीं है। इसलिये यह वाच्यार्थ ही है। अतः इस अर्थ को देखकर यह कल्पना करनी पड़ती है कि इस अर्थ को उपस्थित करनेवाला कोई शब्द अवश्य है। ऐसे ही यदि किसी ने पूछा कि 'कौन दौड़ रहा है' और उत्तर दिया गया कि 'सफेद दौड़ रहा है', तो यह जिज्ञासा होती है कि इस अनिश्चित प्रश्न के उत्तर में निश्चित रूप से सफेद के ही विषय में क्यों कहा गया। इससे यह कल्पना होती है कि उत्तरदाता ने प्रश्न का यह अर्थ समझा कि 'सफेद दौड़ रहा है अथवा दूसरा' और सफेद के विषय में उत्तर दिया। जैसे यहाँ अभिधा के बल पर दूसरे शब्द की कल्पना की जाती है वैसे ही शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के स्थल में भी द्वितीय अर्थ को देखकर दूसरे शब्द की कल्पना की जाती है। ऐसे स्थल में कल्पित द्वितीय शब्द के द्वारा उपस्थापित अप्रासंगिक अर्थ वाच्यार्थ होने पर भी आगे आनेवाले अलंकार-रूप व्यंग्यार्थ का मूल होने के कारण व्यंग्यार्थ ही कहा जाना चाहिए।

इस मत में भी अभिधा को ही व्यंजना माना गया है। यह मत द्वितीय मत से दो बातों में भिन्न है। पहली बात तो यह है कि इसमें दूसरे शब्द की कल्पना की जाती है और उससे द्वितीय अर्थ की उपस्थिति होती है। दूसरी बात यह है कि इसमें अप्रासंगिक अर्थ को अलंकार-रूपी व्यंग्यार्थ का मूल माना गया है। किंतु द्वितीय मत में अलंकार-रूपी व्यंग्यार्थ को अप्रासंगिक अर्थ उपस्थित करने में अभिधा का सहकारी कारण माना गया है। यह मत भी अप्रासंगिक अर्थ तथा अलंकार दोनों को व्यंग्य मानता है। इस अंश में यह भी ध्वनिकार के मत से मिलता है। इस मत के अनुसार भी शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में केवल वस्तु-ध्वनि नहीं होती उसके साथ अलंकार-ध्वनि भी अवश्य होती है।

चतुर्थ मत[१]—द्वितीय मत में व्याख्यात अर्थ के सामर्थ्य से द्वितीय अभिधा का प्रसव होता है। उससे अभिहित द्वितीय अर्थ व्यंग्य नहीं होता। द्वितीय अर्थ की उपस्थिति के पश्चात् उसकी प्रथम अर्थ में रूपणा होती है। यह रूपणा व्यंग्य है। इस अंश में अलंकार

१—लोचन, पृष्ठ ९९, (काव्यमाला)।

का बोध करानेवाला कोई शब्द न होने से अभिधा की शंका किसी को भी नहीं हो सकती। द्वितीय अर्थ उपस्थित करनेवाली शब्द-शक्ति ही इस व्यंग्य का मूल है। अतः इसे शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य कहना चाहिए। परंतु वस्तुतः यह अलंकार-व्यंजना ही है। द्वितीय अर्थ असंबद्ध न हो जाय इसलिये उसका प्रथम अर्थ के साथ उपमान-उपमेय-भाव माना जाता है।

यह मत सर्वाधिक स्पष्ट है। इसमें द्वितीय अर्थ वाच्यार्थ ही माना गया है। केवल अलंकारांश में व्यंजना मानी गई है। यहीं ध्वनिकार से इसका मतभेद है। इस मत के अनुसार भी शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में केवल वस्तु-ध्वनि ही नहीं हो सकती, द्वितीय अर्थ-रूपी वस्तु के साथ अलंकार का निकलना भी आवश्यक है। जहाँ केवल वस्तु-रूप अर्थ की उपस्थिति होती है वहाँ श्लेष होता है। वह ध्वनि का उदाहरण नहीं हो सकता।

इस मत में केवल एक दोष प्रतीत होता है वह यह कि इसमें अलंकार-रूपी व्यंग्यार्थ शब्दशक्तिमूलक माना गया है। वास्तव में यहाँ आर्थी व्यंजना है। इस प्रकार की व्यंजना को श्लेष-रूपी अलंकार से अलंकारांतर की व्यंजना का अथवा वस्तु से अलंकार की व्यंजना का उदाहरण मानना चाहिए।

यहाँ तक तो ध्वनिकार से लेकर अभिनवगुप्त के समय तक के आचार्यों के मतों का विवेचन हुआ। विषय की परिपूर्णता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि उन आचार्यों के मतों पर भी विचार कर लिया जाय जो अभिनवगुप्त के बाद के हैं, जैसे मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि। साथ ही ध्वनिकार से लेकर अब तक के सभी आचार्यों के उदाहरणों की परीक्षा भी हो जानी चाहिए जो उन लोगों ने अपने अपने मतों के समर्थन में दिए हैं।

नंदगाँव के 'आनंदघन'

[श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र]

'आनंदघन और घनआनंद' नामक ग्रंथ में यह दिखाया जा चुका है कि हिंदी में रचना करनेवाले 'आनंदघन' नाम के कई व्यक्ति हो गए हैं। एक थे जैन आनंदघन जिनका दूसरा नाम महात्मा लाभानंदजी था। इनका समय विक्रम की सत्रहवीं शती का उत्तरार्ध है। इन्होंने 'चौबीसी' नाम से चौबीसों जैन तीर्थंकरों का प्रशस्ति-पाठ किया है। इस 'चौबीसी' की कई पंक्तियाँ सर्वश्री समयसुंदर (सं० १६७२), जिनराज सूरि (सं० १६७८), सकल चंद्र (सं० १६४०) और प्रीति-विमल (सं १६७१) के जिनस्तबन आदि ग्रंथों में आए पदों से ज्यों की त्यों मिलती हैं। इससे 'चौबीसी' का समय सं० १६७८ के अनंतर ही ठहरता है। इन जैन आनंदघन की प्रशस्ति लिखनेवाले श्री यशोविजय ने सं० १६८८ में दीक्षा ली और सं० १७४३ में स्वर्गवासी हुए। इसलिये जैन आनंदघन का समय वैक्रम सत्रहवीं शती का उत्तरार्ध क्या, अंतिम चरण है।

शांति-निकेतन विश्वभारती के श्री क्षितिमोहनसेन[1] ने वीणा (नवंबर, १६३८) में 'जैन मर्मी आनंदघन' शीर्षक विस्तृत लेख लिखकर इन 'जैन आनंदघन' को 'मर्मी' अर्थात् रहस्यवादी तो बतलाया ही है साथ ही वृंदावन के दूसरे आनंदघन की रचनाओं को 'जैन आनंदघन' को रचनाओं से मिलाकर दोनों की अभिन्नता दिखाने का प्रयास किया है। वस्तुतः यह भ्रांति है। वृंदावनवासी आनंदघन (या घनआनंद) हिंदी के प्रसिद्ध सुजान-प्रेमी कवि हैं। इन्हें शिवसिंह सेंगर ने अपने 'सरोज' में "आनंदघन कवि दिल्लीवाले" कहा है। इनका समय उन्होंने सं० १७१५ दिया है। 'साहित्य-भूषण' के निर्माता श्री महादेवप्रसाद के कथनानुसार परंपरा में दिल्लीवाले 'आनंदघन' मुहम्मद शाह रँगीले के दरबारी माने जाते हैं। मुहम्मद शाह का राज्यकाल सं० १७७६ से १८०५ तक था। यदि यह बात सत्य हो तो 'सरोज' में दिया सं० १७१५ ठीक नहीं। सरोज के सन्-संवत् कवियों के रचनाकाल के सन्-संवत् हैं यह सिद्ध किया जा चुका है। इधर 'वृंदावनवासी आनंदघन' जी के कई ग्रंथ प्राप्त हुए हैं जिनसे उनके रचना-काल का पता चल जाता है। ऐसी सामग्री भी मिल गई है जिससे उनके निधन-काल का भी ठीक ठीक निश्चय हो जाता है। 'आनंदघन' जी ने 'मुरलिकामोद' में उसके रचना-काल का उल्लेख इस प्रकार किया है—

गोपमास श्रीकृष्ण पक्ष सुचि।
सवत्सर अठानवे अति रुचि॥

यह संवत् १७९८ है इसे 'आनंदघन का निधन संवत्'[1] में भली भाँति सिद्ध किया जा चुका है। उसमें यह भी बताया गया है कि उनकी मृत्यु सं० १८१७ में वृंदावन में

१—आजकल, जून सन् १९४८ ई०, पृष्ठ १२।

ही हुई थी। इस प्रकार उनका समय विक्रम की अठारहवीं शती का अंतिम चरण और उन्नीसवीं का प्रथम चरण निश्चित होता है। अतः वे 'जैन आनंदघन' से स्पष्ट भिन्न हैं। हिंदी में जिन आनंदघन या घनआनंद के कवित्त-सवैये बहुत प्रचलित हैं वे वृंदावन-वासी आनंदघन ही हैं। वे हिंदी की परंपरा में कायस्थ-कुल के माने जाते हैं।

इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरे आनंदघन भी हैं। ये तीसरे आनंदघन नंदगाँव के थे। श्री चैतन्य महाप्रभु के जीवनवृत्तों से प्रकट है कि वे सं० १५६३ में नंदगाँव गए थे। उस समय उन्होंने नंदगाँव के मंदिर में भगवद्दर्शन किए थे। उस मंदिर में श्रीनंदबाबा, श्रीयशोदा, श्रीबलराम और श्रीकृष्ण के विग्रह थे। इन विग्रहों की स्थापना श्री आनंदघनजी ने की थी। ये विग्रह श्री नंदीश्वर पर्वत से प्रकट हुए कहे जाते हैं और प्रकट करनेवाले श्री आनंदघनजी ही थे। आनंदघनजी श्री चैतन्यदेवजी से मिले थे अर्थात् उस समय वर्तमान थे। इस प्रकार नंदगाँववासी आनंदघनजी का स्थिति-काल विक्रम की सोलहवीं शती का उत्तरार्ध ठहरता है। ये ब्राह्मण-कुलोद्भव शुद्ध भक्त थे। इनके रचे दो-चार पद हैं जो नंदगाँव के मंदिरों में समय समय पर गाए जाते हैं।

इस प्रकार तीनों आनंदघनों का उपस्थिति-काल निम्नलिखित हुआ—

नंदगाँववासी आनंदघन	सोलहवीं शती का उत्तरार्ध
जैन आनंदघन	सत्रहवीं शती का उत्तरार्ध
वृंदावनवासी आनंदघन	अठारहवीं शती का उत्तरार्ध

नंदगाँव के आनंदघन 'खरोट' गाँव के हैं। यह गाँव 'कोसीकलाँ' (मथुरा) के निकट है और आनंदघनजी के कुलवाले अब भी वहाँ रहते हैं। नंदगाँव के मंदिर के अधिकारी इन्हीं के वंशज हैं। आनंदघनजी के वंशजों का वृत्त यों है—
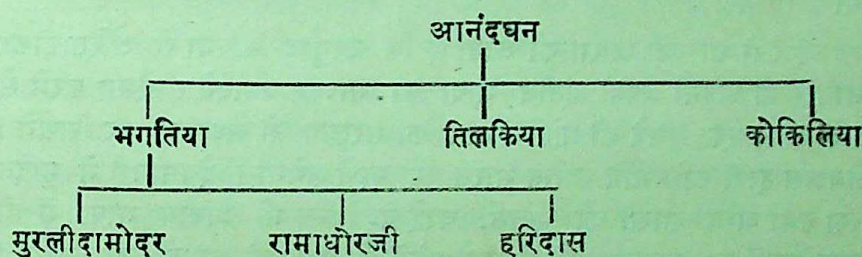
नंदबाबा की सेवा का भार भगतिया के उक्त तीनों वंशजों पर है। तिलकिया के वंशज मनसादेवी के मंदिर के अधिकारी हैं। कोकिलिया के वंशज श्रीयशोदानंदन की सेवा में रहते हैं। उल्लिखित विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी में जो कवित्त-सवैये और पद आदि रचनाएँ प्राप्त हैं वे वृंदावनवासी आनंदघन की हैं। ये अपनी छाप आनंदघन और घनआनंद दोनों रखते थे। कदाचित् इनका नाम घनानंद था। इससे यह सिद्ध है कि जैन आनंदघन की रचनाओं को छोड़कर हिंदी में इस नाम से प्रचलित रचनाएँ एक ही व्यक्ति की हैं। अतः उनका विचार इसी दृष्टि से होना चाहिए।

प्रतिसंस्कृत देवनागरी लिपि

[श्री श्रीनिवास]

लिपि तथा लिपि के रूपांतर

यह मानी हुई बात है कि भारतीय वर्णमाला संसार की सभी वर्णमालाओं में अधिक वैज्ञानिक और सुगम है। भारतीय लिपियों का एकमात्र स्रोत अशोककालीन ब्राह्मी लिपि है। प्रांतीय लिपियाँ ब्राह्मी की रूपांतर मात्र हैं। सबमें उसके ही स्वर और व्यंजन हैं, एक क्रम है। जिस प्रांतीय भाषा में जिस स्वर या व्यंजन की ध्वनि का प्रयोग नहीं होता उस प्रांत-लिपि में वह स्वर या व्यंजन नहीं है। इनकी एकता के द्योतक भारत के विभिन्न भागों से प्राप्त हुए शिलालेख और ताम्रलेख हैं। ये हमारे देश की प्राचीन लिपि के प्रांतीय रूपांतर तथा समय समय के रूप बोधित करते हैं। इस लिपि के रूपांतर भोट (तिब्बत), ब्रह्मा (बर्मा), श्याम तथा अन्य पूर्वी प्रदेशों में आज भी प्रचलित हैं।[१]

देवनागरी लिपि

यद्यपि देश में अनेक प्रांतीय लिपियों का प्रयोग हो रहा है तथापि देश के विद्वान देवनागरी लिपि में ही लिखते-पढ़ते रहे हैं और संस्कृत तथा देवनागरी के माध्यम से देश की एकता और राष्ट्रीयता की रक्षा करते आए हैं। मध्यदेश और महाराष्ट्र ने तो प्रांतीय रूपांतरों को त्याग कर अपने नित्य के कार्य और भाषा के पठन-पाठन में देवनागरी को अपना लिया है।

अन्य प्रांतों से भी यही आशा की जाती है कि उपर्युक्त भावना से प्रेरित होकर वे भी देवनागरी को अपनी अपनी प्रांतीय भाषा का माध्यम बनाएँगे। ऐसा करने से सभी प्रांतों के वासी एक दूसरे की प्रांतीय भाषा का सरलता से अध्ययन कर सकेंगे। इससे प्रांतीय साहित्यों का प्रभाव समस्त भारत पर पड़ने लगेगा। देवनागरी में मुद्रित विज्ञान-शास्त्र तथा अन्य शास्त्रों की पुस्तकें, चाहे वे किसी भी प्रांतीय भाषा में हों समान संस्कृत शब्दों का बाहुल्य होने से सभी प्रांतों में पढ़ी एवं समझी जा सकेंगी। समय पाकर देश के प्रत्येक भाग में एक सर्वसामान्य भाषा व्यापक हो जायगी।

राष्ट्रलिपि

देवनागरी अपने मात्रा-विधान, आकृति, स्पष्टता और व्यापकता के कारण निश्चित रूप से देश की राष्ट्रलिपि होने की अधिकारिणी है, परंतु वर्तमान युग में मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिक सार्वजनीन हो गया है और उसका संपर्क बाहरी देशों के साथ अधिकाधिक बढ़ता ही जा रहा है। इसलिये हमारी लिपि में भी कुछ आवश्यकताएँ बढ़

१—देखिए श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझाकृत भारतीय प्राचीन लिपिमाला।

गई हैं। इस संबंध में हमारी दृष्टि सदा से उदार रही है। समयानुसार लिपि को हमने बारंबार परिष्कृत किया है जो आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

मुद्रण में कठिनाई

देवनागरी लिपि की विशेषताओं को जानते हुए भी हमसे यह छिपा नहीं है कि लिपि के मुद्रण में प्रत्येक पंक्ति के लिये तीन पंक्तियाँ जटित (कंपोज) करनी पड़ती हैं—मध्य की पंक्ति वर्ण के लिये, ऊपर और नीचे की मात्राओं के लिये। अन्यथा एक मुद्रा (टाइप) पर दूसरी मुद्रा आंशिक रूप से चढ़ाकर जटित करनी पड़ती है। इस कठिनाई के अतिरिक्त लगभग ७०० स्वतंत्र मुद्राओं की आवश्यकता होती है जिन्हें हाथ से उठाकर यथास्थान रखना पड़ता है। इस कारण अत्यधिक समय, परिश्रम और द्रव्य लगता है। लाइनोटाइप, टाइपराइटर, टेलिप्रिंटर यंत्रों द्वारा इतने अधिक वर्णों का मुद्रण कदापि संभव नहीं है।

रोमक लिपि

रोमक लिपि में कितनी ही त्रुटियाँ क्यों न हों, उसमें मुद्रण-संबंधी कुछ ऐसी सुगमता है कि इस यंत्रयुग में वह व्यापक से व्यापकतर होती जा रही है। देश में इस मत के कुछ विशिष्ट व्यक्ति बढ़ते जा रहे हैं कि उसको राष्ट्रलिपि के रूप में स्वीकार कर लिया जाय। अतएव इस सांस्कृतिक संकट के समय यह आवश्यक है कि देवनागरी लिपि का पुनः संस्कार करके हम उसे वर्तमान मुद्रण-युग के अनुकूल कर दें। यह कोई नई बात नहीं है। ऐसा रूपांतर समय समय पर पात्र, लेखनी तथा लेखक के अनुकूल बराबर होता आया है। इस प्रकार उसका रूप भावुकता के स्तर से ऊपर उठकर आधुनिक संघर्षयुग के अनुरूप हो जायगा।

लिपि का पुनः संस्कार

युग के अनुरूप राष्ट्रलिपि के पुनः संस्कार की बात देश के मनीषी सदा सोचते रहे हैं। यह विषय ऐसा है कि इस पर अविलंब विचार हो जाना चाहिए। नागरी लिपि के संस्कार के संबंध में नीचे हम कुछ सुझाव उपस्थित करते हैं। देश में आजकल नए परिवर्तन विद्युद्वेग से घटित हो रहे हैं। लिपि और भाषा के संबंध में भी विशेष परिवर्तन होंगे, इसलिये उदासीन रहने का समय अब नहीं रह गया। फलतः आशा है, नीचे लिखे सुझावों के संबंध में विद्वज्जन गंभीरतापूर्वक विचार करेंगे—

१. प्रत्येक स्वर-वर्ण का पूर्वार्ध समान रूप से 'ऊ' हो जो निमित्त मात्र रहे।
२. आंग्ल शब्द at और all में जो स्वर उच्चरित होते हैं उनके लिये वर्ण बढ़ाए जायँ।
३. स्वर-वर्णों का उत्तरार्ध भिन्न हो जिसे उस स्वर की मात्रा माना जाय।
४. 'अ', 'आ' स्वर-वर्णों का उत्तरार्ध (मात्रा) उनके पूर्वार्ध के बराबर रखा जाय किंतु जो स्वर जिह्वा की नोक से उच्चरित होते हैं जैसे ई, ए, उनके वर्णों का उत्तरार्ध (मात्रा) पंक्ति से ऊपर उठा हो तथा जो स्वर जिह्वामूल से उच्चरित होते हैं जैसे ऊ, ओ, उनके वर्णों का उत्तरार्ध (मात्रा) नीचे उतरा हो, जैसे रोमक अक्षरों में 'a', 'b' और 'p' के उत्तरार्ध क्रमशः पंक्ति से सम, ऊपर उठे और नीचे उतरे होते हैं।

५. जिस स्वर-संकेत या मात्रा में '͜' चिह्न लगाया जाय उसका उच्चारण—'͜' चिह्नरहित स्वर-संकेत या मात्रा से—आधा समझना चाहिए। इस '͜' चिह्न का अर्धक शब्द से व्यवहार किया जाय।

६. स्वर-वर्ण में ध्वनि-क्रम के अनुसार उपयुक्त मात्राओं को लगाकर संध्यक्षर बनाया जाय।

७. मात्रा अस्वर-व्यंजन (वह व्यंजन जो खड़ी रेखा रहित है) के पश्चात् लगाई जाय; पीछे, ऊपर, नीचे नहीं।

८. प्रत्येक अकारांत व्यंजन का उत्तरार्ध पूर्ण खड़ी रेखा-युक्त हो; रेखारहित होने पर शुद्ध व्यंजन अथवा अस्वर माना जाय।

९. संयुक्त अक्षर ध्वनिक्रम से वर्ण के पश्चात् उपयुक्त मात्रा रखकर बनाया जाय। पंक्ति में पहले अस्वर व्यंजनों को रखा जाय फिर मात्रा को बगल में, ऊपर नीचे नहीं।

१०. प्रत्येक अल्पप्राण वर्ण में एक सा चिह्न 'ॅ' लगाकर उस वर्ण का महाप्राण वर्ण व्यक्त किया जाय, जैसे 'प' से 'फ' होता है।

११. प्रथम तीनों वर्गों के तीसरे वर्णों में और पश्चात् के दोनों वर्गों के प्रचलित प्रथानुसार प्रथम वर्णों में अनुस्वार '०' चिह्न लगाकर उस वर्ग का पंचम वर्ण बनाया जाय, जैसे 'प' से 'म' होता है।

१२. 'क' का रूप 'क' (जैसा 'क्त' में है), 'श' का रूप 'श्' और 'र' का रूप '्र' (जैसा 'श्र' में होता है) केवल एक रूप प्रत्येक स्थल पर माना जाय।

१३. 'ङ', 'ह' में रूप लाघव किया जाय और उन्हें पूर्ण खड़ी रेखा-युक्त किया जाय।

१४. 'क' ट, ड, द और ह प्रत्येक अकारांत वर्ण पूर्ण खड़ी रेखा से युक्त रखा जाय।

१५. F, Zh, Z के लिये वर्ण बढ़ाए जायँ।

प्रतिसंस्कृत देवनागरी लिपि

उपर्युक्त सिद्धांतों के अनुकूल केवल १२ स्वर चिह्न और २६ व्यंजन चिह्नों से संस्कृत, हिंदी तथा भारत एवं विशाल भारत की सभी भाषाओं के अतिरिक्त अँगरेजी और फारसी अरबी के उच्चारण शुद्ध व्यक्त किए जा सकेंगे। इस प्रतिसंस्कृत देवनागरी लिपि का मुद्रण यंत्रों द्वारा सहज ही किया जा सकता है। इसमें मुद्राओं की संख्या कम होने से हाथ से जोड़ने (कंपोजिंग) में भी पहले की अपेक्षा सरलता तथा त्वरा दोनों प्राप्त हो जायँगी।

टेलिप्रिंटर

प्रतिसंस्कृत देवनागरी लिपि का टेलिप्रिंटर जिसकी मुद्राओं का रूप और मुद्रण-विधि का विवरण आगे दिया जा रहा है, भारतीय भाषाओं में तथा आंग्ल भाषा में भी उतनी ही त्वरा से समाचार अंकित करेगा जैसे रोमक लिपि का टेलिप्रिंटर करता है।

टंकणयंत्र (टाइपराइटर), दूरटंकणयंत्र (टेलिप्रिंटर) मुद्रणविधि

१. स्वर वर्णों को मुद्रित करने के लिये प्रथम स्वर का पूर्वार्ध 'अ' चिह्न पश्चात् उसका उत्तरार्ध (मात्रा) चिह्न लगाया जाय। ह्रस्व स्वर एवं अर्धक स्वर अ, आ, ए, ओ के आधे उच्चारण के लिये अर्धक '॒' चिह्न की अचल मुद्रा (कुंजी) उत्तरार्ध चिह्न के पहले लगाई जाय।

२. सस्वर अल्पप्राण व्यंजन के लिये प्रथम अस्वर व्यंजन चिह्न पश्चात् उपयुक्त मात्रा लगाई जाय। जैसे रोमक लिपि में 'प' के लिये $\overset{1}{P}\overset{2}{A}$ उसी प्रकार यहाँ $\overset{१}{\text{ट}}\overset{२}{\text{ा}}$ ।

३. सस्वर महाप्राण व्यंजन के लिये प्रथम अस्वर व्यंजन पश्चात् महाप्राण का अचल चिह्न अंत में उपयुक्त मात्रा लगाई जाय। जैसे 'फ' के लिये $\overset{1}{P}\ \overset{2}{H}\ \overset{3}{A}$ तैसे यहाँ $\overset{१}{\text{ट}}\overset{२}{\text{ा}}\overset{३}{\text{ॖ}}$ ।

४. संयुक्ताक्षर के लिये ध्वनिक्रम से अस्वर व्यंजनों को रखा जाय अंत में उपयुक्त मात्रा लगाई जाय जैसे कर्म = कर्म, क्रम = क्रम। जिस स्थल पर अस्वर महाप्राण रखना हो वहाँ उसके अल्पप्राण वर्ण के पश्चात् महाप्राण का अचल चिह्न भी लगा लिया जाय। जैसे 'उच्छ्वास = उच्छ्वास।

५. टंकण-सुविधा-निमित्त अस्वर 'ङ्', 'ञ्' के लिये अनुस्वार अर्थात् शून्य चिह्न लगाया जाय।

६. अनुनासिक, विसर्ग, महाप्राण और ह्रस्व चिह्नों की कुंजियाँ अचल रखी गई हैं।

मुद्राओं का स्थान और उनकी गति इत्यादि की व्यवस्था इन यंत्रों के निर्माता विशेषज्ञ स्वयं अनुभव के अनुसार निश्चित करेंगे। विरामादि अन्य चिह्नों के लिये २३ कुंजियों पर का द्वितीय स्थान अभी रिक्त है।

साक्षरता का माध्यम

शिक्षण, लेखन और मुद्रण के सौकर्य को ध्यान में रखते हुए सरल भ्रमरहित प्रति-संस्कृत देवनागरी लिपि को, जिसका रूप आगे दिया गया है, देश में साक्षरता का माध्यम बना सकने के संबंध में आप अपनी संमति तथा लिपि की समुन्नति के लिये यथोचित सुझाव देने का अनुग्रह करें।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा नियोजित लिपि-उपसमिति के मंतव्य और विचार

२४, २५ ज्येष्ठ संवत् २००२ को समिति ने अपने प्रथम अधिवेशन में सर्वसंमति से यह निश्चय किया कि

१. उपयोगिता और प्रचार की दृष्टि से वर्तमान नागरी लिपि में सुधार और पुनः संस्कार करने की आवश्यकता है।

२. क. हिंदी भाषा की जिन उच्चरित ध्वनियों के लिये प्रचलित वर्णमाला में वर्ण नहीं हैं उनके लिये नवीन संकेत स्थिर करना।

ख. भारत की विभिन्न प्रांतीय भाषाओं की विशेष ध्वनियों को व्यक्त करने के लिये संकेत बनाना।

ग. अन्य विदेशी भाषाओं की विशेष ध्वनियों के लिये संकेत स्थिर करके नागरी लिपि को ऐसा व्यापक रूप देना जिसमें समस्त भाषाएँ लिखी जा सकें।

३. आवश्यकतावश नागरी लिपि का पुनः संस्कार करते समय निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखा जाय—

क. लिपि के प्रचलित रूप से प्रतिसंस्कृत लिपि का यथासंभव अपार्थक्य और अनुच्छेद बनाए रखना।

ख. लेखन-सौकर्य और मुद्रण-सौकर्य के लिये प्रयत्न करना।

ग. संयोग-स्थलों में संयुक्त वर्णों की ऐसी आकृति रखना जिसके पहचानने में भ्रांति न हो।

घ. सौंदर्य की रक्षा करना।

४. किसी सुधार और संस्कार पर सभा की स्वीकृति दिलाने के पहले जितने महत्त्वपूर्ण प्रयत्न अब तक लिपि को उपयोगी बनाने के लिये किए गए हैं, उन्हें एकत्र करके उन पर विचार करना।

इस निश्चय को कार्यान्वित करने के लिये देश के प्रमुख हिंदी पत्रों में यह प्रार्थना प्रकाशित की गई थी कि इस दिशा में कार्य करनेवाले सज्जन और संस्थाएँ अपने अपने प्रयत्न की सूचना और सामग्री समिति के पास भेजने की कृपा करें।

समिति का दूसरा अधिवेशन ६ श्रावण संवत् २००२ को सभा-भवन में हुआ।

डा० धीरेंद्र वर्मा का पत्र पढ़ा गया। इसमें डाक्टर महोदय ने उन्हीं बातों की चर्चा की थी जो समिति के प्रथम अधिवेशन में स्वीकृत निश्चय २ में आ चुकी हैं।

समिति के विचार में

१. अभी केवल हिंदी और संस्कृत के लिये उपर्युक्त लिपि का ही सुधार किया जाना चाहिए।

२. पठन-पाठन और लेखन में सरलता लाने का उद्देश्य सिद्ध करने के लिये लिखित और मुद्रित लिपि का रूप एक ही होना चाहिए।

३. यद्यपि प्रचलित रीति के अनुसार संयुक्ताक्षरों को ऊपर नीचे लिखने तथा मात्राओं को ऊपर, नीचे, आगे, पीछे लगाने की स्वतंत्रता हस्तलिपि में बरती जा सकती है, तथापि मुद्रण-सौकर्य के लिये यह आवश्यक है कि नागरी लिपि के संयुक्ताक्षर और मात्राएँ दाहिनी ओर बगल में एक ही पंक्ति में लगाई जायँ।

इसके पश्चात् समिति ने आगत और प्राप्त मुख्य मुख्य प्रयत्नों और योजनाओं पर विचार किया। स्वरों और व्यंजनों के संबंध में जो सुझाव और सुधार इनमें दिखाई दिए उनका संक्षेप नीचे दिया जाता है।

क. स्वरों के संबंध में एक को छोड़कर प्रायः सभी योजनाओं में 'अ' की बारह खड़ी बनाई गई है।

ख. संयुक्त व्यंजनों को प्रायः एक ही पंक्ति में रखने की विधि स्वीकृत की गई है।

सुधार के इन प्रयत्नों में केवल श्री श्रीनिवास का प्रयत्न समिति को विशेष संगत प्रतीत हुआ। इन्होंने समूचे 'अ' की बारह खड़ी नहीं की है जो विज्ञान और व्यवहार दोनों की दृष्टि से भ्रामक और अशुद्ध है। ये 'अ' के असंकेतित अतएव निरर्थक अंश 'अ' के साथ भिन्न भिन्न उत्तरार्ध (मात्राओं) का प्रयोग करके स्वरों का बोध कराते हैं। ऐसा करने से स्वरों में समानता भी आ गई है और प्रत्येक स्वर का लिपिगत रूप भी भिन्न हो गया है। इनकी स्वर लिपि में एकमात्रिक ह्रस्व और द्विमात्रिक दीर्घ परंपरा का निर्वाह भी है। श्री श्रीनिवास प्रत्येक वर्ण की खड़ी रेखा पूर्ण या अपूर्ण को स्वर की मात्रा मानते हैं और उनके प्रयोग से वर्ण को सस्वर और अप्रयोग से अस्वर समझते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग के प्रथम और तृतीय वर्णों में महाप्राण का कल्पित चिह्न लगाकर ये द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का बोध कराते हैं। पंचम वर्णों की आकृति भी ये भिन्न नहीं रखते, अपने अपने वर्ग के किसी अल्पप्राण वर्ण में अनुस्वार का चिह्न लगाकर उन्हें व्यक्त करते हैं जैसे 'प' में अनुस्वार का चिह्न '०' लगाकर 'म' होता है।

यद्यपि ये कल्पनाएँ नवीन हैं और प्राचीन रूपों से इनमें पार्थक्य बहुत है, तथापि टाइपराइटर या लाइनोटाइप द्वारा मुद्रण में इनसे बड़ी सुगमता आ जाती है। इस संबंध के कतिपय अन्य सुझावों से इनका यह सुझाव सर्वथा सरल और व्यवस्थित है, इसमें संदेह नहीं। इन सुझावों में समिति को दो बातें खटकती हैं। एक तो महाप्राण चिह्न इतना सूक्ष्म है कि उसके स्पष्ट न होने पर 'भाप' 'बाप' हो जायगा और दूसरे पंचम वर्ण लिखने में अनुस्वार का चिह्न किस अल्पप्राण में जोड़ा जाय यह अनिश्चित है। श्री श्रीनिवास से समिति अनुरोध करती है कि वे इन दोषों को दूर करने की चेष्टा करें।

अंत में समिति सभा को यह परामर्श देती है कि वह श्री श्रीनिवास द्वारा प्रतिसंस्कृत इस लिपि को देश के अधिकारी विद्वानों, विश्वविद्यालयों, साहित्य-संस्थाओं, मुद्रण-कार्यालयों तथा टाइपराइटर और लाइनोटाइप के निर्माताओं के पास आलोचना, संमति या समुन्नति की प्रार्थना के साथ भेजकर सबका मत संग्रह करे और अनुकूल मत प्राप्त होने पर इसके प्रचार का उपाय करे।

बाबूराव विष्णु पराड़कर	केशवप्रसाद मिश्र
वासुदेवशरण अग्रवाल	विश्वनाथप्रसाद मिश्र
रामचंद्र वर्मा	कृष्णानंद

धीरेंद्र वर्मा

वर्णमाला

	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१	अ	अ	आ	आ	अि	अी	अु	अू	अे	अे
२	अो	अो	अ	अ	अ	अ	अ	अं	अः	अँ
३	क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ
४	ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न
५	प	फ	ब	भ	म	य	र	ल	व	श
६	ष	स	ह	ज़	फ़	झ़	ळ	क्ष	श्र	ज्ञ

वर्णमाला की कुंजी

	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१	अ	अ	आ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ए
	अर्धक		अर्धक						अर्धक	
२	ओ	ओ	action	at	ought	all	ऋ	अं	अः	अँ
	अर्धक		अर्धक	दीर्घ	अर्धक	दीर्घ				
३	क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ
४	ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न
५	प	फ	ब	भ	म	य	र	ल	व	श
६		स	ह	Z	F	treasure	ळ	क्ष	श्र	ज्ञ
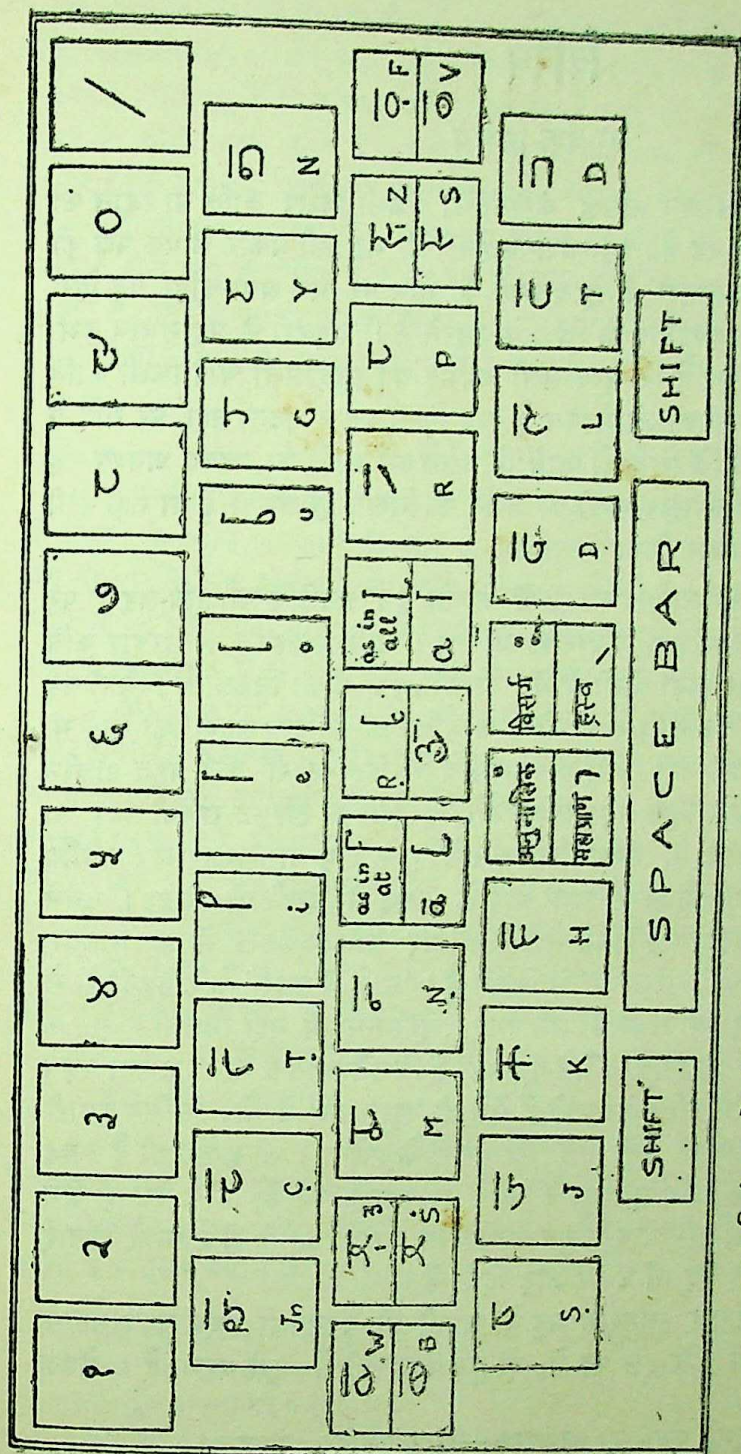
इस प्रतिसंस्कार के संबंध में एक मुद्रणयंत्र-विशेषज्ञ का अभिमत—

लाइनोटाइप ऐंड मैशिनरी लिमिटेड,
कलकत्ता ३१।१२।४६

डिअर मिस्टर श्रीनिवास,

नो स्ट्रक्चरल ऑल्टरेशन्स् टु एक्जिस्टिंग लाइनोटाइप्स वुड बी नेसेसरी ऐज योर स्कीम वुड परमिट ऑव् स्टैंडर्ड लाइनोटाइप्स बीइंग यूज्ड फॉर दि सेटिंग ऑव् हिंदी ऐंड किंड्रेड लैंग्वेजेस्।

योर्स सिंसिअरली,
टी० किंग।

विविध

सूर-वंश-निर्णय

इधर हिंदी में पुराने और प्रसिद्ध कवियों को किसी विशेष जाति या स्थान का सिद्ध करने के प्रयत्न कई हो रहे हैं। 'सूर-वंश-निर्णय'[1] में भी इसी प्रकार के एक पक्ष की बातें दी गई हैं। 'साहित्य-लहरी' में सूरदासजी के नाम पर एक लंबा-चौड़ा पद ऐसा दिया गया है जिससे वे चंदवरदाई के वंश के ठहरते हैं।[2] भट्टवंश के महानुभाव तभी से यह सिद्ध करने में लगे हुए हैं कि सूरदासजी ब्रह्मभट्ट थे। सूरदासजी चाहे किसी जाति या स्थान के हों हिंदी में उनका जो महत्त्व है वह किसी प्रकार घटता नहीं, पर यदि वे निश्चित रूप से किसी जाति के सिद्ध हो जायँ तो उससे उस जाति का महत्त्व अवश्य बढ़ सकता है। इस पद को लेकर सूरदासजी की जाति का निर्णय हो सकता है या नहीं इसी पर बहुत संक्षेप में यहाँ विचार किया जाता है।

यह पद सबसे पहले 'साहित्य-लहरी' में मिलता है। इसलिये 'साहित्य-लहरी' पर विचार करने से ही उसका भी कुछ विचार हो जायगा। 'साहित्य-लहरी' पर सरदार कवि की पुरानी टीका है। इधर खड़ी बोली में भी उसकी एक टीका निकली है। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि सरदार की टीका के अतिरिक्त 'साहित्य-लहरी' की कोई भी हस्तलिखित प्रति आज तक नहीं मिली है। इसलिये 'साहित्य-लहरी' कोई बहुत प्राचीन रचना है, इस संबंध में मुझे बहुत बड़ा संदेह है। सूरदास के दृष्टिकूट-संबंधी पदों का एक संग्रह, जो 'शतक' मात्र है, हस्तलिखित रूप में मुझे बाबू बालकृष्णदास (स्वर्गीय राधाकृष्णदासजी के पुत्र) उपनाम बल्ली बाबू के संग्रह से देखने को मिला। उसमें दृष्टिकूट के जितने पद संगृहीत हैं उनमें से एक भी पद 'साहित्य-लहरी' में नहीं मिलता, पर उस दृष्टिकूट के सारे पद 'सूरसागर' में मिलते हैं। 'साहित्य-लहरी' के दृष्टिकूटों में से कोई दृष्टिकूट, जहाँ तक छानबीन करके मैंने देखा, 'सूरसागर' में नहीं मिलता। सूर के जो दृष्टिकूट 'सूरसागर' में मिलते हैं वे ऐसे गूढ़ नहीं हैं जिसमें अधिक माथा मारना पड़े। विद्यापति की रचना में जैसे दृष्टिकूट मिलते हैं वैसे ही 'सूरसागर' में भी। इसलिये हमारी धारणा है कि 'साहित्य-लहरी' सूरदास ('सूरसागर' के प्रणेता) की कृति नहीं है। वह किसी भाट की रचना है और सूरदास के नाम पर चलाई गई है, ठीक वैसे ही जैसे तुलसी के नाम पर कड़खा रामायण, हनुमानचालीसा आदि कितनी ही रचनाएँ चलाई गई हैं। उसी भाट ने यह पद भी उसमें जोड़ दिया है।

चंदवरदाई के वंशज नानूराम भट्ट ने अपनी जो वंशावली 'पृथ्वीराजरासो' के सिलसिले में दी है उसमें और इस पद में दी हुई वंशावली में पूरी एकता है। केवल

१—लेखक—श्रीकृष्णदेव शर्मा, एम० ए०; प्रकाशक—सरस्वती मंदिर, गोवर्द्धन।

२—'महाकवि चंद अने पृथ्वीराज रासो' नामक गुजराती पोथी में भी इसी आग्रह की पुनरावृत्ति है।

एक पुरखे के नाम में ही उलटफेर है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि नानूराम भट्ट की वंशावली भी सरदार आदि की सटीक 'साहित्य-लहरी' के उक्त पद के आधार पर ही बनी है। इस पद में जिन घटनाओं का उल्लेख है उन्हें भी ऐतिहासिक और आध्यात्मिक पक्ष में लोग घटाया करते हैं। ऐतिहासिक पक्ष का अर्थ ही कुछ संगत प्रतीत होता है और उसके अनुसार पेशवों के समय का संकेत मिलता है जो 'सूरसागर' के रचयिता के समय के बाद की घटना है। अतः इस पद के आधार पर सूरदास को ब्रह्मभट्ट सिद्ध करना, मेरी दृष्टि में, ऐतिहासिक महत्त्व की बात नहीं। इस पद पर जिन लोगों ने विचार किया है उन्होंने उसकी प्रामाणिकता की पूरी छानबीन नहीं की है, ऐसी मेरी धारणा है। विस्तार से इसपर स्वतंत्र रूप से फिर कभी विचार करूँगा।

— विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

निरुक्त के एक अशुद्ध पाठ का संशोधन

यास्कीय निरुक्त की सबसे प्राचीन टीका दुर्गाचार्य[1] की है। उन्होंने अपनी टीका में निरुक्त के अनेक अपपाठों की ओर संकेत किया है, कई संशोधन किए हैं तथा कई स्थानों पर "सम्यक् पाठोऽन्वेष्यः, ततो योज्यम्" लिखा है। उनके अनंतर स्कंद[2] और महेश्वर[3] ने भी अपनी टीकाओं में निरुक्त के अनेक अपपाठों का उद्धार किया है। इससे स्पष्ट है कि निरुक्त में अति प्राचीन काल से अपपाठ चले आ रहे हैं।

निरुक्त के इस समय जितने संस्करण उपलब्ध हैं उनमें स्वर्गीय डा० लक्ष्मणस्वरूप द्वारा संपादित संस्करण सबसे अच्छा है। संस्करण के संपादन-काल तक स्कंद-महेश्वर की टीका उपलब्ध नहीं हुई थीं और नैरुक्त संप्रदाय का अत्यंत उपयोगी ग्रंथ वाररुच 'निरुक्त-समुच्चय' भी अप्रसिद्ध था। अतः उसके संपादन में इन महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का उपयोग नहीं हुआ। इस समय वैदिक साहित्य का जितना वाङ्मय उपलब्ध है उसके आधार पर निरुक्त के सर्वांगपूर्ण शुद्ध संपादन की महती आवश्यकता है।

कुछ समय हुआ निरुक्त १.१४ के एक अपपाठ की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट हुआ। इस लेख में उसी की विवेचना है। निरुक्त का पाठ इस प्रकार है—

सन्त्यल्पप्रयोगाः कृतोऽप्यैकपदिकाः। यथा—व्रततिर्दमूना जाट्य आट्णारो जागरूको दर्विहोमीति।

इसमें 'आट्णार' पद विवेचनीय है। निरुक्त के पाठ से यह स्पष्ट है कि यहाँ उदाहृत समस्त पद कृदंत हैं। निरुक्त के दुर्ग और स्कंद दोनों टीकाकारों ने 'आट्णारः' को कृदंत मानकर इसका अर्थ 'अटनशील' किया है। मेरे विचार से यहाँ 'आट्णार' पद अशुद्ध है। इसके स्थान में 'अट्णार' पाठ होना चाहिए। समस्त वैदिक साहित्य में

१—आचार्य दुर्ग ईसा की प्रथम शती में विद्यमान थे।—देखिए डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप-संपादित 'निरुक्त पर स्कंदस्वामिन् तथा महेश्वर की टीकाएँ', भूमिका, भाग ३-४, पृष्ठ १०१, सन् १९३४ ई०।—संपादक।

२—स्कंदस्वामी का समय, पाँचवीं शती का अंत और छठीं शती का आरंभ है।—देखिए वही, पृष्ठ ६५।—संपादक।

३—महेश्वर बारहवीं शती के हैं।—देखिए वही, पृष्ठ ८०।—संपादक।

'*आट्णार*' पद तद्धित प्रत्ययांत के रूप में प्रयुक्त हुआ है। उपर्युक्त निरुक्त पाठ में तद्धित प्रत्ययांत का पाठ इष्ट नहीं है। वहाँ कृदंत का पाठ होना चाहिए। तद्धितांत '*आट्णार*' की प्रकृति '*अट्णार*' है और वह कृदंत है। यह शतपथ ब्राह्मण ११।५।४।४ के निम्नलिखित पाठ से स्पष्ट है—

एते एव पूर्वे अहनी अभिजिदति रात्रः। तेन ह पर '**आट्णार**' ईजे कौसल्यो राजा। तदेतद् गाथयाभिगीतम्—

अट्णारस्य परः पुत्रोऽश्वं मेध्यमबन्धयत्।
हैरण्यानाभः कौसल्यो दिशः पूर्णा अमंहत॥

यहाँ '*आट्णार*' तद्धित प्रत्ययांत है और यह हिरण्यनाभ कौसल्य के पुत्र 'पर' का विशेषण है। इस पाठ से यह भी व्यक्त है कि '*आट्णार*' हिरण्यनाभ का विरुद है। हिरण्यनाभ अंतिम अवस्था में संन्यासी हो गया था। अतः उसका '*अट्णार*' विरुद युक्ति-युक्त है। इस विवेचना से स्पष्ट है कि निरुक्त १।१४ के उपर्युक्त पाठ में '*आट्णार*' के स्थान में '*अट्णार*' पाठ चाहिए।

अब हम '*आट्णार*' पद के प्रसंग से वैदिक वाङ्मय के वे सब स्थल उपस्थित करते हैं जहाँ यह पद 'पर' के विशेषण रूप में विभिन्न रूपों में प्रयुक्त हुआ है—

१—एतं हैवैतमुद्गीथं पर आट्णारः कक्षीवान्…………। जै० उ० ब्राह्मण २।६।११।
२—एतं वै पर आट्नारः कक्षीवानौशिजो…………अचिन्वत। तै० सं० ५।६।५।
३—एतं वै पर आङ्नारः कक्षिवानौशिजो…………अचिन्वत। का० सं० २२।३।
४—ताण्ड्य ब्राह्मण २५।१६।३ में '*पर आह्णार*' पाठ है।
५—शांख्यायन श्रौत १६।९।११-१३ में भी '*पर आह्णार*' पाठ है।
६—आनंदाश्रम-मुद्रित निरुक्त दुर्ग टीका के मूल निरुक्त के पाठ में '*आट्नार*' पाठ है और टीका में '*आट्णार*'।

इन उद्धरणों में '*आट्णार*' के '*आट्नार*', '*आह्णार*' और '*आङ्नार*' रूपांतर उपलब्ध होते हैं, परंतु इन सब रूपांतरों में '*अट्णार*' पाठ ही शुद्ध प्रतीत होता है। क्योंकि इसी का मूल रूप '*अट्णार*' अटनार्थक '*अट्*' धातु से निष्पन्न हो सकता है। '*अट्णार*' का संबंध भी '*अट्*' धातु से हो सकता है, परंतु अधिक ग्रंथों का पाठ '*आट्णार*' ही है। '*आङ्नार*' और '*आह्णार*' निश्चय ही अपपाठ हैं। यह भी इस विवेचना से स्पष्ट है।

'*अट्णार*' पद निरुक्तकार यास्क के काल-निर्णय में भी महान् सहायक है। इसका उपयोग अभी तक किसी विद्वान् ने नहीं किया। '*अट्णार*' विरुदवान् हिरण्यनाभ कौसल्य का काल यद्यपि अभी कुछ विवादास्पद है तथापि अनेक विद्वानों का यही मत है कि हिरण्यनाभ कौसल्य का काल भारत-युद्ध से कुछ पूर्व था।[1] निरुक्त में हिरण्यनाभ कौसल्य के विरुद '*अट्णार*' का पाठ होना इस बात का प्रमाण है कि यास्क उससे अवर-कालीन हैं अर्थात् हिरण्यनाभ कौसल्य उसकी पूर्व सीमा है।

—युधिष्ठिर।

१—श्री भगवद्दत्तकृत भारतवर्ष का इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १२१।

समीक्षा

आर्यसंस्कृति के मूलाधार—आचार्य बलदेव उपाध्याय; प्रकाशक-शारदा-मंदिर, बनारस; प्रथम संस्करण; मूल्य ५॥)।

ग्रंथ का विषय इसके नाम से ही स्पष्ट है। इसमें उन महत्त्वपूर्ण रचनाओं का सांगोपांग विवेचन है जिनकी आधारशिला पर भारतीय संस्कृति का गगनचुंबी प्रासाद खड़ा है। वैदिक परंपरा की आलोचना के साथ ही बौद्ध और जैन संप्रदाय की विचार-धाराओं और दर्शनों का परिचय देकर आर्यसंस्कृति के व्यापक स्वरूप तथा उदार दृष्टि को स्पष्ट कर दिया गया है। यद्यपि जैन तथा बौद्ध संप्रदायों में वेदों की प्रामाणिकता मान्य नहीं है, तथापि उनके धर्म और दर्शन का विकास वेदों के शीर्षस्थानीय उपनिषदों से तो संबंध रखता ही है। इसके अतिरिक्त बौद्धों और जैनों की संस्कृति भी वैदिक धर्मानुयायियों से भिन्न नहीं है। अतः वे भी इस विशाल आर्यसंस्कृति के ही अंग हैं।

यह ग्रंथ बारह परिच्छेदों में पूर्ण हुआ है। प्रथम परिच्छेद में वर्ण, आश्रम, कर्मवाद, जन्मांतरवाद, अवतारवाद और मुक्ति आदि तत्त्वों की सुंदर समीक्षा की गई है। संक्षेप में, ये सभी भारतीय संस्कृति के ही स्वरूप हैं। पश्चिमीय भाषा में 'रिलीजन' और 'कल्चर' इन दो शब्दों के द्वारा जो कुछ प्रतिपादित होता है, उन सबका समावेश 'धर्म' शब्द के अंतर्गत है—ऐसा बताकर 'धर्म' के व्यापक रूप का दिग्दर्शन कराया गया है। संस्कृति के स्वरूप का परिचय देते समय लेखक के निम्नांकित विचार ध्यान देने योग्य हैं—'संस्कृति शब्द का अर्थ है—मन को, हृदय को तथा उनकी वृत्तियों को संस्कार के द्वारा सुधारना और उदात्त बनाना। संस्कृति के जितने अंग हैं, उन सब अंगों का एक ही प्रधान लक्ष्य होता है—शिक्षा तथा संस्कारों के द्वारा मन को शिक्षित, संस्कृत और उच्च बनाना।' आपकी राय में भारतीय संस्कृति की तीन विशेषताएँ हैं, जो तकार से आरंभ होती हैं—'त्याग, तपस्या और तपोवन।'

द्वितीय परिच्छेद से अष्टम तक वैदिक साहित्य, ब्राह्मणभाग, वेदांग, इतिहास, पुराण, दर्शन और धर्मशास्त्र का गंभीर विवेचन है। दर्शनशास्त्र में गीता के अध्यात्म और व्यवहारपक्ष को भी स्पष्ट किया गया है। नास्तिक और आस्तिक दर्शनों के क्रमिक विकास पर भी विचार हुआ है। नवम परिच्छेद में तंत्रशास्त्र की सुंदर आलोचना है। तांत्रिक आचार के संबंध में जो भ्रांत धारणाएँ फैली हुई हैं, उनका निवारण करने की चेष्टा की गई है। तंत्राचार और कुलाचार का स्वरूप बताया गया है। शैवतंत्र के पाशुपत, शैव, वीरशैव, प्रत्यभिज्ञा आदि सिद्धांतों का प्रामाणिक विवेचन किया गया है। द्वादश में पुनः आर्यसंस्कृति की संक्षिप्त मीमांसा के साथ ग्रंथ का उपसंहार हुआ है।

इस प्रकार एक छोटे से ग्रंथ में आर्यसंस्कृति के अगाध तत्त्वों का इतना सुंदर संकलन गागर में सागर की प्रतिष्ठा के समान आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। प्रत्येक

आर्यधर्मावलंबी को एकाग्रचित्त से इस ग्रंथ का स्वाध्याय करना चाहिए। इसके द्वारा हिंदी में एक बड़े अभाव की पूर्ति संभव हुई है। श्री उपाध्यायजी अपनी अतुल ज्ञान-संपत्ति से हिंदी-साहित्य का भांडार भरने का जो स्तुत्य प्रयास कर रहे हैं, इसके लिये हिंदी जगत् आपका सदा आभारी रहेगा। इस पुस्तक से आर्यसंस्कृति के स्वरूप तथा उसके मौलिक आधारों का परिचय प्राप्त करने में पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार।

क्रांतिकारी कवि 'निराला'—लेखक—बच्चनसिंह एम० ए०; प्राप्तिस्थान—युगाश्रय, विश्वेश्वरगंज, काशी; मूल्य २॥।)।

'क्रांतिकारी' विशेषण की जितनी सार्थकता 'निराला' के साथ है, संभवतः हिंदी के किसी अन्य कवि के साथ नहीं। वस्तुतः छायावाद-युग में भाव, विषय एवं शैली तीनों में एक साथ नवीनता की क्रांति उत्पन्न करनेवाले ये प्रथम कवि हैं। इसी कारण लेखक ने पुस्तक का नामकरण 'क्रांतिकारी कवि 'निराला' करना उचित समझा है। प्रस्तुत ग्रंथ में लेखक ने किसी वाद की संकीर्ण भाव-धारा से प्रभावित न होकर कवि की कारयित्री प्रतिभा को ही प्रधान मानकर विषय-प्रतिपादन किया है। उसने कवि की सच्चे अर्थों में आलोचना की है। उसके ग्रंथ में गुण और दोष दोनों का यथास्थान उल्लेख हुआ है। समीक्षा के लिये अपेक्षित शास्त्रीय पद्धति का यथास्थान निर्वाह होने के कारण पुस्तक में विषय के उपयुक्त गंभीरता भी है।

ग्रंथ को आद्यंत पढ़ जाने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि 'निराला' जी का वैशिष्ट्य समझाने में प्रस्तुत ग्रंथ द्वारा लेखक ने उपयोगी एवं प्रशंसनीय प्रयास किया है।

—पूर्णगिरि गोस्वामी।

विनय-पीयूष (द्वितीय हिलोर)—लेखक—श्री अंजनीनंदनशरण; प्रकाशक-पीयूष-धारालय, विट्ठल क्रीडाभवन, बड़ौदा; प्रथम संस्करण; मूल्य ३)।

'मानस-पीयूष' से परिचित जनता को 'विनय-पीयूष' से परिचित होते देर न लगेगी। 'पीयूष' नाम से ही कर्ता का स्मरण हो जाता है। विनयपत्रिका की यह टीका उसी शैली और संभार के साथ प्रकाशित हो रही है जिस शैली और संभार के साथ 'मानस' की टीका 'मानस-पीयूष' के नाम से प्रकाशित हुई थी। ग्रंथकार अपनी रचना सर्वांगपूर्ण बनाने में पूरा सफल हुआ है। क्या पाठ की दृष्टि से, क्या अर्थ की दृष्टि से, क्या व्याख्या की दृष्टि से 'विनयपत्रिका' संबंधी समस्त सामग्री एक ही स्थान पर प्रामाणिक रूप से एकत्र कर देने में लेखक प्रशंसा का पात्र है। यह ग्रंथ सभी प्रकार के लोगों के लिये उपादेय है। जिनकी अनुसंधान की प्रकृति है उन्हें इसमें अनुसंधान का मसाला मिलेगा, जो भक्त हैं उन्हें भक्ति के विशद रूप के दर्शन होंगे। इस टीका को पढ़कर सामान्य साक्षर से लेकर बड़े से बड़े विद्वान् तक तुलसी के इस अद्वितीय काव्य की तह तक सरलतापूर्वक पहुँच सकते हैं और उसकी सरसता में मग्न हुए बिना रह

नहीं सकते। संक्षेप में यह तिलक सर्वगुण-संपन्न है और साहित्य की अनमोल कृति है।

— वटेकृष्ण।

गांधीजी (श्रद्धांजलियाँ १)—संपादक श्री कमलापति त्रिपाठी आदि; प्रकाशक-काशी विद्यापीठ प्रकाशन-विभाग, बनारस छावनी; प्रथम संस्करण; मूल्य १॥)।

मानवता के अन्यतम प्रतीक गाँधीजी के चरणों पर भारत की यह लिपिबद्ध श्रद्धांजलि है। गाँधीजी के चले जाने पर उनके प्रति हमारे नेताओं की भावनाएँ इस ग्रंथ में संगृहीत हैं। जिन्हें अक्षर-ज्ञान हो वे इसे पढ़कर जान लें और जो निरक्षर हों वे इसके चित्रों को देखकर समझ लें। ज्यों ज्यों समय बीतता जायगा और आज के लोग अतीत के स्मर्य व्यक्ति होते जायँगे त्यों त्यों इस ग्रंथ का महत्त्व बढ़ता जायगा।

— वटेकृष्ण।

प्राप्ति-स्वीकार

१—दिल्ली-डायरी—प्रकाशक-नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, मूल्य ३)।

२—महावीर-वाणी—प्रकाशक-श्री भारत जैन महामंडल कार्यालय, वर्धा; मूल्य ।॥)।

३—वर्णाश्रम धर्म और समाजवाद—लेखक—श्री ईश्वरचंद्र शर्मा; प्रकाशक—गौतम बुकडीपो, नईसड़क, दिल्ली; मूल्य १)।

४—स्वतंत्र भारत—लेखक-श्री दशरथ ओझा; प्रकाशक-एस० गर्ग ऐंड कंपनी, देहली; मूल्य २।)।

५—हिमालय की यात्रा—लेखक—श्री दत्तात्रय बालकृष्ण कालेलकर; प्रकाशक—नव-जीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद; मूल्य २)।

६—प्रेम-पंथ—लेखक—श्री बालजी गोविंदजी देसाई; प्रकाशक—नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद; मूल्य ।)।

———

संपादकीय

देवनागरी लिपि का प्रतिसंस्कार

लत देवनागरी लिपि में प्रतिसंस्कार करने का प्रयास विगत कई वर्षों से हो रहा है और अनेक व्यक्तियों ने अपनी अपनी गति-मति के अनुसार उसमें प्रतिसंस्कार किए भी हैं। दक्षिणापथ में कुछ कामचलाऊ प्रतिसंस्कार किए गए और उनका व्यवहार भी कतिपय व्यक्तियों द्वारा किया जाने लगा। वहाँ दो प्रतिसंस्कार विशेष रूप से प्रचलित किए गए। एक तो स्वरों के लिये 'अ' की बारहखड़ी चलाई गई और दूसरे 'र' का आधा रूप 'रेफ' के लिये रखा गया और वह अनुगामी वर्ण के ठीक ऊपर न रखकर कुछ पहले रखा गया। ये दोनों सुधार ठीक नहीं हुए। 'अ' में मात्रा लगाने से वस्तुतः वह दो स्वरों के संयोग का द्योतक होता है, न कि एक स्वतंत्र स्वर का। मात्राएँ स्वरों की प्रतिनिधि हैं। इसलिये 'अ' में 'ा' लगने से उसका उच्चारण 'ऐ' होना चाहिए। 'अ' की बारहखड़ी बनानेवालों को 'ओ' और 'औ' की देखादेखी ऐसा करने का साहस हुआ था। 'ओ' वस्तुतः 'अ' और 'उ' से मिलकर बना हुआ संयुक्त स्वर है। इसलिये पुराने हस्तलेखों में 'ो' मात्रा कहीं 'अ' के साथ लगी हुई मिलती है और कहीं 'उ' के साथ अर्थात् 'ओ' और 'उो'। यही स्थिति 'ए' की भी है। 'ए' 'अ' और 'इ' का संयुक्त रूप होने के कारण हस्तलेखों में 'अे' और 'इे' दोनों रूपों में दिखाई देता है। इनमें से पहला रूप तो बहुत प्रचलित रहा है। तंत्रों में स्वीकृत 'ए' के त्रिकोणात्मक स्वरूप के अति प्रचलन के ही कारण यह वर्तमान चलित रूप में दिखाई देता है।

'र' के संबंध में सुधारकों को स्थिति ठीक ठीक समझ में नहीं आई है। वस्तुतः 'र' के दो रूप हैं—(१) प्रचलित अधोलंबित रूप (र) और (२) कोणात्मक रूप जो संप्रति हिंदी और मराठी में अप्रचलित है (‸)। कैथी, मुंडा आदि कई लिपि-शैलियों में यह दूसरा रूप अब भी चलता है। '' वस्तुतः 'र' का ही कोणात्मक रूप है जो लेखन-सौकर्य के कारण अर्ध-वृत्ताकार हो गया है। संयुक्त वर्णों में 'र' अब भी अपने उसी कोणात्मक रूप को बनाए हुए है। 'क्र', 'प्र' आदि में 'र' का यही रूप है जिसे लोग भ्रमवश '्' ही समझते हैं। टवर्ग के 'ट' और 'ड' में यह अपने मूल रूप में स्पष्ट व्यक्त भी होता है। किंतु कुछ लोग भ्रांति के कारण 'ट्र' और 'ड्र' के स्थान पर 'ट्र' और 'ड्र' लिखने लगे हैं।

उत्तरापथ में हिंदी-साहित्य-संमेलन में लिपि-सुधार की जो चर्चा हुई उसमें कोई विशेष उल्लेखनीय बात उस समय नहीं थी। इसमें 'क्ष', 'ज्ञ' और 'ख' के रूप बदलने का प्रयास दिखाई देता है और दक्षिणापथ की उक्त लिपि की ओर कुछ झुकाव प्रतीत होता है। 'क्ष' और 'ज्ञ' के वर्तमान स्वरूप भी तंत्रों से ही लिए गए हैं—यह ध्यान में रखना चाहिए।

इधर 'सभा' ने श्री श्रीनिवासजी की प्रतिसंस्कृत देवनागरी लिपि पर विचार करते हुए नागरी के अधिक से अधिक जितने प्रतिसंस्कृत रूप प्राप्त हो सके उन्हें लिपि-

उपसमिति के समक्ष उपस्थित किया और उपसमिति ने उन प्रतिसंस्कारों को तुलनात्मक दृष्टि से देखकर श्री श्रीनिवासजी के प्रतिसंस्कार को विशेष संगत पाया। देखने को तो इसमें भी 'अ' की बारहखड़ी ही जान पड़ती है, किंतु वस्तुतः इसमें 'अ' का पूर्वार्ध स्वर-बोधक चिह्न माना गया है। इन्होंने मराठी 'अ' का पूर्वार्ध रूप (खड़ी रेखा रहित रूप) 'ॶ' को स्वर-बोधक चिह्न मान लिया है और उसमें विभिन्न स्वरों की मात्राएँ लगाकर समस्त स्वरों का पृथक् पृथक् रूप बनाया है। इनके ऐसा करने का कारण यह प्रतीत होता है कि व्यंजनों के साथ स्वरों का जब कभी संयोग होता है तब उनके (स्वरों के) उत्तरार्ध रूप अर्थात् मात्राएँ ही मिलाई जाती हैं, पूर्वार्ध का परित्याग कर दिया जाता है। इससे इन्होंने स्वरों के दो रूप माने—(१) पूर्वार्ध जो सामान्यतया स्वर रूप का बोधक है और (२) उत्तरार्ध जो स्वर के विशिष्ट रूप का बोधक है। 'अ' के भी इसी प्रकार दो खंड हुए और खड़ी रेखा उसकी मात्रा हुई। मराठी 'अ' के पूर्वार्ध को ही इन्होंने स्वर का प्रतीक इसलिये माना कि कई स्वरों के पूर्वार्ध में थोड़े हेरफेर के साथ प्रायः वैसा ही रूप मिलता है। इस प्रकार स्वरों के प्रतिसंस्कार में इन्होंने जो मार्ग ग्रहण किया है उससे देखने को तो 'अ' की बारहखड़ी जान पड़ेगी, पर वह बारहखड़ी नहीं है।

स्वरों के साथ व्यंजनों के प्रतिसंस्कार में भी वैज्ञानिकता है—यह विचारपूर्वक देखने से ज्ञात हो जाता है। प्रचलित पद्धति में 'क', 'ख' आदि व्यंजनों के 'अ'कार-युक्त और 'अ'कार-रहित या हलंत अथवा शुद्ध व्यंजनात्मक रूप एक से ही हैं। इसमें व्यंजन रूपों और संयुक्त वर्णों में दिखाई देनेवाले रूपों को एक ही प्रकार का रखने का प्रयास वैज्ञानिक दृष्टि से विशेष ध्यान देने योग्य है। महाप्राण और पंचम अनुनासिक वर्णों में भी वैज्ञानिकता का अधिक ध्यान रखा गया है। ऐसा करने के प्रयास में श्री श्रीनिवासजी द्वारा प्रतिसंस्कृत रूप अधिकतर प्रचलित रूप से कुछ दूर हो गया है और आधुनिक शब्दावली में क्रांतिकारी कहा जाने लगा है। किंतु सम्यक् विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि वैज्ञानिक दृष्टि से इससे उत्तम तथा प्रचलित रूप में अपेक्षाकृत कम संशोधनयुक्त दूसरा कोई स्वरूप अब तक सामने नहीं आया है।

'सभा' की लिपि-उपसमिति ने इन्हें मुद्रण और लेखन-सौकर्य दोनों दृष्टियों से कार्य करने का परामर्श दिया था। प्रतिसंस्कर्ता ने भरसक दोनों का ध्यान रखा है। मुद्रण-संबंधी सौकर्य की प्रशंसा तो यंत्र-विशेषज्ञों ने भी की है।

स्वरों के संबंध में पश्चिमी ध्वनिशास्त्र-विशारदों के मान-स्वरों की खोज और अपनी स्वर-संबंधी अर्धक की नूतन उद्भावना के कारण प्रतिसंस्कर्ता ने अनेक भाषाओं की आवश्यक स्वर-ध्वनियों का संग्रह भी इसमें अनायास कर लिया है। अन्य कल्पनाओं की विस्तार से मीमांसा करने का यह अवसर नहीं है, किंतु प्रतिसंस्कर्ता की अर्धक-संबंधी कल्पना का कुछ विचार करना अप्रासंगिक न होगा। संप्रति 'अ' और 'आ' स्वतंत्र स्वर माने जा चुके हैं और 'आ' को 'अ' का दीर्घ रूप मानने में आपत्तियाँ की गई हैं। पुराकाल में वैदिक प्रातिशाख्यों में ध्वनि-संबंधी क्या क्या विचार हुआ होगा—इसका पता चलना अब कठिन है। क्योंकि बहुत सी शाखाओं के प्रातिशाख्यों का पता अब नहीं चलता। पर स्थान स्थान पर जो शंका-समाधान और उच्चारण-संबंधी विचार

किए गए हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन विचारकों के ध्यान में बहुत सी वे कल्पनाएँ आ चुकी थीं जिनकी ओर आज स्वच्छंद रूप से विचार करने पर दृष्टि जाती है। 'ए' और 'ओ' के अर्धक के लिये विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। महाभाष्यकार पतंजलि ने

'ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्द्धमेकारमर्द्धमोकारं चाधीयते।'

लिखकर बहुत पहले ही इसका संकेत कर दिया था। हिंदी की प्राचीन कविता में तो इसका प्रयोग भरा पड़ा है। 'आ'कार का अर्धक विलक्षण सा अवश्य प्रतीत होता है पर हिंदी के सवैयों में, क्या ब्रजभाषा क्या खड़ी बोली दोनों में, इसका यह रूप आता ही है। यदि वर्ण-वृत्त के छंदानुरोध को आवश्यक प्रमाण न माना जाय तो सूरदास के 'सूर-सागर' में गोता लगाते ही ऐसे अनेक प्रयोग मात्रा-वृत्त में भी मिल जायँगे। जैसे,

कहा कमी जाके राम धनी।

—सूरसागर (सभावाला संस्करण) प्रथम स्कंध, संख्या ३९, पृष्ठ २२।

रहा 'अ' का अर्धक। यह भी 'सूरसागर' में ही मिल जाता है। देखिए—

ज्यौं त्यौं कोउ हरि नाम उचरै। निस्चय करि सो तरै पै तरै।

—'सभा' संस्करण, संख्या ४१५, पृष्ठ २५४।

अब विचारणीय यह है कि क्या प्राचीन ग्रंथों में ऐसे स्वरूपों की ओर विचारकों की दृष्टि गई है। ग्रंथों का आलोड़न करने पर पता चलता है कि अर्धस्वर या अंतस्थ 'व' के तीन रूप—गुरु, लघु तथा लघूतर—उच्चारण-भेद से प्राचीन शिक्षा-ग्रंथों में भी उल्लिखित हैं—

वकारस्त्रिविधः प्रोक्तो गुरुर्लघुर्लघूतरः।
आदौ गुरुर्लघुर्मध्ये पदान्ते च लघूतरः॥
पदान्ते पदमध्ये च वकारो दृश्यते यदा।
लघुरेव स मन्तव्यो ह्यन्यत्रापि लघूतरः॥
औकारे च पदे पूर्वे अकारे परतः स्थिते।
लघूतरं विजानीया दग्नावग्नि निदर्शनम्॥

—पाराशरी एवं अमोघानंदिनी शिक्षा।

'महाभाष्य'कार ने 'ए' और 'ओ' में 'अ' की आधी और 'इ' और 'उ' की डेढ़ डेढ़ मात्रा मानी है। इससे 'अ' के अर्धक रूप का कुछ संकेत मिलता है। सबसे बढ़कर बात तो 'मंजूषा' में शंका के रूप में उपस्थित की गई है; जहाँ द्रुत, मध्य और विलंबित रूपों का उल्लेख करके 'स्फोट' के नाम पर उनका खंडन किया गया है।[१] यह बतला

१—किं चैवं द्रुतमध्यविलम्बितासु प्रयत्नभेदेन चिराचिरकालोच्चारणजन्यत्वाद्भिन्नकालत्वभेदयोरापत्तौ ह्रस्वाकारस्यापि भेदे भिन्नकालत्वे चान्यतमवृत्तौ तत्प्रकरणेऽन्यतमवृत्त्यावतो भिस ऐसोऽनापत्तेः। स्फोटांगीकारे तु न दोषः। जायमानेन चिरकालेन वैकृतध्वनिना तस्य चिरकालमुपलब्धावपि स्फोटे कालभेदाभावात्। तमेवायं द्रुतमुच्चारितवानन्यो विलम्बितमिति प्रत्यभिज्ञासत्त्वात्। ह्रस्वदीर्घादौ तु नैवमभेदप्रत्यभिज्ञा।

—श्रीनागेशभट्ट-विरचित 'वैयाकरण-सिद्धान्तलघुमंजूषा', प्रथम भाग, स्फोटनिरूपण, पृष्ठ २३३।

देना आवश्यक है कि मीमांसक आदि बहुत से विचारक 'स्फोट' को नहीं मानते। जो लोग स्फोट स्वीकार नहीं करते उन्हें इन रूपों की कल्पना करने से कैसे रोका जायगा, यह विचारणीय है। 'पत्रिका' के इस अंक में श्री श्रीनिवासजी द्वारा किया हुआ प्रतिसंस्कार इसलिये प्रकाशित किया जा रहा है कि 'सभा' के बहुत से सदस्यों के पत्र उसे देखने और समझने के लिये आते रहे हैं और पृथक् पुस्तकाकार प्रकाशित उक्त प्रतिसंस्कार संप्रति समाप्त हो गया है। उसके पक्ष की सुविचारित सुस्थ स्थिति का बोध कराने के लिये कुछ बातें इसलिये उपस्थित कर दी गई हैं जिससे उसकी आलोचना करनेवाले गंभीरतापूर्वक उसका विचार करने का भरपूर अवसर पा सकें।

स्वर्गीय जोगलेकरजी

सभा के भूतपूर्व प्रधान मंत्री तथा काशी के लब्धप्रतिष्ठ वकील श्री गोविंद राव जोगलेकर की मृत्यु से हमें गहरा धक्का लगा। आप संवत् १९७६ और १९७७ में सभा के प्रधान मंत्री थे। आपके ही कार्य-काल में 'देवीप्रसाद ऐतिहासिक ग्रंथमाला' और 'सूर्यकुमारी पुस्तकमाला' की स्थापना हुई थी जिनमें अद्यावधि अनेकानेक अति महत्त्व-पूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। 'पत्रिका' ने नया रूप आपके ही कार्य-काल में धारण किया। न्यायालयों में हिंदी प्रचार का जो आंदोलन सभा ने आरंभ किया था उसमें आपका बहुत ही प्रभावशाली सहयोग मिला था। 'सभा' आपके उपकारों की अतिशय ऋणी है। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि इस कर्मठ एवं न्यायप्रिय आत्मा को सद्गति मिले और उनका शोक-संतप्त परिवार धैर्य-धारण में सक्षम हो। श्री जोगलेकर की मृत्यु हमारे परिवार की क्षति है।

दिवंगत सुधाकरजी

प्रोफेसर श्री सुधाकरजी के स्वर्गवास से हमने एक कर्मठ, दृढ़प्रतिज्ञ एवं हिंदी का सच्चा हितैषी खो दिया है। गुरुकुल काँगड़ी में जब हिंदी के माध्यम से शिक्षा देने का निश्चय हुआ तब आप पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अपना सब कुछ त्याग कर सेवाभाव से वहाँ पढ़ाना आरंभ कर दिया था। अपने सिद्धांतों के समक्ष आप पर्वत के समान अटल रहते थे। मनोविज्ञान का पांडित्य आपमें अपरिमित था। आपको 'मनोविज्ञान' नामक ग्रंथ पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी मिला था। आपके प्रभाव से बहुत से व्यक्ति हिंदी के लेखक बने। 'सभा' के आप स्थायी सदस्य थे और समय समय पर आपके सत्-परामर्श एवं सहयोग से 'सभा' को सहायता मिलती रहती थी। ईश्वर आपको सद्गति दे।

—•—

रामचरितमानस

(संपादक—स्वर्गीय श्री शंभुनारायण चौबे)

गोस्वामी तुलसीदास जी के मानस के अब तक शताधिक विभिन्न संस्करण निकल चुके हैं किंतु विद्वन्मंडली और भक्त-संप्रदाय की मानस के शुद्धतम पाठ की आकांक्षापूर्ति उनमें से किसी से भी पूर्ण रूप से अब तक नहीं हो पाई है। इसी कमी को पूरा करने के उद्देश्य से सभा ने स्वर्गीय चौबे जी से, जिन्होंने मानस के ही निमित्त अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया, आग्रह करके मानस का यह संस्करण प्रस्तुत कराया है। चौबे जी ने इसके संपादन और पाठ-निर्धारण में भागवतदास, वि० सं० १७२१, सं० १७६२, छक्कनलाल, रघुनाथदास, बंदन पाठक, काशिराज, कोदोराम, श्रावणकुंज, राजापुर, आदि की प्रतियों से एवं मानस के लब्धप्रतिष्ठ ज्ञाताओं और साधकों से सहायता लेकर अत्यंत सावधानता से गोस्वामी जी की मौलिक वाणी निर्दिष्ट की है। मानस का यह संस्करण अब तक प्रकाशित अन्य समस्त संस्करणों से शुद्ध और श्रेष्ठ होगा इसमें लेशमात्र संशय नहीं। मानस-प्रेमियों एवं मानस-संबंधी शोधकार्य करनेवालों के लिये यह ग्रंथ परमोपयोगी होगा। इसका प्रकाशन अत्यंत शीघ्र होगा। मूल्य ७)

रस-मीमांसा

(लेखक—स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल)

इसमें लेखक ने आधुनिक जिज्ञासा को दृष्टि में रखकर रस का विवेचन किया है। इस ग्रंथ में प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र और नवीन पश्चिमी मनोविज्ञान की पूरी छानबीन करके रस एवं भाव का निरूपण हुआ है। पंडितराज जगन्नाथ के बाद से शास्त्राभ्यासियों ने एक प्रकार से रस-मीमांसा करनी छोड़ दी थी। अतः भारतीय रीति-शास्त्र में आचार्य के इस ग्रंथ का महत्त्व स्वतःसिद्ध है। इसमें काव्य, विभाव, भाव, रस और शब्दशक्ति नामक ५ खंड हैं जिनके अंतर्गत १० अध्यायों में काव्यगत रस की सभी दृष्टियों से सम्यक् विवेचना की गई है। यह वही ग्रंथ है जिसके सैद्धांतिक मानदंड से सूर, तुलसी, जायसी आदि कवियों की विशद और हिंदी-साहित्य की सामान्य स्वरूप-बोधक समीक्षा आचार्य ने प्रस्तुत की है तथा जिसकी प्रतीक्षा हिंदी-जगत् बहुत दिनों से कर रहा था। यह ग्रंथ प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है। मूल्य ५)

मुद्रक—बालकृष्ण शास्त्री; ज्योतिष-प्रकाश प्रेस, विश्वेश्वरगंज; बनारस।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

(त्रैमासिक)

वर्ष ५३—अंक ३-४ [नवीन संस्करण] सं० २००५

कार्तिक-चैत्र

विषय-सूची

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

पत्रिका के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

संपादक

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

सहायक

बटेकृष्ण

हिंदी कारकों का विकास

(ले०—श्री शिवनाथ, ए० ए०)

हिंदी में भाषाशास्त्र संबंधी यह अपने ढंग का अकेला ग्रंथ है। इसमें हिंदी के कारक-प्रयोगों का विकास संस्कृत, पाली, अपभ्रंश के प्रयोगों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। उक्त सभी भाषाओं तथा हिंदी भाषा के सभी उदाहरण प्रामाणिक ग्रंथों से ही लिए गए हैं। पुस्तक कारक-प्रयोगों का अध्ययन करनेवाले विद्वानों तथा विद्यार्थियों के लिये अत्यंत उपयोगी है। मूल्य २॥)

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५३—अंक ३-४ [नवीन संस्करण] कार्तिक-चैत्र—सं० २००५

जवनिका

[श्री बलदेव उपाध्याय, एम० ए०]

(१)

हमारे माननीय महर्षियों की संमति में एक ही शब्द यदि सम्यक् रूप से जाना जाय तथा उचित रीति से प्रयुक्त किया जाय, तो वह स्वर्ग में तथा लोक में, परलोक में तथा इहलोक में 'कामधुक्' होता है।

'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति'

शतपथ ब्राह्मण की यह उक्ति आध्यात्मिक विषयों के लिये जितनी चरितार्थ है व्यावहारिक विषयों के लिये भी उतनी ही उपयुक्त है। 'जवनिका' शब्द का समीक्षण इस कथन का पर्याप्त रूप से परिचायक है। भारतीय रंगमंच पर अभिनय के अवसर पर जिस परदे का प्रयोग किया जाता है उसके लिये अधिकांश विद्वज्जन 'यवनिका' शब्द का प्रयोग करते हैं। इस शब्द के आदिम अंश की समीक्षा कर यूरोपीय विद्वानों ने यह सिद्धांत बना लिया है कि भारतीय नाटक के विकास पर यवनानी नाटकों का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। वे ऐतिहासिक प्रमाणों के अतिरिक्त 'यवनिका' शब्द को इस प्रसंग में अपने अशक्त भवन की दृढ़ नींव समझते हैं।

पहली बात ध्यान देने की यह है कि 'जवनिका' हमारे नाट्यशास्त्र का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द नहीं, प्रत्युत लोक-व्यवहार में प्रयुक्त होनेवाला साधारण शब्द है। 'अमरकोश' में इसका प्रयोग 'पटवेश्म' (खेमा) को ढकनेवाले परदे के अर्थ में किया गया है। प्राचीनकाल में वस्त्रों से बने घरों का वर्णन मिलता है। 'अमर' ने ऐसे घर के लिये 'दूष्य' शब्द का प्रयोग किया है—

दूष्याद्यं वस्त्रवेश्मनि।

—अमरकोश २।६।१२०

'अमर' के टीकाकार क्षीरस्वामी ने वस्त्रवेश्म के लिये 'पटकुटी', 'पटकुड्य', 'गुण-

शालिनी' तथा 'स्थूला' शब्दों का व्यवहार होना लिखा है।[1] 'अमर' के दूसरे टीकाकार भानुजिदीक्षित[2] (समय सत्रहवीं शती) ने इसी प्रसंग में 'कुटर', 'पटकुटी' तथा 'पटवास' शब्दों का उल्लेख किया है।[3] 'वस्त्रवेश्म' का प्रचलन प्राचीन काल में मुसलमानों के संपर्क से पहले भी था। कालिदास इसके प्रचलन से परिचित हैं। उन्होंने 'रघुवंश' के पंचम सर्ग में इसका उल्लेख किया है। विदर्भ देश के राजा भोज ने अपनी भगिनी इंदुमती के स्वयंवर में कोशल देश के राजकुमार अज को बुलाने के लिये उनके पिता रघु के पास दूत भेजा था। रघु ने निमंत्रण स्वीकार कर अज को विदर्भ प्रस्थान करने की आज्ञा दी। विदर्भ देश अयोध्या से दूर था। अतः उन्हें रास्ते में बने हुए घरों में निवास करना पड़ा जो राजकीय सामग्री से सज्जित होने के कारण अज के लिये उद्यान-विहार के समान ही आनंददायक प्रतीत हुआ। कालिदास कहते हैं—

तस्योपकार्या रचितोपचारा
वन्येतरा जानपदोपदाभिः।
मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसूनो-
र्बभूवुरुद्यानविहारकल्पाः ॥

—रघुवंश, सर्ग ५, श्लोक ४१

यहाँ 'उपकार्या' की मल्लिनाथी टीका 'उपकार्यासु राजयोग्येषु पटभवनादिषु' से स्पष्ट है कि कालिदास का कपड़ों के बने घरों से ही अभिप्राय है। इस उल्लेख से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'खेमा' (अंग्रेजी 'टेंट') बनाने तथा उसमें रहने का प्रचलन प्राचीन भारत में था और राजा लोग यात्रा में उसका उपयोग करते थे।

'जवनिका' का प्रयोग उस खेमे को ढकनेवाले परदे के लिये किया जाता था जिसे आजकल हिंदी में 'कनात' कहते हैं। मल्लाह नाव की गति तीव्र करने के लिये गोनधर (मस्तूल) के ऊपर जिस कपड़े का परदा बाँधते हैं उसे आजकल 'पाल' कहते हैं। इस

१—अमरकोशोद्घाटन, ओरिएंटल बुक एजेंसी, पूना से सन् १९४१ ई० में प्रकाशित, पूना ओरिएंटल सिरीज संख्या ४३, पृष्ठ १५८।

२—भानुजिदीक्षित प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित के पुत्र थे, इसका पता उनकी टीका के मंगलश्लोक तथा पुष्पिका से चलता है—

मंगलश्लोक—"वल्लवीवल्लभं नत्वा गुरुं भट्टोजिदीक्षितम्।
अमरे विदधे व्याख्यां मुनित्रयमतानुगाम् ॥"

पुष्पिका—"इति श्रीबघेलवंशोद्भवमहीधरविषयाधिपश्रीकीर्तिसिंहदेवाज्ञया श्रीभट्टोजिदीक्षितात्मज' श्रीभानुजिदीक्षितविरचितायाममरटीकायां व्याख्यासुधाख्यायां तृतीयः कांडः समाप्तिमगात्।"

इस टीका का नाम 'व्याख्यासुधा' ग्रंथकार निर्दिष्ट अभिधान है। पंडितों में यह 'रामाश्रमी' के नाम से अधिकतर प्रसिद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि दीक्षितजी के संन्यासाश्रम का नाम रामाश्रम' था और इसीलिये यह टीका भी तन्नाम से प्रसिद्ध हुई।

३—रामाश्रमी, निर्णयसागर प्रेस, पृष्ठ ४०७

पाल के लिये भी 'जवनिका' शब्द का प्रयोग कोशों में किया जाता है। इन दोनों विशिष्ट अर्थों का सामान्य रूप है 'ढकना', 'आवरण करना' और इसीलिये जवनिका का सामान्य अर्थ हो गया 'परदा' (जो वस्तु किसी को ढककर उसे तिरोहित कर देती है)। परदे के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले अनेक शब्द कोशों में मिलते हैं—

१—प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्करिणी च सा।

—अमरकोश २।६।१२०

२—प्रतिसीरा जवनिका तिरसः करिकारिणी।
अपटी स्यात् पुमान् कांडपटोऽथोल्लोच इत्यपि॥

—केशवकृत कल्पद्रुमकोश, पृष्ठ ५३, श्लोक ३००
(श्री रामावतार शर्मा द्वारा संपादित,
गायकवाड सिरीज, प्रथम संस्करण)

३—पद्माकरस्तडागे प्रतिसीरा जवनिकायां स्यात्।

—शाहजीकृत शब्दरत्नसमन्वय-कोश, पृष्ठ २९०, पंक्ति १५

४—अन्तःपटः पटी चित्रा, कांडपटः।

—शब्दरत्नावली

कोशों के इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि परदे के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले प्रधान शब्द हैं प्रतिसीरा, तिरस्करिणी, अपटी, कांडपट, अंतःपट, पटी तथा चित्रा। इन शब्दों से प्रसिद्धतर शब्द है 'जवनिका', और वह है जकारादि, यकारादि नहीं। शुद्ध भी 'जवनिका' ही है, 'यवनिका' नहीं।

'जवनिका' की उत्पत्ति टीकाकारों की संमति में इस प्रकार है—

१—जवन्ति अस्यां जवनिका। —क्षीरस्वामी

२—जनति अस्याम्। 'जुः' सौत्रो गतौ वेगे च। ल्युट्—करणाधिकरणयोश्च (३।३।११७), स्वार्थे कन् (५।४।५ सूत्रेण ज्ञापनात्)। —रामाश्रमी

३—जवनिका स्त्री। सौत्र धातु जु। करणे ल्युट् संज्ञायां कन्। वाचस्पत्य, पृष्ठ ३०८०

४—जु इति सौत्रो धातुर्जतौ वेगे च। जवनः। 'जु चङ्क्रम्यदन्द्रम्य-सृ-गृधि-ज्वल-शुच-लष-पत-पदः' (३।२।१५०) इति युच्—कौमुदी। स्त्रियां ङीप् जवनी जवनिका।

५—जवनं वेगेन प्रतिरोधनमस्ति अस्याः। जवनः ठन् टाप् च।

—शब्दकल्पद्रुम

इन भिन्न भिन्न व्युत्पत्तियों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि 'जवनिका' शब्द की व्युत्पत्ति 'जु' धातु से है। 'जु' धातु धातुपाठ में परिगणित न होकर ३।२।१५० सूत्र (जु चङ्क्रम्य·····) में महर्षि पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। इसका अर्थ है गति तथा वेग। अतः 'जवनिका' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ होगा वह आवरण जिसमें दौड़कर लोग चले जायँ अथवा वह वस्तु जो वेग से संपन्न हो या जिसे गति प्राप्त हो अर्थात् जो इधर उधर हटाई जा सके। 'जवनी' तथा 'जवनिका' दोनों का एक ही अर्थ

होता है। इन दोनों में 'जवनिका' का प्रयोग अत्यंत लोकप्रिय है, 'जवनी' का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत ही न्यून है, परंतु आवरण के अर्थ में प्रयोग दोनों का ही होता है।

'जवनिका' का प्रयोग 'नाटयशास्त्र', 'दशरूपक' जैसे शास्त्रीय ग्रंथों, 'भर्तृहरिशतक' तथा 'शिशुपालवध' जैसे प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथों तथा 'हरिवंश' और 'भागवत' जैसे पुराणों में समभावेन उपलब्ध होता है जिससे इसकी लोकप्रियता का पूरा पता हमें मिलता है—

१—एतानि च बहिर्गीतान्यन्तर्जवनिकागतैः।
प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि तु ॥

—नाट्यशास्त्र, अध्याय ५, श्लोक ११

२—अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकाऽर्थस्य सूचनात्।

—दशरूपक

३—नरः संसारान्ते विशति यमधानी जवनिकाम्।

—भर्तृहरिशतक

४—समीरशिशिरः शिरःसु वसतां
सतां जवनिका निकामसुखिनाम्।
बिभर्ति जनयन्नयं मुदमपा-
मपायधवला बलाहकततीः ॥

—माघ-काव्य, ४।५४

५—रेणुर्जवनिकाक्षेपैः सपक्षा इव खे नगाः।

—हरिवंश पुराण, अध्याय १, श्लोक ८८

६—मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम्।
न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा ॥

—श्रीमद्भागवत, १।८।१९

इन उद्धरणों में से प्रथम दो में तो 'जवनिका' शब्द का प्रयोग नाटकीय आवरण के लिये हुआ है और अंतिम चार में सामान्य परदे के अर्थ में। सर्वत्र जकारादि 'जवनिका' का ही प्रयोग मिलता है, यकारादि का नहीं। ऐसी दशा में परदे के अर्थ में 'यवनिका' शब्द का प्रयोग कथमपि न्यायसंगत नहीं। एक प्रबल प्रमाण और भी है। 'यवनिका' के पक्षपाती भी परदे के अर्थ में 'यवनी' शब्द का प्रयोग कथमपि न्याय्य नहीं मानते। 'यवनी' का अर्थ है यवन जाति की स्त्री, और इसी अर्थ में इसका प्रयोग कालिदास ने भी किया है—

यवनी मुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः
बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः ॥

रघुवंश, सर्ग ४, श्लोक ६१

परंतु परदे के अर्थ में 'जवनिका' के समान 'जवनी' का प्रयोग भी मिलता है और यह होना भी चाहिए, क्योंकि वस्तुतः ये दोनों शब्द एक ही धातु से निष्पन्न होते हैं। 'जवनिका' में स्वार्थे कन् की अधिकता है, परंतु स्वार्थ में कन् प्रयोग की सत्ता होने के कारण अर्थ में तनिक भी अंतर नहीं है।

श्री गोवर्धनाचार्य ने अपनी विख्यात 'आर्या-सप्तशती' में जवनी का प्रयोग परदे के अर्थ में शोभन प्रकार से किया है—

व्रीडाप्रसरः प्रथमं तदनु च रसभावपुष्टचेष्टेयम्।
जवनी विनिर्गमादनु नटीव दयिता मनो हरति॥

—आर्यासप्तशती, श्लोक ५३८

इस कमनीय आर्या का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार नटी परदे से निकलने के बाद प्रथमतः लज्जा दिखलाती है, तदनंतर भाव-पुष्ट चेष्टाओं से सामाजिकों का चित्त हरण कर लेती है, उसी प्रकार दयिता का स्वभाव भी है। वह भी पहले लज्जा दिखलाती है, परंतु पीछे अपनी शृंगार रस से पुष्ट चेष्टाओं के द्वारा अपने प्रियतम का मन हर लेती है।

भारतीय नाट्यकला पर यवनानी प्रभाव का पक्षपाती कोई भी विद्वान् इस आर्या में 'जवनी' के स्थान पर 'यवनी' का परिवर्तन कभी नहीं कर सकता। यदि 'यवनिका' का प्रयोग न्याय्य होता, तो यह परिवर्तन सिद्ध करने में व्याकरण कभी व्याघातक न होता। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि परदे के लिये उचित तथा प्रयुक्त शब्द 'जवनिका' ही है, 'यवनिका' नहीं।

इस झमेले का गूढ़ कारण भी खोजा जा सकता है। राजशेखर का सुप्रसिद्ध सट्टक है 'कर्पूरमंजरी'। समग्र रूप से प्राकृत भाषा में निबद्ध नाटिका को ही 'सट्टक' कहते हैं। इस सट्टक के अवांतर अंकों के नाम हैं 'जवनिकांतरम्'। मेरी समझ में इस नाम के संस्कृतीकरण ने विद्वानों को भ्रम में डाल दिया है। सट्टक में सब कुछ प्राकृत भाषा में है। तब अंक का यह नामकरण भी प्राकृत में ही निबद्ध होगा, यह कल्पना कुछ अनुचित नहीं है। वररुचि के 'आदेर्यो जः' ('प्राकृतप्रकाश-सूत्र') सूत्र के अनुसार संस्कृत शब्दों का आदिम यकार प्राकृत में जकार हो जाता है। इसी नियम को ठीक ठीक न समझने के कारण भ्रांति का उद्गम हुआ है। जब संस्कृत आद्य यकार का प्राकृत में जकार होता है, तब प्राकृत का आदि जकार संस्कृत में यकार हो ही जायगा। अतः 'जवनिकांतरं' का संस्कृतरूप होगा 'यवनिकान्तरम्', और इस प्रकार नाटकीय परदे के अर्थ में 'यवनिका' शब्द विराजने लगा। भ्रांति यही है। 'आदेर्यो जः' नियम का विपर्यय संस्कृत में सर्वत्र उचित नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि पाश्चात्य विद्वानों को 'जवनिकांतरं' के संस्कृतीकरण ने धोखे में डाल दिया। कोशों में कहीं कहीं गलती से 'यवनिका' शब्द का

ही निर्देश मिलता है। रामाश्रमी टीका में 'जवनिका' के स्थान पर 'यमनिका'[1] पाठां दिया गया है, परंतु अप्रयुक्त होने के कारण यह शब्द कथमपि मान्य नहीं हो सकता इसकी व्युत्पत्ति किसी प्रकार अर्थ-सिद्धि में सहायक हो सकती है, परंतु इस श का प्रयोग कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। ऐसी दशा में 'यमनिका' को मान्यता प्रद करना उचित नहीं।

इस प्रसंग में विचारणीय वस्तु यवनानी नाटकों में जवनिका का मूलतः अभा भी है। यवनान देश में नाट्य के लिये परदे की चाल नहीं थी। वहाँ दर्शकों की संख्या इतनी अधिक होती थी कि उनकी सुगमता के लिये रंगमंच बड़ा ऊँचा बनाया जाता था नाटक का अभिनय खुले मैदान में ही दर्शकों के सुभीते के लिये किया जाता था। उस किसी प्रकार का परदा नहीं होता था। जब यवनानी नाटकों में परदा ही नहीं था, तब भा तीयों के लिये उनकी नकल का प्रश्न ही नहीं उठता। ऊपर कहा गया है कि 'जवनि भारतीय नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द नहीं, एक सामान्य शब्द है। य भारतीय नाट्य-रचयिताओं ने इसे यवनानी रंगमंच से लिया होता, तो इसे नाटकीय परदे के अर्थ में ही सीमित किए रहते, परंतु वस्तुस्थिति इसके नितांत विप है। ऐसी दशा में 'यवनिका' शब्द के आधार पर की गई यह कल्पना भी पूर्णतः भ्राम एवं सर्वथा निराधार है। भारतीय प्रतिभा जिस प्रकार नाटक के विन्यास में स्वतंत्र उसी प्रकार अभिनय-कला में भी वह परमुखापेक्षी नहीं है। 'जवनिका' के लिये भारत नाटककार यवनों के पराधीन नहीं हैं। नाटकीय परदा भारत की अपनी निजी वस्तु मँगनी की नहीं।

(२)

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि 'जवनिका' की स्थिति रंगमंच पर कहाँ थी त उसकी संख्या कितनी थी। जर्मनी के प्रख्यात संस्कृत विद्वान् डाक्टर विंडिश ने यह सि करने का प्रयत्न किया है कि भारतीय रंगमंच पर एक ही परदा उपयोग में आता और वह रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह के बीच में डाला जाता था।[2] प्रेक्षागृह की जिस रच का वर्णन 'भारत नाट्यशास्त्र' के द्वितीय अध्याय में किया गया है उससे सिद्ध है कि प्रेक्षागृ का आधा भाग तो प्रेक्षकों के लिये रहता था और आधे में नाटकीय उपकरणों का स्थ रहता था। बीच में रहता था रंगपीठ और इसके पीछे होता था रंगशीर्ष। रंगशीर्ष पीछे और सबके अंत में नेपथ्यगृह रहता था जहाँ पात्र अपनी भूमिका के लिये वेषभू की सजावट किया करते थे। रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह के बीच में दीवार होती थी जिस आने जाने के लिये दो द्वार बनाए जाते थे। विंडिश के अनुसार नेपथ्यगृह की इसी दीवा

१—यमनिका इति वा पाठः। यमयति—यम उपरमे (भ्वा० प० अ०) ल्युट् (३।३।११ कन् (ज्ञापित ५।४।५)।
—रामाश्रमी ३।६।१२०

२—डाक्टर कीथ कृत संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ ६१

के ऊपर ही परदा डाला जाता था। परंतु भीत के ऊपर परदा डालने का उपयोग ही क्या हो सकता है ? परदा तो उस स्थान पर डालना चाहिए जहाँ पात्रों के बैठने या खड़े होने के लिये पर्याप्त स्थान हो। अभिनवगुप्त ने इसी पक्ष का समर्थन किया है। उनके अनुसार मुख्य परदा रंगपीठ तथा रंगशीर्ष के मध्य में पड़ता था—

'तत्र जवनिका रंगपीठतच्छिरसोर्मध्ये'।[1]

इस मुख्य परदे के अतिरिक्त कतिपय अन्य परदे भी रंगमंच पर विद्यमान रहते थे, ऐसा प्रतीत होता है। 'मालविकाग्निमित्र' के दूसरे अंक के आरंभ में नाट्यसूचना है—

ततः प्रविशति संगीतरचनायांआसनस्थो राजा सवयस्यो धारणी
परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः।

राजा आसन पर बैठा हुआ दिखलाया गया है। इससे प्रतीत होता है कि रंगपीठ तथा रंगशीर्ष के बीच में होनेवाले परदे को हटाकर वह रंगमंच पर आसनस्थ दिखलाया गया है। यह मानना सर्वथा उचित ही है। इसके बाद कंचुकी का निष्क्रमण होता है तथा गणदास का आगमन। इस अवसर पर 'मालविका' अभिनय दिखलाने के लिये आ रही है, परंतु उसके आने में कुछ विलंब हो रहा है जिससे उद्विग्न होकर अग्निमित्र कह रहा है—

नेपथ्यपरिगतायाश्चक्षुर्दर्शनसमुत्सुकं तस्याः।
संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम्॥[2]

इस पद्य का तात्पर्य है कि मेरे नेत्र नेपथ्य में स्थित उस मालविका के दर्शन के लिये नितांत उत्सुक हैं। व्याकुलता के कारण परदे को उघाड़ देने का मानों उसने निश्चय कर लिया है। इस पद्य के 'तिरस्करिणी' पद से प्रतीत होता है कि राजा की दृष्टि इसी एक परदे के ऊपर पड़ रही थी जिसके उघाड़ देने पर मालविका के दर्शन होने की उसे पूर्ण आशा थी। इससे स्पष्ट है कि मुख्य परदे के अतिरिक्त अन्य परदों का भी उपयोग प्राचीन भारतीय रंगमंच पर अवश्यमेव किया जाता था। मुख्य परदे को हटाकर तो राजा स्वतः उपस्थित था तथा अन्य परदे के भीतर अभिनय के लिये सुसज्जित मालविका अपने प्रवेश की प्रतीक्षा कर रही थी। यहाँ स्पष्ट ही अन्य परदे का उल्लेख है। भारत नाट्यशास्त्र के तेरहवें अध्याय में 'कक्ष्या विभाग' तथा इक्कीसवें अध्याय में 'आहार्याभिनय' का विस्तृत वर्णन है। इन अध्यायों के सूक्ष्म अनुशीलन से 'जवनिका' के विषय में अनेक उपयोगी बातों का पता चल सकता है।

१—अभिनव-भारती, गायकवाड़ सिरीज, अध्याय ५, श्लोक १२

२—मालविकाग्निमित्र, अंक २, श्लोक २

बालाजी जनार्दन पंत भानु नाना फड़नवीस

[श्री व्रजरत्नदास, बी० ए०, एल० एल० बी०]

पश्चिमी घाट पर्वतमाला के पश्चिम कोंकण प्रांत में समुद्र के किनारे वेलास ना
एक ग्राम था जिसमें नाना फड़नवीस के पितामह बालाजी महादेव अपने दो भाइयों
महादेव और रामाजी महादेव के साथ रहते थे। ये जाति के चितपावन ब्राह्मण थे।
इनके नाम पारिवारिक अल्ल 'भानु' के सहित लिए जाते थे। उन्हीं दिनों सावित्री नदी
बनी हुई बनकोट नामक खाड़ी के कुछ उत्तर श्रीवर्धन नामक एक बस्ती थी जहाँ
पेशवा बालाजी विश्वनाथ भट्ट तथा उनके भाई जानोजी भट्ट देशमुख (देसाई) रहते
जंजीरा के सीदियों ने वहाँ बड़ा उत्पात मचा रखा था जिससे भयभीत हो वे दोनों
भागकर वेलास चले आए और भानु-भ्राताओं का आश्रय ग्रहण किया। यहाँ भी सी
के भय से उन्हें त्राण नहीं मिल सका। अतः उनको तथा उनके साथ भानु-भ्राताओं के
वेलास छोड़कर मराठा राज्य में शरण लेनी पड़ी। यहाँ बालाजी विश्वनाथ तथा
फड़नवीस के पितामह बालाजी महादेव और उनके एक भाई हरि महादेव धन्नाजी
की सेना में भरती हो गए। तीसरे भाई रामाजी महादेव शंकर नारायण की
में चले गए।

बालाजी विश्वनाथ बड़े ही योग्य पुरुष थे। उन्होंने अपनी योग्यता से धन्नाजी
के मन में यहाँ तक विश्वास जमा लिया कि धन्नाजी सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों में उनकी स
लेने लगे। धन्नाजी के पुत्र चंद्रसेन यादव को यह बुरा लगा। अतः अपने पि
मृत्यु हो जाने पर वे (चंद्रसेन यादव) राजा साहू के विरुद्ध हो गए। बालाजी विश्वना
इसी समय अपना बहुत उत्कर्ष कर लिया और राजा साहू के विश्वासभाजन बन
सन् १७१९ ई० (सं० १७७६ वि०) के आरंभ में बालाजी विश्वनाथ दस सहस्र
लेकर सैयद हुसेनअली खाँ के साथ दिल्ली गए। नाना फड़नवीस के पितामह बा
महादेव भानु भी उनके साथ चले गए थे। वहीं बालाजी विश्वनाथ की रक्षा करते
वीर-गति को प्राप्त हुए। बालाजी विश्वनाथ मुहम्मदशाह की राजगद्दी तक दिल्ली
रहे। राजगद्दी के उपरांत उसी वर्ष उन्हें दक्षिण के छः प्रांतों में चौथ और सरदे
उगाहने तथा भूमि आदि की सनद मिली और उसे लेकर वे वर्ष के समाप्त होते होते
लौट आए। साहूजी इस संधि से बहुत प्रसन्न हुए और बालाजी विश्वनाथ को
तथा उसके आसपास की भूमि जागीर में दे दी। युद्ध के कारण बालाजी विश्व

१—श्रीवर्धन छोटा सा बंदरगाह है और अनेक मंदिरों के कारण तीर्थस्थान भी है।
विश्वनाथ यहीं के निवासी थे। इसी कारण लोग इन्हें श्रीवर्धनकर भट्ट भी पुकारते थे।

अधिक अस्वस्थ हो गए थे। अतः सन् १८१९ ई० के अक्टूबर में वे पुरंदर चले गए जहाँ १ अप्रैल सन् १७२० ई० (सं० १७७७ वि०) में उनका देहावसान हो गया।

बालाजी महादेव भानु की पहली सेवा से प्रसन्न होकर उनके पुत्र जनार्दन पंत को फड़नवीसी का पद दिया गया और वे द्वितीय पेशवा बाजीराव के भी विशेष कृपापात्र हो गए। जनार्दन पंत का विवाह महेंदळे परिवार की कन्या रुक्माबाई से हुआ था। इन्हीं के गर्भ से सं० १७९८ वि० में माघ कृष्ण ४ शुक्रवार को सतारा में बालाजी जनार्दन पंत उपनाम नाना फड़नवीस का जन्म हुआ। रुक्माबाई के भाई बलवंत राव महेंदळे प्रसिद्ध मराठा सेनापति थे। उन्होंने कई युद्धों में विजय प्राप्त की थी और अंत में पानीपत के युद्ध में वीरता से लड़ते हुए मारे गए। उनकी बहन उमाबाई सदाशिव राव की प्रथम पत्नी थीं। इस प्रकार स्वजातीय और विश्वासपात्र होने के साथ ही जनार्दन पंत का पेशवा के घराने से पारिवारिक संबंध भी था और इसी कारण उनके पुत्र नाना की शिक्षा विश्वास राव और माधवराव बल्लाल के साथ ही हुई थी। इसी से बाल-साहचर्य के कारण तीनों में अटूट मैत्री भी थी।

नाना फड़नवीस बाल्यकाल में बड़ी चंचल प्रकृति के थे। ये पढ़ते कम थे, किंतु खेलते बहुत थे। फिर भी गणित और धर्म की शिक्षा इन्होंने भलीभाँति प्राप्त की, साथ ही फारसी का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। सैनिक शिक्षा भी इन्हें मिली थी। चौदह वर्ष की अवस्था में ये अपने भाई मोटोबा[1] की दुष्टता से घोड़े पर से गिर पड़े जिससे इन्हें बड़ी चोट आई। ईश्वर की कृपा थी कि ये बच गए। अगले ही वर्ष सन् १७५६ ई० (सं० १८१३ वि०) में जब ये पंद्रह वर्ष के ही थे, इनके पिता की शूल रोग से मृत्यु हो गई। अतः जीविकोपार्जन के लिये इन्होंने राजसेवा स्वीकार कर ली।

बालाजी बाजीराव पेशवा की नाना पर भी विशेष कृपा थी। साथ ही नाना भी अपने पूर्वजों की ही भाँति योग्य थे। इन्हें जो कार्य सौंपे जाते थे, ये उसे भलीभाँति पूरा कर देते थे। एक समय बालाजी बाजीराव कर्णाटक में युद्ध करने गए थे। उनके साथ सदाशिवराव भाऊ तथा विश्वासराव भी सैन्य-संचालन कर रहे थे। नाना फड़नवीस भी उन्हीं लोगों के साथ गए थे। यहीं पेशवा से उनकी घनिष्ठता बढ़ी। सन् १७६० ई० (सं० १८१७ वि०) के लगभग ये घर लौटे। इसी समय इन्हें एक पुत्र हुआ जो थोड़े ही दिनों बाद चल बसा। पुत्र-शोक से आरंभ में ये कुछ विरक्त से हो गए, किंतु शीघ्र ही ये राजसेवा में फँस गए।

इन दिनों उत्तरी भारत में भी मराठों का प्राबल्य बहुत बढ़ गया था। दिल्ली के सिंहासन पर इनका पूर्ण प्रभाव था तथा इनकी सेना पंजाब तक पहुँच चुकी थी। भारतीय पठानों और मुसलमानों ने अहमदशाह अब्दाली को देश में आमंत्रित किया। बालाजी बाजी-राव पेशवा ने एक प्रबल सेना उसे निकाल बाहर करने के लिये भेजी। सदाशिव राव भाऊ

१—ये नाना फड़नवीस के चचेरे भाई बाबूराव रामचंद्र के पुत्र थे।

उसके प्रधान सेनापति नियुक्त किए गए। उनके साथ पेशवा के बड़े पुत्र विश्वास राव गए। नाना फड़नवीस विश्वास राव के समवयस्क, सहपाठी तथा मित्र थे और इसी का ये भी उनके साथ गए। इनकी माता स्नेह के कारण इन्हें अकेले नहीं जाने देना चाह थीं। अतः काशी-यात्रा का बहाना कर वे भी साथ हो गईं। नाना के मामा बलवंत महेंदळे भी सेना में प्रधान अध्यक्ष होकर गए थे।

पानीपत के मैदान में मराठा तथा अफगान सेनाओं का सामना हुआ। सन् १७६० के ७ दिसंबर के युद्ध में बलवंत राव ने बड़ी वीरता दिखलाई। वे मराठा सेना के मध्य भा के सेनापति थे। उन्होंने अफगानों को परास्त कर दिया था, किंतु ठीक विजय के स गोली लगने से उनकी मृत्यु हो गई। इससे सदाशिवराव बड़े दुःखी हुए। एक तो वे कुश सेनानी थे, दूसरे उनकी प्रथम पत्नी उमाबाई के भाई थे। नाना और उनकी माता बड़ी दुःखी हुईं। बलवंत राव की पत्नी लक्ष्मीबाई पति के साथ सती हो गईं।

१४ जनवरी सन् १७६१ ई० को पानीपत का तृतीय युद्ध हुआ। मराठी सेना आक्रमणों से शत्रु का दायाँ तथा मध्य भाग अस्तव्यस्त हो ही चुका था कि अब्दाली ने सहस्र घुड़सवार सेना को धावा करने की आज्ञा दी। घोर युद्ध हुआ। विश्वासराव सिर गोली लगने से तत्काल ही मर गए। यह देखते ही सदाशिव राव की बुद्धि शोक से ऐ भ्रांत हो गई कि वे हाथी से उतर घोड़े पर सवार हुए और उस घोर युद्ध में विलीन गए। सेना अध्यक्ष-हीन होकर इधर उधर भागने लगी। नाना फड़नवीस युद्ध में बराब इन दोनों के साथ रहे और जब संध्या होते होते सेना भागी तब भी यह कुछ देर त रणस्थल में घूमते रहे। अंधकार होने पर ये पानीपत की ओर लौटे और आधी रात बीत पर वहाँ पहुँचे। इनकी माता भी उस भगदड़ में घोड़े से गिरकर मर गईं और उनके श का पता तक न लगा। ये कई साथियों के साथ वैरागी का भेष धारण कर भागे। अने प्रकार के कष्ट उठाते हुए महीनों में ये जिंजिस पहुँचे जहाँ इनके एक नातेदार विराजी रा रहते थे। यहीं इनकी अपनी पत्नी से भेंट हुई जो अपने पितृव्य मोरोपंत गोखले के य वैधव्य-काल बिताने के लिये आई थी। पानीपत में नाना के मारे जाने का समाचार पा वह अपने को विधवा समझने लगी थी। इस मिलन से दोनों ही अत्यंत प्रसन्न हुए। य से ये दोनों शीघ्र महादेव पुरुषोत्तम के यहाँ गए जो नाना का मित्र था। यहाँ एक मही रहकर ये आगे बढ़े तो मार्ग में इनका सेवक मिला जिसने इनकी माता की मृत्यु समाचार दिया। इससे इन्हें बहुत दुःख हुआ, पर अंत में ये घर की ओर चले बराड़ पहुँचने पर पेशवा से इनकी भेंट हुई और इन्होंने उन्हें कुल वृत्तांत विस्तार सुनाया। पेशवा पूना लौट गए पर नाना वहीं रह गए।

पेशवा बालाजी राव इस पराजय तथा सदाशिव राव और विश्वास राव के मा जाने से अत्यंत दुःखी हो गए और उनका स्वास्थ्य बराबर बिगड़ता गया। नाना क इन्होंने पत्र द्वारा बुला भेजा। ये भी पत्र पाते ही पूना की ओर चल पड़े। मार्ग ही इन्हें पेशवा की मृत्यु का समाचार मिला जिससे दुखी हो ये राजसेवा से विमुख हो गए

किंतु रघुनाथ राव के आग्रह से ये पुनः राजसेवा में चले आए और कुछ दिनों के अनंतर फड़नवीसी के पद पर नियुक्त हुए।

सन् १७६१ ई० के सितंबर में बालाजी बाजीराव के द्वितीय पुत्र माधोराव बल्लाल सोलह वर्ष की अवस्था में पेशवा हुए और उनके पितृव्य रघुनाथराव (राघोबा) उनके अभिभावक बन बैठे। दूसरे ही वर्ष से माधोराव राज्य-प्रबंध में अधिक योग देने लगे। इससे रुष्ट होकर राघोबा ने अभिभावक पद से त्यागपत्र दे दिया। उनके मित्र सखाराम बापू ने भी दीवानी पद से त्यागपत्र दे दिया। दोनों ने यह समझा कि हमारे बिना सब राजकार्य बंद हो जायगा। परंतु माधोराव ने त्र्यंबकराव विश्वनाथ पेठे को जो सदाशिवराव का मामा था, दीवान नियत किया और हरिबल्लाल फड़के तथा नाना फड़नवीस को अपना निजी मंत्री बनाया। यद्यपि नाना की अवस्था उस समय केवल उन्तीस वर्ष की थी पर अनुभवी होने से इन्होंने कार्य सँभाल लिया।

जब माधोराव के सुप्रबंध से राजकार्य ठीक चलने लगा तब राघोबा तथा सखाराम दोनों बहुत दुखी हुए और राघोबा ने अपनी पत्नी आनंदीबाई की सम्मति से निजाम से सहायता मांगी। पेड़गांव में दोनों में संधि हुई और उनकी सम्मिलित सेना ने मराठा राज्य पर आक्रमण कर दिया। घोड़ नदी के तट पर कई दिनों तक युद्ध होता रहा। अंत में विजय-प्राप्ति संभव न देखकर तथा हर अवस्था में मराठों ही की हानि समझकर माधोराव अकेले पितृव्य के पास चले गए और उन्होंने भी कुल प्रबंध अपने हाथ में लेकर युद्ध शांत कर दिया।

निजाम इस कारण राघोबा से असंतुष्ट हो गया और उसके ब्राह्मण दीवान विट्ठल सुंदर राजे प्रतापवंत ने राघोबा के प्रायः सभी प्रतिपक्षियों को मिला लिया। केवल नाना फड़नवीस तथा हरिबल्लाल फड़के ने इस प्रकार देशद्रोही होना स्वीकार नहीं किया। निजाम ने यह राजनीतिक भूल भी की कि उसने पेशवाओं को हटाकर जानो जी भोसला को प्रधान अमात्य बनाने की घोषणा की जिससे माधोराव तथा उसके पक्षवाले भी उसके विरुद्ध हो गए। यदि वह माधोराव का पक्ष लेता तो अवश्य ही उसे सफलता मिलती। दोनों पक्ष की सेनाएं एक दूसरे के राज्य में लूट मार करने लगीं और बहुत से मराठे सरदार जो निजाम की ओर हो गए थे, सखाराम बापू के प्रयत्नों से उससे अलग हो गए। अंत में राक्षसभवन के मैदान में १० अगस्त सन् १७६३ ई० को युद्ध हुआ जिसमें माधोराव बल्लाल की वीरता से मराठों को विजय मिली। विट्ठल सुंदर मारा गया और निजाम की सेना नष्ट हो गई। अंत में औरंगाबाद के घिर जाने पर निजाम अली राघोबा के पास चला आया और संधि हो गई।

राघोबा ने अब कृतज्ञता से स्वतः राजकार्य का विशेष अंश माधोराव को सौंप दिया और इसने भी बड़ी योग्यता से उसे सँभाला। इसने नाना फड़नवीस को पुनः अपना मंत्री बनाया और अन्य सरदारों को जो राघोबा के कारण बिगड़ गए थे, शांत

किया। इस उपद्रवकाल में मैसूर के हैदरअली ने अपना राज्य दृढ़ कर लि
और शक्ति भी संचित कर ली। इसने मराठा राज्य में लूटमार करना आरंभ
दिया और कृष्णा नदी तक आ पहुँचा। माधोराव ने मिरज के शासक गोपाल रा
पटवर्द्धन को हैदरअली को रोकने के लिये आज्ञा भेजी और साथ ही सहायता
सेना भी भेजी। सन् १७६४ ई० के अप्रैल में पेशवा के पहुँचने के पहले ही पटवर्द्ध
ने हैदरअली के सेनापति फजल अली खाँ से युद्ध आरंभ कर दिया और
युद्ध करने पर भी परास्त हो गया। पेशवा के विलंब करने का यह कारण हुआ
राघोबा स्वयं सेनापति बनना चाहता था जिसे स्वीकार नहीं किया गया। इससे रुष्ट
कर वह नासिक चला गया। अब माधोराव विशाल सेना लेकर वहाँ पहुँचे और कृष्
नदी के पार उतरे। हैदरअली अपने दृढ़ पड़ाव में जा बैठा, जिसमें मराठा सेना
पर आक्रमण कर पहिले अपनी शक्ति का ह्रास कर ले तब युद्ध किया जाय। रणनीति
कुशल माधोराव ने घुड़सवार सेनाएँ भेजकर पड़ाव के मार्गों को रोक दिया और हैदरअ
द्वारा अधिकृत अपने राज्य के कुल भागों पर अधिकार कर लिया। हैदरअली
देखकर बीस सहस्त्र सेना के साथ पड़ाव से निकला और भागने का बहाना किया
शत्रु अब भी उसके दृढ़ पड़ाव पर आक्रमण करे परंतु माधोराव ने उसीका पी
करना नीतियुक्त समझा। उसके मराठा सेना से घिर जाने पर घोर युद्ध हुआ और अंत
किसी प्रकार वह बचकर अपने पड़ाव में पहुँचा, जो घेर लिया गया। एक बार इस
पुनः तीस सहस्त्र सेना के साथ एक मराठा सेना पर आक्रमण किया पर केवल पचा
सवारों के साथ पड़ाव में लौट सका। अंत में निरुपाय हो हैदरअली कुल सेना के सा
पड़ाव से निकला और मैसूर की ओर चला। तीन दिन बाद माधोराव ने इसे
लिया और तब भारी युद्ध हुआ, जिसमें हैदरअली दस सहस्त्र सेना कटाकर भागा
इसके अनंतर वेदनोर के दो दुर्गों पर अधिकार करने के उपरांत माधोराव ने राघो
को बुलाकर उसे सेना का भार सौंप दिया, परंतु राघोबा ने एक प्रकार से शत्रु का प
लिया और उसके सुविधानुसार शर्तें लगाकर संधि कर ली। साथ ही उससे एक गु
संधि भी की कि तुम्हें अवसर पड़ने पर माधोराव के विरुद्ध मेरी सहायता भी करनी
होगी। माधोराव ने उदारता से पितृव्य की संधि स्वीकार कर ली।

इसके दूसरे वर्ष माधोराव ने जानोजी भोसला पर निजाम को साथ लेकर
आक्रमण किया, जो आनंदीबाई से मिलकर उसके विरुद्ध षडयंत्र कर रहा था।
परास्त कर उसकी तीन चौथाई जागीर छीन ली गई और उससे संधि हो गई। निजाम
ने माधोराव से हैदरअली के विरुद्ध संधि की। पर कपट से उसने अंग्रेजों से त
हैदरअली से भी संधियाँ कीं जिसका चरों से पता पाकर माधोराव ने अकेले
हैदरअली पर आक्रमण किया और पैंतीस लाख रुपए दंड लेकर उससे संधि की
इधर राघोबा ने विशाल सेना सहित उत्तर की ओर चढ़ाई की। मल्हारराव होलकर
मृत्यु हो जाने से वह कुछ न कर सका और लौट आया। अपनी इस असफलता त
माधोराव की सफलता से वह क्रुद्ध हो उठा और आनंदीबाई की संमति से युद्ध
तैयारी करने लगा। माधोराव उसे बारह लाख वार्षिक की जागीर दे रहे थे, पर

आधा राज्य बँटा लेना चाहता था जिसे पेशवा ने स्वीकार नहीं किया। राघोबा ने दयाजी गायकवाड़ तथा होल्कर राज्य से सहायता मँगाई और स्वयं पंद्रह सहस्र सेना तैयार की। जानोजी भोसला ने भी सहायता का वचन दिया पर उसके आने के पहले ही माधवराव, जिन्हें सब बातों का समाचार मिलता जा रहा था, सेना के साथ १० जून सन् १७६८ ई० को धोदप दुर्ग पहुँच गए। राघोबा भागकर दुर्ग में जा बैठा पर अंत में उसे दुर्ग भी दे देना पड़ा। राघोबा पूना में शनवार महल में कैद किया गया और इसकी रक्षा का भार नाना फड़नवीस को सौंपा गया।

इसके अनंतर माधोराव ने जानोजी भोसला पर चढ़ाई की और उसे परास्त कर दिया। २३ मार्च सन् १७६९ ई० को संधि हुई और जानोजी ने पेशवा की अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार घर के आपसी झगड़े निपटाकर माधोराव ने बाहरी शत्रुओं की ओर दृष्टि फेरी।

हैदरअली मराठों के घरेलू झगड़ों से लाभ उठा रहा था। उसने अंग्रेजों से शत्रुओं के विरुद्ध सहायता करने की संधि की और मराठों को कर देना रोक दिया तथा सवानोर पर अधिकार कर कर उगाहने लगा। माधोराव बरार से कर्णाटक पहुँचे और मैसूर राज्य पर अधिकार करने लगे। इन्होंने बंगलोर, कोलार, नंदिदुर्ग तथा मूलनगर पर अधिकार कर लिया और प्रसिद्ध दुर्ग निजगल विजय किया। इसी समय माधोराव बीमार पड़ गए और त्र्यंबकराव पेठे को सेनापति नियत कर पूना लौट आए। इन्होंने आप्पा बलवंतराव मेहेंदळे को सहायक सेना के साथ भेजा। कई बार परास्त होकर हैदरअली श्रीरंगपत्तन भाग गया और उसके घिर जाने पर छत्तीस लाख नगद और चौदह लाख वार्षिक कर देना स्वीकार कर संधि कर ली। बंगलोर, कोलार आदि नगर तथा गुर्रमकोंडा और मुद्गिरि दुर्ग भी पेशवा को मिल गए। इस प्रकार शक्ति टूट जाने पर हैदरअली अब मराठों के लिए भयप्रद नहीं रह गया।

जानो जी के विरुद्ध जाते समय पेशवा माधोराव ने एक सेना दिल्ली की ओर भेजी थी, जिसने राजपुताना में कर उगाहा तथा भरतपुर पर आक्रमण कर उसे विजय किया। जब सेना दिल्ली को ओर बढ़ी तब नजीबुद्दौला ने संधि की प्रार्थना की, जो स्वीकार कर ली गई। महाद जी सिंधिया ने रुहेलों को परास्त कर इटावा ले लिया और पेशवा के सेनापति की संमति से सन् १७७१ ई० के दिसंबर में शाह आलम दिल्ली आकर गद्दी पर बैठे। रुहेलखंड पर मराठों की चढ़ाई हुई और रुहेल पूर्णतया परास्त हो गए। शाह-आलम दोआब मराठों को देने का विचार कर रहा था पर उसी समय १८ नवंबर सन् १७७२ ई० को माधोराव की मृत्यु हो गई।

माधोराव निस्संतान मरे थे, इस कारण उनके छोटे भाई नारायणराव सत्रह वर्ष की अवस्था में पेशवा हुए। माधोराव को जब आती हुई मृत्यु के लक्षण स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगे तब उन्हें पितृव्य राघोबा से नारायणराव की रक्षा के दो ही उपाय दीख पड़े। प्रथम उसकी मृत्यु तथा द्वितीय उसे शांत करना। पहला उसने अनुचित समझा, इसलिये राघोबा को

अपने पास बुला लिया और सखाराम बापू के सामने उसे समझाकर उससे नारायण का बराबर पृष्ठपोषक बने रहने का वचन लिया। नारायणराव के पेशवा होने पर दिन दोनों शांति से काम करते रहे, पर पेशवा की माता गोपिकाबाई तथा राघोबा पत्नी आनंदीबाई ने ऐसा न चलने दिया और दोनों दोनों को एक दूसरे के वि उभाड़ने लगीं। अंत में सखाराम बापू तथा नाना फड़नवीस के विरोध करने पर नारायणराव ने राघोबा को ११ अप्रैल सन् १७७२ ई० को कैद कर उसी प्रासाद रखा जिसमें स्वयं रहता था। नारायणराव ने सखाराम बापू को दीवान बना दिया पर राज्य-प्रबंध के संबंध में हरि बल्लाल फड़के तथा नाना फड़नवीस वि विश्वास रखा।

माधोराव के अधिकार-काल में नाना फड़नवीस ने कभी युद्धक्षेत्र में सहय नहीं दिया था और अधिकतर ये राजधानी ही में रह कर राज्य-प्रबंध का क करते थे। माधोराव का इनपर इतना विश्वास था कि जब वे युद्ध के लिये ज तब सभी कार्य इन्हें सौंप जाते और राघोबा की रक्षा का भार भी इन्हीं पर रह था। इन सब कार्यों में ये इतने दक्ष थे कि कभी उस काल में इनसे कोई चूक नहीं हु नारायणराव ने राघोबा को कैद कर उसी शनवार प्रासाद में अपने रहने के कमरों से स कमरे में रखा और उसकी रक्षा का भार भी किसी योग्य व्यक्ति को नहीं सौंपा।

राघोबा की पत्नी आनंदीबाई ने नारायणराव के गंगापुर जाने पर अपने प को कारागार से छुड़ाने का प्रयत्न किया पर वह असफल हो गया। इसपर क्षु होकर आनंदीबाई ने नारायणराव को मारकर राघोबा को पेशवा बनाने का षड् आरंभ किया और पेशवा के विरोधियों को मिलाने का प्रयत्न होने लगा। इसी सम पेशवा की गार्दी सेना में नियंत्रण की कड़ाई से विक्षोभ फैला और षड्यंत्रकारियों इनके नेताओं को लोभ देकर अपनी ओर मिला लिया। इन विद्रोही सैनिक सरदारों राघोबा से एक आज्ञापत्र लिखवा लिया कि नारायणराव के बाद पेशवा होने पर नौ लाख रुपए पुरस्कार दिया जायगा। आनंदीबाई ने इस पत्र में नारायणराव 'धरावे' के स्थान पर 'मरावे' बना दिया था, अतः बलवाइयों ने इसीको पक्की आज्ञ मानी। ३० अगस्त को जब इन सबने प्रासाद पर आक्रमण किया तब बड़ा उपद्रव म और बहुत से लोग मारे गए। दोपहरका समय था, अतः नारायणराव की निद्रा त टूटी जब बलवाई इनके कमरे के पास पहुँच गए। ये भागकर रक्षा के लिये राघोब के पास पहुँचे पर विद्रोही सरदारों ने राघोबा के मना करने पर भी उसी आज्ञापत्र अनुसार नारायणराव को मार डाला।

नारायणराव की पत्नी गंगाबाई सती होना चाहती थी पर आनंदीबाई ने उ अपने कमरे में बंद कर दिया और सती नहीं होने दिया। रघुनाथराव राघोबा ने सरदा के सामने अपनी सफाई दी और नारायणराव का संस्कार यथानियम हुआ।

नानाफड़नवीस नारायणराव के पेशवा होने के पहले ही से गंगाबाई के स

कार्यों के प्रबंधक थे और नारायणराव के मारे जाने के पहले ही उन्हें ज्ञात हो गया था कि गंगाबाई गर्भ से हैं, अतः इन्होंने इस उपद्रव के होते ही राघोबा के विरुद्ध षड्चक्र आरंभ कर दिया और क्रमशः अन्य ग्यारह सरदारों को अपने पक्ष में मिला लिया। दशाह को तिलांजलि देते समय इन बारहों सरदारों ने शपथ ली कि रघुनाथराव की उद्देश्यपूर्ति न होने देंगे। नाना फड़नवीस का विचार था कि यदि नारायणराव के पुत्र हुआ तो रघुनाथराव को हटाकर मैं उसे पेशवा बनाऊँगा। यह 'बाराभाई षड्यंत्र' के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। गंगाबाई के गर्भिणी होने का जब आनंदीबाई को पता लगा तब उसने ऐसी औषधि खाने को गंगाबाई को बाध्य किया कि गर्भ-पात हो जाय, पर वैसा नहीं हुआ। इसके अनंतर आनंदीबाई राघोबा के साथ चढ़ाई पर चली गई। जब उसे निश्चय हो गया कि प्रसव-काल आ पहुँचा तब सन् १७७४ ई० की जनवरी में उसने कई घातकों को गंगाबाई को मारने को भेजा, पर नाना फड़नवीस ने इन्हें पकड़ लिया। इनसे कुछ बातों से अवगत होने पर नाना फड़नवीस ने गंगाबाई को सदाशिवराव की विधवा पार्वतीबाई की संरक्षा में पुरंधर दुर्ग में भेज दिया और साथ में आनंदीबाई की पुत्री दुर्गाबाई को भी जाने के लिये बाध्य किया, जिसमें वह प्रसवकाल में साक्षी रहे। इतना प्रबंध कर नाना फड़नवीस ने एक अभिभावक-समिति स्थापित की, जो गंगाबाई तथा उसके भावी पुत्र के नाम पर राज्य-प्रबंध करने लगी। नाना फड़नवीस ने पत्र-व्यवहार कर सबाजी भोसले तथा निजाम अली को अपने पक्ष में कर लिया।

जब यह सब समाचार राघोबा को मिला तब वह शीघ्रता से हैदरअली से संधि कर लौटा और त्र्यंबकराव पेठे को परास्त करता हुआ पूना पहुँचा, पर अपने दुर्भाग्य से वह बाहर ही बाहर लौट पड़ा। नाना फड़नवीस आदि राघोबा के विजय से भयभीत हो गए थे पर राघोबा भी षड्यंत्र के अनेक समाचार सुनकर त्रस्त हो बुरहानपुर चला गया। १८ अप्रैल सन् १७७४ ई० को गंगाबाई को पुत्र हुआ, जो सवाई माधवराव के नाम से प्रसिद्ध हुआ। चालीस दिनों के अनंतर नाना फड़नवीस तथा सखाराम बापू ने सितारा से इस बालक के नाम पेशवा की खिलअत प्राप्त कर ली।

राघोबा की स्थिति बिगड़ती ही गई। मुधोजी भोसले ने नर्मदा पार कर दक्षिण जाना स्वीकार नहीं किया और होलकर तथा सिंधिया ने सहायता नहीं भेजी। इधर से हरिबल्लाल फड़के भारी सेना के साथ उसका पीछा कर रहा था। अब राघोबा ने सवाई माधवराव तथा गंगाबाई को अपने हाथ में करके उनका अभिभावक बनकर राज्य-प्रबंध अपने अधिकार में लेने का विचार किया। इसके लिये नाना फड़नवीस के चचेरे भाई मोरोबा फड़नवीस, बाबाजी पुरंधरे तथा बाबाजी नायक को इसने अपने पक्ष में मिलाया। पुरंधर में वर्षाधिक्य के कारण बालक माधवराव तथा उनका परिवार सस्वद में जाकर टिका हुआ था, अतः वहीं इन सबको कैद कर लेने का उन तीनों षड्यंत्रकारियों ने निश्चय किया। परंतु नाना फड़नवीस को कुशल चरों से इस षड्यंत्र का पता लग गया और ३० जून की रात्रि में मूसलाधार वर्षा में बालक माधवराव माता के साथ

पुरंधर दुर्ग में पहुँचा दिए गए। इस प्रयत्न के निष्फल होने पर दूसरा प्रयत्न मोरोबा फड़नवीस द्वारा नवंबर के महीने में हुआ, जब उसने पुरंधर दुर्ग के मुसलमान सैनिकों को मिला लिया और उनके द्वारा मराठा सैनिकों को भी फोड़ना चाहा। इसमें वे असफल हुए और इसका पता भी अध्यक्ष को मिल गया जिससे मुसलमान विद्रोहीगण दंडित हुए। मोरोबा के विरुद्ध कुछ सिद्ध न हो सका, अतः वह बच गया।

राघोबा ने इस प्रकार असफल होकर तथा मित्रों द्वारा त्यक्त होने पर अपनी पत्नी आनंदीबाई को धार में छोड़ा और स्वयं गुजरात चला गया। धार ही में इसे बाजीराव नामक पुत्र हुआ, जो अंतिम पेशवा था। राघोबा ने इसके अनंतर बंबई के अंग्रेजों से सहायता के लिये संधि की और उनकी सहायता से कई युद्ध भी किए, पर कोई फल नहीं निकला। अंत में कलकत्ता की प्रधान समिति ने इस संधि को नहीं माना और युद्ध रोक दिया तथा सन् १७७६ ई० में पेशवा से पुरंधर में संधि कर ली। राघोबा बंबई के अंग्रेजों की रक्षा में रहने लगा।

सन् १७७५ ई० में अपने को सदाशिवराव कहने वाले सुखनिधान नामक ब्राह्मण ने विद्रोह किया, जिसने अनेक सरदारों को अपने पक्ष में मिला कर सारे कोंकण पर अधिकार कर लिया और पूना की ओर ससैन्य अग्रसर हुआ। अंत में यह मराठी सेना से परास्त हो कर भागा। कोलाबा में रघुजी आंग्रे ने इसे पकड़ लिया और पूना भेज दिया। वहां धर्माधिकारी रामशास्त्री तथा अन्य सत्ताईस सज्जनों की एक समिति ने सब बातें जाँच कर सुखनिधान को झूठा ठहराया और उसे प्राणदंड दिया। उसके प्रमुख सहायकगण भी दंडित हुए।

इस प्रकार राघोबा, अंग्रेजों तथा सुखनिधान के झगड़ों को निपटा कर अभि- भावक गण ने अन्य शत्रुओं की ओर दृष्टि फेरी। हैदर अली ने बहुत उपद्रव मचा रखा था पर कई युद्धों के अनंतर सन् १७७८ ई० में उसने धन देकर संधि कर ली। कोल्हापुर राज्य ने भी राघोबा का साथ दिया था और बहुत सी भूमि दबा ली थी, पर हींगनगांव के युद्ध में पूर्णतया परास्त होने पर सन् १७७८ ई० में उसने भी दंड देकर संधि कर ली। मुधोजी भोंसले के विरुद्ध पूना मंत्रिमंडल के कहने से हैदराबाद के निजाम अली ने सेना भेजी और उसे पराजित कर दिया। अंत में मुधोजी ने दस लाख रुपए पेशवा को दंड देकर क्षमा प्राप्त कर ली।

सन् १७७७ ई० के जुलाई महीने में पेशवा नारायण राव की विधवा गंगाबाई की मृत्यु हो गई।[1] सवाई माधोराव उस समय चार वर्ष के बालक मात्र थे और ऐसे समय माता की मृत्यु हो जाना अत्यंत दुःखद हुआ। इसी के अनंतर पुनः राघोबा की ओर से राज्याधिकार हस्तगत करने के लिये षड्यंत्र होने लगे।

---

१ नाना फड़नवीस पर गंगाबाई का अत्यधिक विश्वास आरंभ ही से था क्योंकि ये बराबर नारायण राव के समय ही से इनके सब कार्यों के प्रबंधक रहे।

ग्रांट डफ ने अपने इतिहास में गंगाबाई की मृत्यु का जो कारण लिखा है वह केवल अनु- श्रुति के आधार पर है, जो प्रायः सत्य नहीं होती।

मोरोबा फड़नवीस को पहले के षड्यंत्रों के लिये दंड नहीं दिया गया था, तब भी वह गंगाबाई की मृत्यु पर नाना फड़नवीस को कैद कर राघोबा को पूना आने का अवसर देने के लिये षड्यंत्र रचने लगा। वह राघोबा के हितैषी बाजबा पुरंधरे, सखाराम हरि गुप्ते तथा चिंतो विट्ठल रैरीकर से पत्र-व्यवहार करने लगा और उसने तुकोजी होलकर को भी अपने पक्ष में मिला लिया, जो माधवराव सिंधिया से ईर्ष्या करता था। इसी प्रकार नाना फड़नवीस से ईर्ष्या रखने के कारण सखाराम बापू भी उस ओर मिल गया। इन सबने अंग्रेजों से भी बातचीत की कि वे पूना पर चढ़ाई कर दें, पर वे सखाराम बापू की लिखित आज्ञा माँगने लगे जिसे उसने भेजना स्वीकार नहीं किया। नाना फड़नवीस को अपने कुशल चरों से यह सब ज्ञात हो चुका था और जब उसने मोरोबा को कैद करने की आज्ञा दी तब वह भागकर तुकोजी होलकर की रक्षा में चला गया। अब उसने सखाराम बापू की सहायता से नाना को पकड़ने का प्रबंध किया। निश्चय हुआ कि सखाराम नाना को संध्या की तोप छूटने के कुछ पहले तक बातों में फँसाए रहें और तोप छूटते ही पूना के पास छिपी हुई सेना नगर में घुस पड़े तथा उसे कैद कर ले। नाना को इसका भी पता लग चुका था और उसने तोपखाने के अध्यक्ष को आदेश दे रखा था कि जब तक पुरंदर दुर्ग से पाँच तोपों के दगने का शब्द न आए तब तक संध्या की तोप न छूटे। फलतः ज्योंही सखाराम उठकर गया कि नाना फड़नवीस ने पुरंधर का मार्ग लिया। तोप छूटने पर जब शत्रु-सेना पूना में घुसी तब तक नाना फड़नवीस पुरंधर पहुँच गए थे।

नाना फड़नवीस ने माधवराव सिंधिया तथा हरि बल्लाल फड़के को शीघ्र लौट आने का आदेश भेजा। जब तक वे नहीं आ पहुँचे तब तक के लिये नाना ने मोरोबा को फुसला रखना उचित समझा। मोरोबा से उसने कहलाया कि वह स्वयं प्रधान सचिव बने तथा सखाराम बापू, बाजबा पुरंदरे तथा नाना फड़नवीस उसके अधीनस्थ मंत्रिमंडल में रहें। नाना फड़नवीस विशेषकर पुरंधर में बालक पेशवा की रक्षा के लिये रहे। मोरोबा ने हर्ष के साथ यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और अब वह राघोबा का पक्ष छोड़कर स्वयं राजकार्य देखने लगा। परंतु माधवराव सिंधिया तथा हरि बल्लाल फड़के के पुरंधर पहुँचते ही २२ जून सन् १७७८ ई० को मोरोबा पकड़ लिया गया और अहमद नगर में कैद किया गया। इसके अन्य सहकारीगण भी दंडित हुए।

यह समाचार पाकर राघोबा तथा उसके अंग्रेज सहायक अत्यंत विस्मित हुए। अंग्रेज पुरंधर की संधि से दुःखी थे और इधर नाना फड़नवीस ने शेवालिए सेंट ल्यूबिन (फ्रेंच राजदूत) का आदर कर अंग्रेज राजदूत मौस्टिन का निरादर किया था। इसलिये बंबई के अंग्रेजों ने राघोबा को पेशवा बनाने का निश्चय किया। इसकी सूचना बंगाल भेजी गई और वहाँ से सहायतार्थ सेना भेजने का विचार हुआ। यह कार्य जल के बदले स्थल से होना अधिक कठिन था, पर अंत में यही निश्चय हुआ और सन् १७७८ ई० की मई में कर्नल लेसली के अधीन प्रायः साढ़े छः सहस्र तिलंगे भेजे गए। इसी बीच पूना में पूर्वोक्त उपद्रव तथा उसका दमन हुआ। अंग्रेजों ने इसके पहले अपने राजदूत द्वारा इस सेना के बंबई तक जाने की आज्ञा पाने के लिये प्रार्थनापत्र दिया था और इस सेना के आने का कारण फ्रेंच शक्ति का विरोध

करना बतलाया था। साथ ही यह भी प्रश्न था कि मराठों को पुरंधर की संधि मान्य है या नहीं। नाना फड़नवीस ने यह समाचार पाकर सेंट ल्यूबिन को बता कर दिया क्योंकि वे जानते थे कि यह छद्म राजदूत है, वास्तविक नहीं और तब उत्तर दिया कि अब बंगाल से सेना आने की आवश्यकता ही नहीं रह गई, क्योंकि फ्रेंच निकाल दिए गए। दूसरे प्रश्न का यही उत्तर दिया कि अंग्रेज यदि उसे मानेंगे तो मराठे भी अवश्य मानेंगे।

इस प्रकार स्पष्ट उत्तर पाने पर भी अंग्रेजों ने राघोबा से नई संधि की और चढ़ाई का प्रबंध करने लगे। २२ नवंबर सन् १७७८ ई० को बंबई से अग्रगामी सेना भोरघाट पर अधिकार करने भेजी गई जिसने कप्तान स्टूअर्ट के अधीन वहाँ पहुँचकर अधिकार कर लिया। इसके दूसरे दिन मुख्य सेना रवाना हुई पर वह एक महीने बाद भोरघाट पहुँची। कुल सेना ३९०० थी, जिसमें ५९१ यूरोपियन थे और यह कर्नल एगर्टन के अधीन थी। इसके साथ राघोबा भी चार सहस्र सेना लेकर आया। यहाँ से कुल सेना धीरे धीरे यात्रा करती ग्यारह दिनों में कार्ली पहुँची जो घाट से केवल चार कोस पर थी। नाना फड़नवीस ने भी भारी तैयारी की थी और चालीस सहस्र सेना इसे रोकने को भेजी। ९ जनवरी सन् १७७९ ई० को अंग्रेज सेना तालेगाँव पहुँची जहाँ मराठा सेना का सामना हुआ। दूसरी मराठा सेना ने कोंकण पर अधिकार कर बंबई का मार्ग रोक लिया था, जिससे रसद मिलना बंद हो गया। तालेगाँव से पूना केवल नौ कोस था और यदि अंग्रेजी सेना शीघ्रता से वहाँ पहुँच जाती तो उसे रसद की कमी न होती और राघोबा को भी बहुत से सहायक मिल जाते। परंतु अंग्रेज सेनापतिगण मराठों की तैयारी देखकर त्रस्त हो उठे और लौटने का निश्चय किया। ११ जनवरी को अंग्रेजी सेना गुप्त रूप से लौटने लगी और बड़ी तोपों को वहीं के तालाब में फेंक दिया। मराठा सेना ने इसका पता लगा लिया और उसे बांडेगाँव में घेर लिया। रसद आदि बहुत सामान लुट गया। इस बीच कई बार लड़ाई हुई जिसमें कई सौ सैनिक मारे गए। अंत में यहीं से मि० फार्मर संधि की बात करने के लिये भेजे गए। पूना मंत्रिमंडल ने संधि की बातचीत आरंभ करने के पहिले राघोबा को माँगा पर राघोबा यह सुनकर पहले ही उस गड़बड़ी में कुछ सहायकों तथा सेना के साथ भागकर सिंधिया की रक्षा में चला गया। उसने इसका सत्कार किया पर इसके सहायक चिंतो विट्ठल रैरीकर तथा खड्गसिंह को कैद कर लिया। मंत्रिमंडल की अन्य माँगों के संबंध में पहले यह कहा गया कि उन्हें इसे स्वीकार करने का अधिकार नहीं है, पर फिर स्वयं मि० होम्स को भेजकर सब बातें स्वीकार कर लीं। इसपर अंग्रेजी सेना बिना किसी बाधा के बंबई जाने दी गई, केवल ओल में दो अंग्रेज अफसर रख लिए गए। सेना के बंबई पहुँचते ही यह संधि अमान्य कर दी गई, और बंगाल से आती हुई सेना को लौट जाने का जो आदेश भेजा गया था वह रद्द कर दिया गया। यह सेना कर्नल लेसली के अधीन भेजी गई जो संख्या में प्रायः साढ़े छः सहस्र थी। यह पाँच महीने में ६० कोस यात्रा कर मऊ पहुँची। ३ अक्तूबर सन् १७७८ ई० को कर्नल लेसली की मृत्यु हो गई, तब कर्नल गोड्डार्ड इसके सेनाध्यक्ष हुए। इसने शीघ्रता की और २ दिसंबर को होशंगाबाद में नर्मदा पार की। यहीं इसे बंगाल तथा बंबई दोनों स्थानों से पत्र मिले और यह शीघ्रता

से बुरहानपुर पहुँचा। यहाँ छः दिन सुस्ताकर यह डेढ़ सौ कोस की यात्रा बीस दिन में समाप्त कर सूरत पहुँच गया। इसके पहुँचने पर बंबई सरकार ने पुनः तैयारी आरंभ की।

सिंधिया ने राघोबा को पूना मंत्रिमंडल को नहीं दिया पर अन्य दोनों कैदियों को दे दिया। खड्गसिंह को नारायणराव के घातक होने के कारण प्राणदंड दिया गया और चिंतो विट्ठल कैद हुआ। राघोबा को माधोराव सिंधिया ने झाँसी दुर्ग में भेजा, पर नर्मदा पार करते समय की गड़बड़ी में इसने रक्षक सेना पर आक्रमण कर उसे समाप्त कर दिया और भड़ोच भागा। यहाँ अंग्रेजों की रक्षा में पहुँच कर यह पुनः युद्ध की तैयारी करने लगा।

नाना फड़नवीस ने अंग्रेजों पर विजय प्राप्त करने के अनंतर बड़े समारोह से बालक माधव राव सवाई का यज्ञोपवीत संस्कार कराया। राघोबा से सुरक्षित रहने के लिये बालक पेशवा बराबर पुरंदर या सस्वद में रखे जाते थे, पर इस अवसर पर यह पूना लाए गए और यहीं जनेऊ हुआ। प्रायः सभी प्रसिद्ध सरदारगण इकट्ठे हुए थे।

जेनरल गोड्डार्ड प्रधान सेनापति नियत हुए और संधि करने का अधिकार भी इन्हें दिया गया। जब इसने संधि की बात चलाई और कई महीने बीत गए तब नाना फडनवीस ने इसे बंद कर देने के लिये स्पष्ट रूप से कह दिया कि राघोबा तथा सालसिट को पहले दे देने पर किसी प्रकार की संधि निश्चित हो सकती है। साथ ही नाना ने हैदर अली तथा निजाम अली से भी संधि कर ली। सन् १७८० ई० के प्रथम दिवस को गोड्डार्ड ने ताप्ती नदी पार की और २० जनवरी को दाभाय पर अधिकार कर लिया। इसके अनंतर इसने फतहसिंह गायकवाड़ से संधि कर अहमदाबाद घेरा और १५ फरवरी को ले लिया। पूना से सिंधिया तथा होलकर बीस सहस्र सवारों के साथ इसे रोकने को भेजे गए, जो २९ फरवरी को बड़ोदा पहुँच गए। गोड्डार्ड माही पार कर युद्ध के लिये तैयार हुआ पर मराठों ने युद्ध नहीं किया और ओल में रखे दोनों अंग्रेजों को भी बिदा कर दिया। इसके अनंतर संधि की बातचीत चली पर कोई फल नहीं निकला। अंग्रेजी सेना ने कई बार मराठों पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया पर वह कुछ न कर सकी। मंदराज (मद्रास) की सेना भी कर्नल ब्राउन के अधीन आ मिली। पर वर्षा आगई थी, इसलिये यह नर्मदा के किनारे पड़ाव डालने लौट गई।

उत्तरी कोंकण के अध्यक्ष गणेशपंत बेहरे ने गुजरात पर इसलिये धावा किया कि गोड्डार्ड का सूरत से मार्ग कट जाय। इसपर लेफ्टिनेंट वेल्श के अधीन एक सेना भेजी गई जिसने गणेशपंत को परास्त कर दिया और तीन दुर्गों पर अधिकार कर लिया। इसी समय मेजर फोर्ब्स के अधीन एक सेना ने सिंधिया की एक टुकड़ी को सिनोर में परास्त कर दिया। एक सेना कैप्टेन एरिंगटन के अधीन कल्याण के पास मल्लनगढ़ में मराठा सेना द्वारा घेर ली गई, जिसकी रक्षा कर्नल हार्टले के ससैन्य पहुँचने पर हुई। इधर नाना फड़नवीस के नीति-कौशल से निजाम अली तथा हैदरअली इसके पक्ष में हो गए थे। यद्यपि प्रथम ने केवल गंटूर पर अधिकार कर लेने के सिवा कुछ नहीं किया पर हैदरअली ने विशाल सेना के साथ अँग्रेजों की अधिकार-भूमि पर आक्रमण कर दिया और मंदराज (मद्रास) के पास पहुँच गया। कर्नल बेली के अधीन १० सितंबर सन् १७८० ई० को

३७०० अँग्रेजी सेना को इसने नष्टप्राय कर दिया। इसपर कलकत्ते से सर आयर कूट के अधीन सेना मंदराज (मद्रास) भेजी गई जिसने हैदरअली को रोका।

वर्षा के कारण कर्नल गोड्डार्ड अक्तूबर तक बैठा रहा और तदुपरांत उसने बसीन की ओर यात्रा की। १३ नवंबर सन् १७८० ई० को बसीन पहुँचकर उसे घेर लिया। रामचंद्र गणेश के अधीन एक मराठा सेना ने हार्टले की अधीनस्थ सेना का पीछा किया और कई दिन युद्ध हुआ। कुहरे की ओट में एक दिन मराठा सेना ने एक टोले पर अचानक आक्रमण किया, पर पास पहुँचने के पहिले ही कुहरा मिट गया जिससे शत्रु की तोपें आग उगलने लगीं। रामचंद्र गणेश मारा गया और उसका सहकारी नारोन्हा घायल हो गया जिससे सेना भाग खड़ी हुई। १२ दिसंबर को अँग्रेजों का बसीन पर अधिकार हो गया।

नाना फड़नवीस ने रामचंद्र गणेश के मारे जाने तथा बसीन छिन जाने का समाचार धैर्य के साथ सुना और वह हरि बल्लाल फड़के की सम्मति से शत्रु को परास्त करने की तैयारी में लग गया। कलकत्ते से वारन हेस्टिंग्ज ने मुधोजी भोंसले के द्वारा संधि की बात चलाई पर नाना ने अस्वीकार कर दिया। अर्नाला दुर्ग ले लेने के अनंतर गोड्डार्ड ने भी स्वत: संधि के लिये पूना दरबार को लिखा, पर इसे भी दृढ़ता से स्वीकार नहीं किया गया। साथ ही नाना ने पूरी तैयारी की। पेशवा को पुरंधर दुर्ग में भेज दिया और परशुराम पटवर्धन के अधीन एक सेना कोंकण में भेजी कि अँग्रेजों का मार्ग रोके। वह स्वयं एक विशाल सेना लेकर हरि बल्लाल फड़के तथा तुकोजीराव होलकर के साथ गोड्डार्ड का सामना करने इंद्रायनी घाटी की ओर चला। परशुराम ने चौक में मैके के अधीन एक सेना पर एकाएक आक्रमण कर भारी हानि के साथ परास्त कर दिया, जो पानवेल से लौट रहा था। किसी प्रकार मैके मुख्य सेना में जा मिला और गोड्डार्ड ने भी स्थिति की गंभीरता समझ कर पानवेल लौटना उचित समझा। यह कार्य करने के पहले ही कर्नल ब्राउन के परास्त होने का समाचार मिला। यह सेना रसद लाने के लिये पानवेल भेजी गई थी जिसमें तीन पल्टन तिलंगे, दस तोप तथा घुड़सवार सेना थी। परशुराम भाऊ ने इसपर निरंतर पीछा तथा आक्रमण कर एक सौ से अधिक सैनिक मार डाले और कई सहस्र बैल, बंदूक तथा रसद लूट लिया। अंत में बंबई से सहायक सेना के पहुँचने पर यह सेना नष्ट होने से बच गई। १९ अप्रैल सन् १७८१ ई० को गोड्डार्ड ने लौटना निश्चित किया। मराठा सेना ने बराबर धावे कर बहुत सा सामान लूट लिया और कई सौ सैनिकों को मार डाला तथा घायल किया। अंत में अँग्रेजी सेना किसी प्रकार बंबई पहुँच गई। इस प्रकार कोंकण से अंग्रेजों का अधिकार उठ गया और मराठा सेना पर जो आतंक अंग्रेजों का छा गया था वह मिट गया। नाना फड़नवीस ने निश्चय किया कि वर्षा बीतने पर बंगाल तथा बंबई दोनों ओर साथ ही आक्रमण कर अपने इच्छानुसार संधि की जाय।

माधवराव सिंधिया पर मालवा में अँग्रेजों का आक्रमण हो चुका था और कई युद्धों में परास्त होने पर अंत में सिंधिया को १३ अक्तूबर सन् १७८१ ई० को स्वयं संधि करने तथा पूना से भी संधि करा देने के लिये बाध्य होना पड़ा। मुधोजी भोंसले को लोभ में

डालकर अँग्रेजों ने अपने पक्ष में कर लिया। इसके अनंतर अँग्रेजों ने अपने दूत पूना भेजे और सिंधिया ने भी जोर दिया। हैदरअली के पराजयों का समाचार भी आ रहा था। इसलिये नाना फड़नवीस ने संधि की बात करना स्वीकार किया। १७ मई सन् १७८२ई० को सालबाई की संधि हुई जिससे अँग्रेजों ने राघोबा की कभी सहायता न करना स्वीकार न किया तथा सालसिट छोड़ और सब अधिकृत स्थान लौटा दिए। पेशवा ने अँग्रेजों के विरोधी किसी अन्य यूरोपियन जाति से संधि न करना और हैदरअली से कहकर अँग्रेजों की भूमि लौटवा देना भी स्वीकार किया। भड़ोंच सिंधिया को और अहमदाबाद आदि गायकवाड़ को दे दिया गया।

जिस वर्ष सालबाई संधि हुई उसी वर्ष हैदरअली की मृत्यु हो गई और उसके एक वर्ष बाद २४ फरवरी सन् १७८४ ई० को राघोबा भी परलोक सिधारा। नाना फड़नवीस ने उसके परिवार का बहुत ध्यान रखा; पर आनंदीबाई ने कभी इन्हें क्षमा नहीं किया, क्योंकि वह इन्हें अपने पति की सभी असफलताओं का मूल कारण समझती थी। उसने अपने पुत्र बाजीराव को इस प्रकार शिक्षित किया था कि वह अपने राज्य तथा देश को हानि पहुँचा कर भी नाना फड़नवीस से बदला लेने को तैयार रहता।

सालबाई की संधि का कुछ अंग्रेज इतिहासकारों ने बड़े अहंकार से उल्लेख किया है, जो कुछ अंशों में ठीक भी है। उत्तर, पश्चिम तथा पूर्व तीनों ओर के आक्रमणों को इन्होंने रोका और कहीं भी परास्त नहीं हुए। वास्तव में अंग्रेजों ने यह युद्ध राघोबा को पेशवा बनाने के लिये छेड़ा तथा छः वर्ष तक बराबर युद्ध करते रहे पर अंत में उसी राघोबा की सहायता न करने की शर्त पर संधि करनी पड़ी। यह केवल नाना फड़नवीस की नीति-निपुणता, दूरदर्शिता, धीरता तथा सहिष्णुता थी। घरेलू झगड़ों तथा विश्वासघातक मित्रों के रहते भी इसने अपना ही ध्येय पूरा किया और सभा ने बालक सवाई माधवराव को मुक्तकंठ से पेशवा स्वीकार कर लिया, जो इसी की रक्षा में जन्म से, यो कहें कि जन्म के पहले से सौंपा गया था।

हैदरअली की मृत्यु पर उसका पुत्र टीपू सुलतान मैसूर का राजा हुआ और इसने मंदराज (मद्रास) के अंग्रेजों से मंगलोर की संधि की, जिससे सालबाई की एक उस शर्त की पूर्ति हो गई जिसे मराठों को पूरा कराना था। परंतु शीघ्र ही मराठों तथा टीपू के बीच युद्ध का एक दूसरा कारण उत्पन्न हो गया। हैदरअली से जब सहायता की संधि हुई थी तब उसे कृष्णा तथा तुंगभद्रा नदियों के मध्य की भूमि दी गई थी, जिसमें नरगुंड भी था। यहाँ के देसाई ने हैदरअली की अधीनता स्वीकार कर ली थी और उसे वही कर देना पड़ता था जो वह मराठों को देता था। टीपू ने इस राज्य पर अधिकार करने की इच्छा से यह कर इतना बढ़ा दिया जो वह दे नहीं सकता था। भावे देसाई ने नाना फड़-नवीस के यहाँ इसपर प्रार्थनापत्र भेजा और नाना ने भी उचित समझ कर टीपू को लिखा कि जिस समय पेशवा ने वह भूमि उसे दी थी उस समय उसके अंतर्गत अन्य सभी स्वत्व ज्यों के त्यों थे और भविष्य में वैसे ही रहने देना ही उपयुक्त है। टीपू इसपर बिगड़ उठा और सन् १७८५ ई० के मार्च में नरगुंड पर सेना भेज दी। नाना फड़नवीस ने भी गणेश-

पंत बेहरे तथा परशुराम भाऊ पटवर्धन के अधीन सेना भेजी, पर टीपू के सेनापति बुर्हानुद्दीन ने इस सेना पर सफलता प्राप्त की और रामदुर्ग पर अधिकार कर लिया। इसपर नाना ने तुकोजी होलकर को सहायतार्थ भेजा। टीपू ने यह समाचार पाते ही संधि का बहाना किया और नाना इस बार उसके धोखे में पड़ गया। दो वर्ष का कर देने तथा नरगुंड पर कर न बढ़ाने की प्रतिज्ञा करने पर मराठा सेना लौट गई।

टीपू यही अवसर चाहता था और उसने तुरंत नरगुंड पर चढ़ाई कर दी। देसाई ने यथाशक्ति युद्ध किया, पर अंत में निराश होकर दुर्ग छोड़ने का निश्चय कर पहले उसने टीपू से प्रतिज्ञा ली कि उसे कोई हानि नहीं पहुँचाई जायगी, फिर दुर्ग पर अधिकार दिया। परंतु उसने अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर इसको सपरिवार कैद कर लिया, जो सब कपाल दुर्ग में कैद में मर गए। इसी प्रकार इसने किट्टूर पर अधिकार कर लिया। इसने संधि के अनुसार कर भी नहीं दिया और बहुत से हिंदुओं को बलात् मुसलमान बना डाला। प्रायः दो सहस्र हिंदुओं ने मुसलमान बनाए जाने के भय से आत्महत्या कर ली। नाना फड़नवीस यह सब सुनकर अत्यंत क्षुब्ध हो उठे। पर वे यह भी समझते थे कि फ्रेंच अफसरों के अधीन टीपू की सेना विशेष सुशिक्षित तथा प्रबल है, अतः निजाम तथा अंग्रेजों से टीपू के विरुद्ध पहले संधि करना इन्होंने नीतियुक्त समझा। अंग्रेजों ने इस प्रकार की संधि करना अस्वीकार कर दिया पर निजाम ने स्वीकार कर लिया क्योंकि वह भी टीपू पर क्रुद्ध था।

सन् १७८६ ई० के अप्रैल में निजाम तथा मराठों की सेनाएँ बादामी में एकत्र हुईं और उसपर आक्रमण कर अधिकार कर लिया। इसी बीच टीपू ने एदौनी दुर्ग घेर लिया जिसमें बसालतजंग का परिवार रहता था जो सन् १७८२ ई० में मर गया था। वह उस दुर्ग को ले नहीं सका। सम्मिलित सेना ने पहुँच कर दुर्गवालों की रक्षा की और उस दुर्ग को त्याग दिया। हरिबल्लाल फड़के ने गजेंद्रगढ़ तथा बहादुर बेंदा पर अधिकार कर लिया, पर जब टीपू ने ससैन्य तुंगभद्रा नदी पार कर फड़के को घेरना चाहा तब मराठा सेना को पीछे हटना पड़ा। टीपू ने बहादुर बेंदा पुनः ले लिया और सवानोर का दुर्ग घेरा जहाँ के नवाब ने मराठों का पक्ष ग्रहण कर लिया था। मराठी सेना में विशूचिका ने जोर पकड़ा जिससे वह शांत हो पड़ी। सन् १७८७ ई० के आरंभ ही में टीपू ने संधि की प्रार्थना की और मराठों को तीस लाख रुपए नगद दिए तथा पंद्रह लाख देने को प्रतिज्ञा की। बादामी, किट्टूर तथा नरगुंड मराठों को और एदौनी निजाम को लौटा दिया। इस प्रकार यह संधि हो गई। इसका कारण मुख्यतः यही था कि टीपू अंग्रेजों को दक्षिण से निकाल बाहर करना चाहता था, क्योंकि वह उन्हें घृणा की दृष्टि से देखता था।

टीपू ने इधर से छुट्टी पाकर तुर्की के सुलतान तथा फ्रांस के राजा लूई के यहाँ सहायतार्थ राजदूत भेजे और इसके अनंतर सन् १७८९ ई० के अंत में ट्रावंकोर राज्य पर एकाएक आक्रमण कर दिया। परंतु वह उस रक्षा-पंक्ति पर अधिकार न कर सका जो पंद्रह कोस लंबी अत्यंत दृढ़ बनी हुई थी। यह समाचार पाते ही अंग्रेजों ने युद्ध की तैयारी की, क्योंकि ट्रावंकोर उनका मित्र था। अब अंग्रेजों ने नाना फड़नवीस तथा निजाम से टीपू के विरुद्ध संधि की, जिसपर १ जून सन् १७९० ई० को पूना के शनवार प्रासाद में हस्ताक्षर हुए।

इसपर मालेट ने कंपनी की ओर से तथा नाना फड़नवीस ने मराठों तथा निजाम की ओर से हस्ताक्षर किए।

टीपू रक्षा-पंक्ति पर अधिकार न पाने से क्षुब्ध हो उठा और उसने राजधानी श्रीरंगपत्तन से बड़ी तोपें मँगवाइ। सन् १७९० ई० के मार्च में तोपखाना लगाकर वह उसपर गोले बरसाने लगा। रक्षा-पंक्ति के टूटने पर टीपू की सेना राज्य में घुस पड़ी और उसके उत्तरी भाग को खूब लूटा। पर अलवई के पास दीवान केशव पिल्लई ने बड़े कौशल से इसे इतने समय तक रोक रखा कि वर्षा बड़े वेग से आरंभ हो गई। टीपू को बाध्य हो कर विशेष हानि उठाते हुए लौटना पड़ा, क्योंकि अब उसे तीन शक्तियों की सम्मिलित सेना का सामना करना था।

कृष्णा तथा तुंगभद्रा नदियों के बीच की भूमि पर अधिकार करना ही नाना फड़नवीस का ध्येय था। इस प्रांत का प्रमुख नगर धारवाड़ था। परशुरामभाऊ पटवर्द्धन के अधीन ११ अगस्त को मराठा सेना कृष्णा के पार उतरी। जब अन्य सभी सैनिक टुकड़ियाँ जिनमें कप्तान लिट्ल के अधीन एक अंग्रेजी सेना भी थी, इससे आकर मिल गई तब यह १८ सितंबर को धारवाड़ पहुँचा और उसे घेर लिया। प्रायः सात महीने के घेरे पर इसपर अधिकार हुआ और तब इस कुल प्रांत पर अधिकार करते हुए मराठी सेना ने २२ अप्रैल सन् १७९१ ई० को तुंगभद्रा पार की। हरि बल्लाल फड़के के अधीन दूसरी मराठा सेना जो तीस सहस्र थी, सीरा दुर्ग लेते हुए टी के राज्य में पहुँच गई और २० मई को दोनों सेनाएँ सम्मिलित होकर मैलघाट पहुँचीं।

इस बीच अंग्रेजी सेना ने जेनरल मेडोज के अधीन कोयमबटूर पर सन् १७९० ई० के दिसंबर में अधिकार कर लिया पर वह टीपू के रणनीति-कौशल के कारण आगे नहीं बढ़ सका। कर्नल हार्टले तथा जेनरल ऐबरक्रौम्बी ने टीपू की सेनाओं को परास्त कर संपूर्ण मलाबार तट पर अधिकार कर लिया। सन् १७९१ ई० की जनवरी में लार्ड कार्नवालिस जेनरल मेडोज को हटाकर स्वयं सेनापति बन गए और कोलार तथा होसाकोट लेते हुए बंगलोर पहुँचे। इसे २० मार्च सन् १७९१ ई० को विजय कर श्रीरंगपत्तन की ओर बढ़े। उस दुर्ग के पास पहुँचने तथा युद्ध में विजय प्राप्त करने पर भी रसद के अभाव में अंग्रेजी सेना में अकाल पड़ गया, पशु मरने लगे और शत्रु ने मार्ग भी बंद कर दिया। इससे निरुपाय होकर लॉर्ड कार्नवालिस ने तोपखाना नष्ट कर बंगलोर की ओर यात्रा आरंभ की। इसी समय वर्षा भी आरंभ हो गई तथा शत्रु के उपद्रव से इनकी स्थिति और भी खराब हो गई। अंत में जब वे मैलघाट पहुँचे तब नगर से मराठा घुड़सवार सेना इनके स्वागत को निकली पर लॉर्ड कौर्नवालिस को शत्रु की सतर्कता से इसका पता भी नहीं था। ये इसे शत्रु की सेना समझ कटने मरने को तैयार हो गए पर जब तथ्य ज्ञात हुआ तब अत्यंत प्रसन्न हुए। हरि बल्लाल फड़के ने यथासाध्य इनके सभी अभावों की पूर्ति कर दी।

दस दिन इस स्थान पर सुस्ताकर मराठी सेना चीतल दुर्ग की ओर गई और अंग्रेजी सेना गर्रमकुंडा की ओर चली जिसे निजाम ने घेर रखा था। इस दुर्ग तथा

बंगलोर के बीच के सभी दृढ़ स्थानों पर अधिकार हो गया। अब सम्मिलित सेना ने श्रीरंगपत्तन जा घेरा और ६ फरवरी सन् १७९२ ई० को बाहरी दृढ़ स्थानों पर अधिकार कर लेने के अनंतर दुर्ग पर गोले उतारने की तैयारी हुई। इसी समय टीपू ने संधि का प्रस्ताव किया। बहुत वादविवाद के बाद इस शर्त पर संधि हुई कि टीपू अपना आधा राज्य तथा तीन करोड़ रुपए दंड देगा और सब कैदियों को छोड़ देगा। मराठों को कृष्णा तथा तुंगभद्रा के बीच का पश्चिमी प्रांत और तुंगभद्रा के दक्षिण बिलारी जिला दिए गए, निजाम को गूटी, कड़प्पा, मुद्कल आदि मिले और अँग्रेजों को कुर्ग, मलाबार, दिंदिगल, बारामहाल तथा सलेम का पूर्वोत्तर भाग मिला। अब सम्मिलित सेना अलग होकर अपने अपने राज्य की ओर चली। हरि बल्लाल फड़के २५ मई को पूना पहुँच गया।

महादजी सिंधिया ने फ्रेंच अफसर ड बोयन के अधीन भारी सेना सुशिक्षित की थी। इसकी सहायता से इसने दिल्ली पर अपना प्रभुत्व जमा लिया और राजपूताना के तीनों प्रमुख देशों को परास्त कर अधीन बना लिया। इसी सेना को सिंधिया टीपू सुल्तान के विरुद्ध भेजना चाहता था पर नाना फड़नवीस ने इसे अस्वीकार कर दिया। इससे सिंधिया चिढ़ उठा और उसने नाना फड़नवीस को हटाकर युवक पेशवा का स्वयं प्रधान सचिव बनने का विचार किया। इसके लिये इसने शाह आलम द्वितीय से पेशवा के लिये वकील मुतलक का तथा अपने लिये उसके सहकारी का पद प्राप्त किया और इन फर्मानों तथा खिलअत को लेकर अपने हाथ से देने के लिये विशाल सेना के साथ पूना आया। नाना फड़नवीस ने माधवराव सवाई को इसे स्वीकार न करने की सम्मति दी पर युवक पेशवा के उस पद से आकर्षित होकर हठ करने पर सतारा के राजा से इसको स्वीकार करने की आज्ञा प्राप्त कर ली। नाना फड़नवीस ने अब इस उत्सव को बड़े समारोह के साथ मनाना निश्चित किया। सिंधिया के पूना पहुँचने पर नाना फड़नवीस ने उससे भेंट की और तब दूसरे दिन वह पेशवा के दरबार में उपस्थित हुआ। इसने दरबार में विशेष नम्रता दिखलाई तथा बहुमूल्य भेंट दी। इसके अनंतर सिंधिया के एक विशाल खेमे में शाही तख्त लगाया गया जिसपर खिलअत फर्मान आदि सजाए गए। पेशवा ने उसके पास जाकर अभिवादन किया, भेंट दी और तब उसके बाएँ बैठे। फर्मान पढ़ा गया और खिलअत आदि अर्पण की गई। इसके अनंतर पेशवा अपने महल में चले आए और यहाँ सिंधिया को अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर उसके अनुकूल खिलअत आदि दी। इस प्रकार इस कार्य के निपट जाने पर दोनों पक्षों से षड्यंत्र आरंभ हुआ।

सिंधिया युवक पेशवा को अहेर आदि खेलाकर तथा अपनी सेना के युद्धों का विवरण सुनाकर आकर्षित कर रहा था, क्योंकि नाना फड़नवीस सदा गंभीर राजमर्यादा के अनुसार ही सब कार्य करता था। नाना फड़नवीस ने तुकोजी होलकर को सहायता के लिये लिखा और वह भी इसकी तैयारी करने लगा। उसने इस्माइल बेग से संधि की पर इसी बीच सिंधिया के फ्रेंच अफसर ड बोयन ने एक सेना उसपर भेजी, जिसने उसे परास्त कर कैद कर लिया। इसके अनंतर लाखेरी दर्रे के पास होलकर तथा ड बोयन में घोर युद्ध हुआ जिसमें होलकर को परास्त होकर भागना पड़ा। नाना फड़नवीस इस पराजय से हताश हो

गया और अब सिंधिया खुले रूप में उसके राजकाज में हस्तक्षेप करने लगा। तब नाना फड़नवीस ने पेशवा से कुल बातें कहीं, अपनी सेवाओं का वर्णन किया और यह भी बतलाया कि सिंधिया का उद्देश्य पेशवा को भी हटाकर सतारा-नरेश के नाम पर मराठा-साम्राज्य का स्वयं प्रबंधक बन बैठना है। अंत में कहा कि यदि उसपर से पेशवा का विश्वास उठ गया हो तो वह स्वतः त्यागपत्र देकर संन्यास ले ले। युवक पेशवा के नेत्रों में इन बातों को सुनकर जल भर आया और उसने नाना से क्षमा-याचना की। पेशवा ने यह भी कहा कि आप पर मेरा पूर्ण विश्वास सदा बना रहेगा। महादजी सिंधिया ने भी प्रयत्न करने में कुछ उठा नहीं रखा, पर इसके कुछ ही दिन बाद सन् १७९४ ई० की फरवरी में ज्वर से उसकी मृत्यु हो गई।

तारीखे मुजफ्फरी में सिंधिया की हत्या का उल्लेख किया गया है और वह भी नाना फड़नवीस के नियुक्त घातकों द्वारा, पर यह भ्रांतिमात्र है। महादजी सिंधिया वास्तव में वीर पुरुष था पर उसमें स्वार्थ की मात्रा अधिक थी। उसने अपनी सेना इतनी शक्तिसंपन्न कर दी थी कि वह शाह आलम का सेवक बनते हुए भी उसका कठोर स्वामी हो गया था और उसी प्रकार पेशवा का विनम्र दास बनकर उसका भी मालिक बनना चाहता था। इसके विपरीत नाना फड़नवीस का निजी स्वार्थ कुछ भी नहीं था और सवाई माधवराव पर उसका पुत्रवत् स्नेह था। वह सदा यही प्रयत्न करता रहा कि युवक पेशवा आदर्श राजा हो और उसकी शक्ति तथा राज्य सदा बढ़ता रहे।

महादजी सिंधिया को मृत्यु हो जाने पर उसके भाई का एक पौत्र दौलतराव उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसकी अवस्था उस समय पंद्रह वर्ष की थी, अतः वह नाना फड़नवीस के मार्ग में बाधक न होकर उसके अधीन ही रहा। इसी समय निजाम अली से चौथ आदि कर के विषय में झगड़ा उठा। टीपू के साथ युद्ध समाप्त होने पर इस झगड़े को निपटाने को कहकर भी उसने कुछ नहीं दिया और अपनी सेना बढ़ाने लगा। एक फ्रेंच अफसर फ्रैंकोयस द रेमाँड के अधीन इसने सुशिक्षित सेना सजाई और तब मराठों को कोरा उत्तर दे दिया। निजाम के दीवान मशीरुलमुल्क ने व्यंग्य किया कि नाना फड़नवीस को यदि हिसाब में कुछ शक हो तो इस दरबार में आवे, नहीं तो उसे पकड़कर लाया जायगा। साथ ही उसने पेशवा के संबंध में भी कुछ ऐसी ही बात कहीं। इसपर दोनों ओर से युद्ध की तैयारी हुई।

निजाम को अपनी सुशिक्षित सेना पर विशेष भरोसा था पर नाना फड़नवीस की तैयारी देखकर वह सहम उठा। सिंधिया की पचीस सहस्र सेना तथा रघुजी भोंसले की पंद्रह सहस्र सेना एकत्र हुई। बड़ौदा से भी सेना आई तथा इनके सिवा अन्य छोटे छोटे सरदारगण भी ससैन्य सम्मिलित हुए। पेशवा की निजी सेना बाबूराव फड़के के अधीन थी और कुल सेना का प्रधान सेनापति परशुराम भाऊ पटवर्धन नियत हुआ। १० मार्च सन् १७९५ को यह सुनकर कि निजामअली की सेना खारदा की ओर आ रही है, पटवर्धन ने बाबूराव को ससैन्य मोहरी दर्रे में शत्रु को रोकने को भेजा, परंतु दूसरे दिन शत्रु इसे परास्त कर खारदा पहुँच गया। इसके दूसरे दिन शत्रु-सेना ने परिंदः की ओर यात्रा की।

मार्ग में प्रधान सेनापति पटवर्धन के अधीन निरीक्षण करती सेना पर शत्रु की अफगान सेना ने एकाएक धावा कर दिया, जिसमें पटवर्धन घायल हो गया। अब दोनों पक्षों की पूर्ण सेनाओं में युद्ध आरंभ हो गया और रेमाँड की सेना से पेरौन के अधीन सिंधिया की सेना का घोर युद्ध हुआ। निजामअली साहस छोड़ बैठा और उसने अकारण ही अपनी सेना को खारदा की ओर लौटने की आज्ञा दे दी। मराठे इससे उत्साहित हो उठे और खारदा पहुँचते पहुँचते शत्रु-सेना केवल दस सहस्र रह गई, जो दुर्ग में बंद हो पड़ी। अंत में कुछ ही दिनों बाद निजाम ने विवश होकर नाना फड़नवीस के पास राजदूत भेजे और संधि की प्रार्थना की।

नाना फड़नवीस ने पहले मशीरुल्मुल्क मीरआलम को माँगा जिसे निजाम ने इतस्तत: कर के अंत में भेज दिया। दौलताबाद दुर्ग और ताप्ती से परिंदः तक की पैंतीस लाख आय की भूमि पेशवा को मिली और तीन करोड़ रुपए बाकी कर तथा दंड स्वरूप मिले। इसके सिवा रघुजी भोंसला को तीन लाख आय की भूमि तथा उन्तीस लाख रुपए कर के दिलाए। इस प्रकार यह युद्ध समाप्त हो गया।

मराठों की यह विजय अद्भुत थी क्योंकि एक लाख से अधिक शत्रु-सेना को केवल एक सौ सैनिकों की हानि उठाकर पूर्णतया परास्त कर दिया गया, दस-पंद्रह सहस्र शत्रु-सैनिक हताहत हुए, बहुत अधिक लूट मिली और संधि भी इच्छानुसार हुई। इस विजय का पूर्ण श्रेय अभिभावक नाना फड़नवीस को था, जिसके प्रभाव से पेशवा के उद्दंड शक्तिशाली सरदारगण अधीनस्थ बने हुए थे। होलकर नाना का मित्र था, रघुजी भोंसले इसका पूर्ण पक्षपाती था, युवक दौलतराव इसके अधीन था, गोविंदराव गायकवाड़ इसे अपना हितैषी मानता था तथा चितपावन सरदारगण इसे मान्य समझते थे। तात्पर्य यह कि उस समय मराठा-साम्राज्य में यही एक व्यक्ति था जिसके प्रभुत्व को सभी मानते थे।

मराठा-साम्राज्य के पतन के कारणों में एक मुख्य कारण रघुनाथराव राघोबा तथा उसका परिवार था। वह अपने जीवन भर अपने दोनों भतीजों तथा उनके एकमात्र पुत्र के समय निरंतर उनके विरुद्ध षड्यंत्र तथा युद्ध करता रहा, जिससे कई मराठे सरदार इतने प्रबल हो गए कि पेशवा को स्वामी मानना उनकी इच्छा तथा सुविधा पर निर्भर हो गया तथा मराठों के कई शत्रु भी उन्नति कर पाए। नाना फड़नवीस ऐसे राजनीति-कुशल पुरुष का कार्य था कि राघोबा के हाथ में गए हुए पेशवा-पद को पुनः बालाजी बाजीराव के वंश में अंत तक स्थिर रखा। राघोबा की मृत्यु पर उसकी विधवा आनंदीबाई नासिक के पास आनंदवल्लि में अपने दत्तक पुत्र अमृतराव तथा दो औरस पुत्र बाजीराव तथा चिमनाजी आपा के साथ रहने लगी। सन् १३९४ ई० में इसकी मृत्यु हुई तब नाना फड़नवीस ने इन युवकों के रहने का प्रबंध शिवनेरि दुर्ग में किया। निजाम पर विजय प्राप्त करने के अनंतर इन युवकों पर नियंत्रण रखा जाने लगा, जिससे राघोबा के पक्ष वाले नाना फड़नवीस पर सालबाई की संधि के विरुद्ध कार्य करने का आक्षेप लगाने लगे, पर इसने राज-नियम के अनुसार इसे ही उचित समझा।

बाजीराव की अवस्था उन्नीस वर्ष की हो गई थी। उसका व्यक्तित्व आकर्षक था, तीर तथा तलवार चलाने और अश्वारोहण में वह निपुण था तथा संस्कृत का उसने अच्छा अध्ययन किया था। पेशवा भी इक्कीस वर्ष का हो चुका था और पत्नियों तथा सहचरों के उसकाने से यह भी राज्य-प्रबंध में हस्तक्षेप करने का कभी कभी प्रयत्न करने लगा, जैसे घासीराम कोतवाल के संबंध में। यह गौड़ या कान्यकुब्ज ब्राह्मण था और अपनी कार्य-दक्षता से नाना फडनवीस को प्रसन्न कर पूना का कोतवाल हो गया था। इसके अनंतर यह पापाचारी हो गया और यात्रियों को लूटकर समाप्त कर देता। इसके विरुद्ध प्रार्थना-पत्र आने पर नाना फड़नवीस उसपर विश्वास न करता, पर एक बार वह कारारुद्ध तैलंगी यात्रियों सहित पकड़ा गया। नाना फड़नवीस अब भी इसे षड्यंत्र समझता रहा पर पेशवा ने न मानकर उसे दंड देने के लिये तैलंगियों को सौंप देने की आज्ञा दे दी, जिन्होंने उसे पत्थरों से मार डाला।

इसी प्रकार पेशवा ने अपने चचेरे भाइयों को कारागार से छुड़ाने के लिये कई बार नाना फड़नवीस से कहा, पर वे यह जानते थे कि बाजीराव आनंदीबाई का पुत्र है और उससे कभी भलाई की आशा नहीं की जा सकती। इन्होंने पेशवा को बहुत समझाया, उसके पिता की हत्या तथा शत्रुओं को उसपर चढ़ा लाने आदि का उल्लेख किया, पर वह भी हठ करते हुए बाजीराव की निर्दोषिता तथा अपने पूर्वजों के भ्रातृप्रेम का दृष्टांत देता रहा। नाना फड़नवीस हताश से हो पड़े। यह स्वयं निस्सन्तान थे और इनका सारा वात्सल्य-स्नेह पेशवा ही पर था। पेशवा वयःप्राप्त हो चुके थे पर यह उन्हें हठी बच्चा ही समझते रहे। इन्होंने पेशवा पर कड़ी दृष्टि रखी और बाजीराव का कारारोध भी अधिक कड़ा कर दिया। इतने पर भी बाजीराव ने गुप्त रूप से पेशवा से पत्र-व्यवहार करने का उपाय निकाल लिया और पेशवा को नाना फड़नवीस के विरुद्ध गूढ़ भाषा में उभाड़ने लगा। अंत में इस बात का जब नाना फड़नवीस को पता लगा तो यह अत्यंत क्षुब्ध हो उठे और पेशवा की भर्त्सना की, जो उचित न था। पत्रवाहक बलवंतराव नागोनाथ को कैद का दंड दिया और बाजीराव की कैद अत्यंत कठोर कर दी। इसपर पेशवा अत्यंत दुखी हो गए और उनका पैतृक क्षय रोग बढ़ गया।

सवाई माधवराव का रोग क्रमशः बढ़ने लगा और वे कभी कभी घंटों तक चेतना-रहित हो जाते थे। इसी समय विजयादशमी का त्योहार आ गया, जो बड़े समारोह से प्रति वर्ष मनाया जाता था। २३ सन् १अक्तूबर१७९५ ई० को पेशवा ने नित्य का अर्चन-पूजन किया और सेना का निरीक्षण कर दरबार किया। राजदूतों का स्वागत किया और सरदारों को खिलअत बाँटी। संध्या के समय हाथी पर बैठकर जुलूस में निकले, पर वे इतने थक गए थे कि बैठना कठिन हो रहा था। अंत में जुलूस शीघ्र समय के पहिले ही लौट आया। इसपर जनसाधारण अत्यंत विस्मित हुआ और किसी अशुभ की आशंका करने लगा। इसी के दो दिन बाद आश्विन शुक्ल १२ को पेशवा गणपति-मंडप के बारजे से नीचे गिर पड़े और तीन दिन बाद उनकी मृत्यु हो गई।

पेशवा सवाई माधवराव की मृत्यु-घटना के संबंध में तर्क-वितर्क इस बात पर अधिक

हुआ है कि यह घटना आत्महत्या के उद्देश्य से घटित हुई या नहीं। ग्रांट डफ तथा इसी के अनुसार अन्य अंग्रेज लेखकों ने इसे आत्महत्या ही माना है और नाना फड़नवीस की जीवनी में खेर महोदय तथा खाडिलकर महोदय ने अपने नाटक में इसी का समर्थन किया है। नाटककार ने तो यहाँ तक संकेत किया है कि बाजीराव के दूत ने पेशवा को यह विश्वास दिलाया कि आप तथा आपकी पत्नी यशोदाबाई, दोनों नाना फड़नवीस के व्यभिचार के फल हैं और इसी से माधवराव ने आत्महत्या कर डाली। दूसरे पक्ष का कथन है कि यह आत्महत्या नहीं थी, प्रत्युत अत्यंत रुग्ण पेशवा ज्वर के आधिक्य के कारण मस्तिष्क के विकृत हो जाने से गिर पड़े थे। दो बक्खर, सहायक रेजिडेंट उहटौफ के २७ अक्तूबर सन् १७९५ के पत्र तथा होलकर के पत्रों से इसी बात का समर्थन होता है।

नाना फड़नवीस ने जिस समय यह समाचार सुना, वे इतना घबड़ा गए कि माधवराव को देखने के लिये दौड़ते ही द्वार पर लड़खड़ा कर गिर पड़े। इन्होंने यथाशक्ति हर प्रकार के उपाय किए पर पेशवा इतने आहत हो गए थे और इतना अधिक कष्ट था कि वे बच न सके। सं० १८५२ के आश्विन की पूर्णिमा को उनका शरीरांत हो गया। मृत्यु के समय वे बाजीराव को गद्दी देने की इच्छा प्रगट कर गए।

नाना फड़नवीस ने आनंदीबाई के पुत्र बाजीराव को गद्दी देने में पहिले इतस्ततः किया क्योंकि वह उसकी प्रकृति को अच्छी प्रकार समझता था, पर माधवराव की अंतिम इच्छा ऐसी ही होने के कारण वह इसपर अधिक जोर न दे सका। इसने पहले यशोदाबाई को दत्तक पुत्र दिलाने का प्रस्ताव किया, पर बाजीराव के सिंधिया से षड्यंत्र करने का समाचार पाकर इसने परशुराम भाऊ पटवर्धन को ससैन्य बुलाया और बाजीराव को शिवनेरी से सिंधिया के पहुँचने के पहले ही लिवा लाने को भेज दिया। बाजीराव को पहले शंका हुई, पर पटवर्धन के देवी-मंदिर में गोपुच्छ लेकर शपथ खाने पर वह पूना आया। नाना फड़नवीस उससे मिला और दोनों ने मिलकर राज्य करने का निश्चय किया।

दौलतराव सिंधिया का मंत्री बालोबा तात्या पगनीस, जिसके द्वारा पहिले का षड्यंत्र हुआ था, इसपर अत्यंत क्षुब्ध हुआ क्योंकि बाजीराव ने उसे एक प्रकार से धोखा दिया। इसकी सम्मति पर दौलतराव सिंधिया ससैन्य पूना आया। नाना फड़नवीस पुरंधर दुर्ग चले गए और बालोबा ने बाजीराव को हटाकर उसके स्थान पर उसके छोटे भाई को यशोदा देवी को गोद देकर पेशवा बनाने का निश्चय किया। नाना फड़नवीस की सहमति से पटवर्धन ने भी इसकी स्वीकृति दे दी। सतारा के नरेश से इसके लिये खिलअत भी प्राप्त कर पूना भेज दी, पर स्वयं नाना फड़नवीस शंका के कारण पूना नहीं गये। बाजीराव को अभी तक इस षड्यंत्र का पता नहीं था, अतः सिंधिया के निमंत्रण पर वह निश्शंक उसके यहाँ चला गया और कैद कर लिया गया। अब चिमनाजी बाजीराव के पड़ाव पर से नगर में लाए गए और २६ मई सन् १७९६ ई० को दत्तक लिए जाने के अनंतर गद्दी पर बिठाए गए।

अब बालोजी नाना फड़नवीस को कैद करने का उपाय करने लगा, पर ये महाबालेश्वर,

होते महद पहुँच गए और रायगढ़ को दृढ़ किया। बालोजी ने इनकी कुल चल-अचल संपत्ति लूट ली पर इनका कोष इतना गुप्त था कि उसका किसी को पता नहीं लगा। इस दुर्भाग्यावस्था में बाजीराव तथा नाना फड़नवीस एक हो गए। नाना फड़नवीस को तुकोजी होलकर की सहायता का निश्चय था और उसने दौलतराव सिंधिया को भी उसके मंत्री के विरुद्ध फोड़ने का प्रयत्न किया। सखाराम घाटगे के द्वारा यह कार्य संपन्न कराने का प्रयास हुआ, जिसने अपनी सुंदरी कन्या को उसे ब्याह देने का प्रलोभन दिया, क्योंकि यह वंश की दृष्टि से उच्च था। साथ ही फड़नवीस ने निजाम अली को खारदा युद्ध में ली गई भूमि लौटाने को कहकर अपने पक्ष में कर लिया। मानाजी फड़के ने भी बाजीराव का पक्ष ग्रहण कर दस सहस्र सेना तैयार की। रघुजी भोंसले ने भी सहायता देने का वचन दिया। यह कुल षड्यंत्र इतना गोपनीय रखा गया था कि २७ अक्तूबर को सिंधिया ने बालोबा पगनीस को कैद कर लिया और परशुराम भाऊ पूना से भागकर शिवनेरि में पकड़ा गया। चिमनाजी का दत्तक होना अवैध निश्चित किया गया और बाजीराव द्वितीय पेशवा हुआ। नाना फड़नवीस पहले के समान प्रधान अमात्य हुए।

पेशवा होते ही बाजीराव नाना फड़नवीस के विरुद्ध चलने लगा। निजाम से नाना के साथ हुई संधि को इसने अमान्य कर दिया। अगस्त सन् १७९७ ई० में तुकोजी होलकर की मृत्यु हो गई और उसके दो औरस तथा दो वर्णसंकर पुत्रों में उत्तराधिकार के संबंध में झगड़ा चला। दौलतराव सिंधिया ने इसमें सहयोग दिया। छोटा औरस पुत्र मल्हारराव मारा गया और बड़ा काशीराव होलकर राज्य का स्वामी हुआ। दोनो वर्णसंकर पुत्र जसवंतराव तथा विठोजी क्रमशः नागपुर तथा कोल्हापुर भाग गए। इस प्रकार सिंधिया का होलकर राज्य में प्राधान्य हो गया। नाना फड़नवीस के विरुद्ध अब सिंधिया, सखाराम घाटगे, अमृतराव तथा गोविंदराव काले ने बाजीराव का साथ दिया और यह इतनी शीघ्रता तथा गुप्त रूप में हुआ कि नाना फड़नवीस से कुशल पुरुष को भी कुछ ज्ञात न हो सका। यह माइकेल फिलोज के आमंत्रण पर सिंधिया के पड़ाव में गया और वहीं पकड़ा जाकर अहमद नगर दुर्ग में कैद किया गया। इसके मित्र बाबूराव फड़के तथा आप्पा बलवंत मेहेंदले भी कैद किए गए।

बाजीराव के इस बदला लेने के प्रयत्न में दौलतराव सिंधिया अत्यंत शक्तिशाली हो गया। उसे दो करोड़ रुपए देने को कहकर सहायक बनाया था और अब वह इस रुपए को माँगने लगा। इसे न दे सकने पर बाजीराव ने पूना के नागरिकों से वसूल करने का आदेश दे दिया। इस कार्य पर सखाराम घाटगे नियत हुआ और इसने इस कार्य को इतनी कठोरता से किया कि चारों ओर त्राहि त्राहि मच गई। अमृतराव ने बाजीराव से इसका विरोध किया और सिंधिया को कैद करने की राय दी। अंत में यह निश्चय हुआ कि सिंधिया को दरबार में बुलाकर कैद कर लिया जाय। वह बुलाने पर आया भी, पर बाजीराव को उसे पकड़ने का साहस नहीं हुआ।

इसी बीच सतारा-नरेश ने बाजीराव को अपना वचन पूरा करने को कहा, जो उसने नाना फड़नवीस से विरोध करते समय दिया था कि वह उसे साहू प्रथम के समान

ऐश्वर्य-संपन्न बना देगा। साथ ही उसने युद्ध की तैयारी की और माधवराव रस्ते को जो सेना सहित भेजा गया था, परास्त कर दिया। परशुराम भाऊ ने जो बाई में कै था, बाजीराव से कहलाया कि यदि मुझे अवसर दिया जाय तो सतारा-नरेश को परास्त कर सकता हूँ। इसकी स्वीकृति मिलने पर इसने सेना एकत्र की तथा रस्ते से मिलकर उसने सतारा की सेना को परास्त कर दिया। इसके अनंतर सतारा दुर्ग घेर कर उसे ले लिया और तब उसे उसी प्रकार का परतंत्र राजा बना दिया जैसा वह पहिले था। परशुराम भाऊ पुनः दंड देकर पेशवा का कृपापात्र बन गया।

दौलतराव सिंधिया सन् १७९८ ई० में महादजी सिंधिया की विधवाओं के झगड़े में पड़ गया, जिनकी वार्षिक वृत्तियों को उसने बहुत घटा दिया था। इसने उन्हें अहमदनगर में सुरक्षित रखने का प्रबंध किया, जिसपर वे भागकर अमृतराव के पड़ाव में चली गईं जो जुनार जा रहा था। सखाराम घाटगे ने उस पड़ाव पर आक्रमण कर उसे लूट लिया। यह पेशवा का पूरा अपमान था, इसलिये बाजीराव ने निजाम अली से सिंधिया के विरुद्ध संधि कर ली। अब सिंधिया के लिये एकमात्र उपाय नाना फड़नवीस को मिलाना था, जो उसी की रक्षा में था। इसी के अनंतर निजामअली ने बाजीराव से जो संधि की थी उसे अमान्य कर दिया, तब बाजीराव को सिंधिया तथा नाना फड़नवीस को शांत करना पड़ा। १५ अक्तूबर सन् १७९८ ई० को नाना फड़नवीस ने पुनः प्रधान अमात्य का कार्य अपने हाथ में ले लिया। परंतु इनका विश्वास बाजीराव पर कभी न हुआ और न इन्होंने उत्साह से अपना कार्य किया।

टीपू सुल्तान इसी समय अंग्रजों के विरुद्ध षड्यंत्र रच रहा था, इसलिये मारकिस वेलेजली ने, जो उस समय गवर्नर-जेनरल था, इस कटक को सदा के लिये दूर करने का निश्चय किया और निजाम तथा पेशवा दोनों को सहयोग देने के लिये आमंत्रित किया। निजाम ने इसे स्वीकार कर लिया पर बाजीराव सोचते-विचारते रह गए और कुछ नहीं किया। २ मई सन् १७९९ ई० को युद्ध में टीपू मारा गया और उसका आधा राज्य मित्रों में बँट गया तथा आधे में वर्तमान मैसूर राज्य स्थापित किया गया। इसके अनंतर निजाम ने अंग्रेजों से संधि कर फ्रेंच अफसरों को छुड़ा दिया और उसके बदले में अंग्रजी सहायक सेना रख ली। इस प्रकार पूरे दक्षिण में मराठा राज्यों को छोड़कर अंग्रेजों का पूर्ण प्रभुत्व जम गया।

मराठों में आपसी झगड़े बढ़ते गए, जिससे इनकी शक्ति क्षीण होती गई। महादजी सिंधिया की विधवाएँ अमृतराव के पड़ाव को त्यागकर कोल्हापुर पहुँच गईं, वहाँ के राजा ने इनका पक्ष लिया। पेशवा की भेजी हुई सेनाएँ प्रतिनिधि तथा परशुराम भाऊ के अधीन परास्त हो गईं। सिंधिया के राज्य में लकवा दादा शेन्वी ने विद्रोह मचा रखा था। यह सधिया का रणकुशल सेनानी था पर दौलतराव ने इसे कैद कर दिया, जहाँ से यह भाग निकला था। जसवंतराव होलकर भी सेना एकत्र कर मालवा में लूट मचाए हुए था और सिंधिया की सेना इसका दमन नहीं कर पा रही थी। इसी समय मराठा राज्य के प्रमुख स्तंभ नाना फड़नवीस की १३ मार्च सन् १८०० ई० को मृत्यु हो गई।

अहमदनगर में कारारुद्ध रहने के समय ही से नाना फड़नवीस का स्वास्थ्य बिगड़ गया था, जो सँभल न सका। सन् १८०० ई० के आरंभ ही से इसे ज्वर आने लगा और यह अपने घर से निकलने योग्य न रहा। इतने पर भी उसने अपने कार्य में कभी ढिलाई नहीं की। बाजीराव भी मृत्यु के पहिले इसे देखने आए थे। इसकी मृत्यु पर कुल मराठा राज्य में शोक उमड़ पड़ा। कर्नल पामर ने ठीक कहा था कि इसके साथ ही मराठा साम्राज्य की सारी बुद्धिमत्ता तथा उदाराशयता विदा हो गई।

नाना फड़नवीस प्रत्येक दृष्टिकोण से अपने समय का एक महान् पुरुष था। यह राजनीति तथा रणनीति दोनों ही में कुशल था और अत्यंत दूरदर्शी तथा स्वामिभक्त था। माधवराव बल्लाल के समय भी यह उनका अंतरंग मित्र तथा स्वामिभक्त कार्यकर्ता था और इनके भ्रातुष्पुत्र द्वितीय माधवराव के राजसिंहासन का संस्थापक तथा सदा-जागरूक रक्षक था। इसे एक भी संतान नहीं थी और द्वितीय माधवराव पर इनका पुत्र से बढ़कर स्नेह भी था। माधवराव भी इसे वैसा ही मानता था, परंतु बाजीराव की बातों में पड़कर कभी-कभी इसके विरुद्ध हठ कर बैठता। नाना फड़नवीस सत्यनिष्ठ, दयालु, उदार तथा मितव्ययी थे और अपनी गृहस्थी के तथा राज्य के सभी कार्य बड़ी योग्यता से करते रहे। इन्होंने अपने अधिकार-काल में मराठा-राज्य का बराबर उत्कर्ष ही किया और इनकी मृत्यु के डेढ़ दर्जन वर्ष के बाद ही पेशवा का राज्य समाप्त हो गया।

नाना फड़नवीस ने नौ विवाह किए थे, जिनमें इनकी मृत्यु के समय दो स्त्रियाँ जीवित थीं। इनमें से भी एक बागाबाई इनकी मृत्यु के चौदह दिन बाद मर गई। दूसरी ज्यूबाई अल्प अवस्था की थी। इनको एक पुत्र तथा पुत्रियाँ हुई थीं पर ये युवा होते होते काल-कवलित हो गईं। मृत्यु के समय इनकी अरब रक्षक-सेना ने वेतन के लिये उपद्रव किया तब बाजीराव ने उसे चुकता कर दिया पर इनकी कुल संपत्ति छीन ली। ज्यूबाई शनवार प्रासाद के एक कमरे में रखी गई। जसवंतराव होलकर ने इसे यहाँ से छुटकारा दिलवाया और लोहगढ़ भेज दिया, जो नाना फड़नवीस के एक अफसर धोंडू बल्लाल नित्सुरे के अधिकार में था और जिसने उसे अपने स्वामी के हित में बाजीराव के विरुद्ध सुरक्षित रखा था। इसके दो वर्ष अनंतर अंग्रेजों ने इस दुर्ग को ले लिया और बाजीराव को बारह सहस्र रुपए वार्षिक वृत्ति देने को बाध्य किया। सोलह वर्ष तक यह पानवेल में अंग्रेजों की रक्षा में रही। बाजीराव के पतन पर इसे मेनवल्ली तथा बेलबाग बस्तियाँ भी मिल गईं। सन् १८२७ ई० में इसने रामकृष्ण गंगाधर भानु के छोटे पुत्र को गोद लेकर माधवराव नाम रखा और वही इसकी मृत्यु पर उन बस्तियों का स्वामी हुआ।

—⁘—
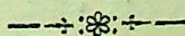
भोजपुरी का नामकरण

[श्री उदयनारायण तिवारी]

भोजपुरी पूर्वी अथवा मागधी परिवार की सब से पश्चिमी बोली है। ग्रियर्सन ने पश्चिमी मागधी को बिहारी के नाम से अभिहित किया है। बिहारी से ग्रियर्सन का उस एक भाषा से तात्पर्य है जिसकी मगही, मैथिली तथा भोजपुरी तीन बोलियाँ हैं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से ग्रियर्सन का कथन सत्य है किंतु इन तीनों बोलियों में पारस्परिक अंतर भी है। मैथिली 'अछ' या 'छ' धातु का प्रयोग भोजपुरी तथा मगही में नहीं है। इसी प्रकार भोजपुरी क्रियाओं के रूप में मैथिली तथा मगही क्रियाओं के रूप की जटिलता का सापेक्षिक दृष्टि से अभाव है। उधर मैथिली में प्राचीन काल से ही साहित्य-रचना होती आ रही है और भोजपुरी तथा मगही में भी लोकगीतों तथा लोककथाओं का बाहुल्य है। इन अंतरों के साथ साथ इन तीनों बोलियों के बोलनेवालों को इस बात की प्रतीति भी नहीं होती कि उनकी बोलियाँ बिहारी भाषा की उपभाषाएँ हैं। इस संबंध में यह भी कठिनाई है कि बिहारी भाषा का कोई साहित्यिक रूप भी उपलब्ध नहीं है। ऐसी दशा में इन बोलियों के बोलनेवाले यदि अपनी अपनी बोली को एक दूसरे से पृथक् मानें इसमें आश्चर्य ही क्या है? यह सब होते हुए भी मैथिली, मगही तथा भोजपुरी के बोलनेवाले अत्यंत सरलतापूर्वक एक दूसरे की बोली समझ लेते हैं।

बिहार की तीनों बोलियों में विस्तार-क्षेत्र की दृष्टि से भोजपुरी का स्थान सर्वोच्च है। उत्तर में हिमालय की तराई से लेकर दक्षिण में मध्यप्रांत की सरगुजा रियासत तक इस बोली का विस्तार है। बिहार प्रांत के शाहाबाद, सारन, चंपारन, राँची, जशपुर स्टेट, पालामऊ के कुछ भाग तथा मुजफ्फरपुर के उत्तरी-पश्चिमी कोने में इस बोली के बोलनेवाले निवास करते हैं। इसी प्रकार युक्त प्रांत के बनारस [जिसमें बनारस स्टेट भी सम्मिलित है], गाजीपुर, बलिया, जौनपुर के अधिकांश भाग, मिर्जापुर, गोरखपुर, आज़मगढ़ तथा

---

* कतिपय विद्वानों ने "भोजपुरी" के स्थान पर "भोजपुरिया" शब्द का प्रयोग किया है। विशेषण के लिये "ई" की भाँति ही भोजपुरी में "इया" प्रत्यय भी प्रचलित है; किंतु इस "इया" प्रत्यय में किंचित् अप्रतिष्ठा अथवा घनिष्टता का भाव आ जाता है जिसका "ई" प्रत्यय में वस्तुतः अभाव है। "ई" प्रत्यय वाला रूप छोटा है तथा जिस प्रकार 'बंगाल' से 'बंगाली', 'नेपाल' से 'नेपाली' शब्द बन जाते हैं उसी प्रकार यह भी बन जाता है। यही कारण है कि मैंने 'भोजपुरिया' की अपेक्षा 'भोजपुरी' के प्रयोग को ही उपयुक्त समझा है। इसके अतिरिक्त बीम्स, हार्नले तथा ग्रियर्सन आदि विद्वानों ने भी अपने लेखों तथा पुस्तकों में 'भोजपुरी' शब्द का ही प्रयोग किया है जिसके कारण यह बहुत प्रचलित हो गया है।

—लेखक

बस्ती जिले की हरैया तहसील में स्थित कुआनो नदी तक भोजपुरी बोलनेवालों का आधिपत्य है।

डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने मागधी बोलियों तथा भाषाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया है। आपके अनुसार भोजपुरी पश्चिमी मागधी वर्ग, मैथिली तथा मगही मध्य मागधी वर्ग तथा बँगला, असमिया और उड़िया पूर्वी मागधी वर्ग के अंतर्गत आती हैं। इस प्रकार बँगला, असमिया तथा उड़िया, यदि भोजपुरी की चचेरी बहनें हैं तो मैथिली और मगही इसकी सगी बहनें।

भोजपुरी बोली का नामकरण शाहाबाद जिले के भोजपुर परगना के नाम पर हुआ है। शाहाबाद जिले में भ्रमण करते हुए डा० बुकनन सन् १८१२ ईस्वी में भोजपुर आए थे। उन्होंने मालवा के भोजवंशी 'उज्जैन' राजपूतों के 'चेरों' जाति को पराजित करने के संबंध में उल्लेख किया है।

बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के १८७१ के जर्नल में छोटानागपुर, पचेल तथा पालामऊ के संबंध में मुसलमान इतिहास-लेखकों के विवरणों की चर्चा करते हुए ब्लाचमैन ने भोजपुर का भी उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—बंगाल के पश्चिमी प्रांत तथा दक्षिणी बिहार के राजा दिल्ली के सम्राट के लिये अत्यंत दुखदायी थे। अकबर के राजत्वकाल में बक्सर के समीप भोजपुर के राजा दलपत, सम्राट से पराजित होकर बंदी किए गए और अंत में जब बहुत आर्थिक दंड के पश्चात् वे बंधन-मुक्त हुए तो उन्होंने पुनः सम्राट के विरुद्ध सशस्त्र क्रांति की। जहाँगीर के राजत्वकाल में भी उनकी क्रांति चलती रही जिसके परिणाम-स्वरूप भोजपुर लूटा गया तथा उनके उत्तराधिकारी प्रताप को शाहजहाँ ने फाँसी का दंड दिया।

ब्लाचमैन ने ही अपने आईने-अकबरी के अनुवाद भाग १ में अकबर के दरबारी नं० ३२९ के संबंध में चर्चा करते हुए निम्नलिखित तथ्यों का उल्लेख किया है। इस दरबारी का नाम बरखुर्दार मिर्जा खानआलम था। इस तथ्य की पुष्टि अन्य स्रोतों से भी हो जाती है। बात इस प्रकार है—बरखुर्दार का पिता युद्ध में दलपत द्वारा मारा गया था। बिहार का यह जमीनदार बाद में पकड़ा गया तथा ४४ वें वर्ष तक जेल में रखा गया; किंतु इसके पश्चात् बहुत अधिक आर्थिक दंड लेकर उसे छोड़ दिया गया। बरखुर्दार अपने पिता के बध का बदला लेने तथा दलपत के बध की टोह में छिपा था; किंतु वह उसके हाथ न आया। जब अकबर को इस बात की सूचना मिली तो वह बरखुर्दार के इस कार्य से इतना रुष्ट हुआ कि उसने उसे दलपत को सौंप देने की आज्ञा दी, किंतु कई दरबारियों के हस्तक्षेप करने पर सम्राट ने उसे कैद कर लिया।

पुनः उसी पृष्ठ की पादटिप्पणी १ में दलपत के संबंध में यह विद्वान् लेखक लिखता है—दलपत को अकबरनामा में उज्जनिह [اُجینیه] लिखा है। हस्तलिखित प्रतियों में इसके उज्जैनिह [اُجینیه] या ओजैनिह [اوجینیه] आदि रूप मिलते हैं।

शाहजहाँ के राजत्वकाल में दलपत का उत्तराधिकारी राजा प्रताब हुआ जिसे प्रथम बार १५०० तथा १००० घोड़ों का मनसब मिला [पादशाहनामा १. २२१]।

इसी पुस्तक में इस बात का भी उल्लेख है कि रोहतास सरकार के अंतर्गत 'सहसराम' (ससराम) परगने के उत्तर तथा 'आरा' के पश्चिम, भोजपुर में, इन उज्जैनी राजाओं का निवास-स्थान था। शाहजहाँ के राजत्वकाल के दसवें वर्ष में प्रताब ने सम्राट के विरुद्ध क्रांति की। इसी समय अब्दुल्लाखाँ फिरोज जंग ने भोजपुर पर घेरा डाला तथा उसे विजय किया (जिलहज्ज ८, १०४६)। इसके पश्चात् प्रताब (प्रताप ?) ने अपने को सम्राट के हाथ में सौंप दिया और शाहजहाँ की आज्ञा से उसे फाँसी दी गई।.........इस संबंध में पादशाहनामा [१ बी पृ० २७१-२७४] में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी समय भोजपुर राज्य अत्यंत प्रसिद्ध था। इसके शासक उज्जैन राजपूत प्राचीन काल में अपने मूल स्थान मालवा से बिहार चले आए थे। मध्ययुग के भारतीय इतिहास—विशेषतः पश्चिमी बिहार के इतिहास—में इन राजपूतों का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। सन् १८५७ ई० की क्रांति तक इनका प्रभुत्व अक्षुण्ण रहा। इसी समय महाराजकुमार बाबू कुँवरसिंह ने अंग्रेजों के विरुद्ध विप्लव किया जिसके परिणाम स्वरूप भोजपुर ध्वस्त कर दिया गया। इस प्रकार भोजपुर राज्य का अंत हुआ। इस समय केवल "डुमराँव राज्य" एक उज्जैनवंशी क्षत्रिय के अधिकार में है।

अब यह बात स्पष्ट है कि उज्जैन के भोजों[1] के नाम पर ही भोजपुर नाम पड़ा, क्योंकि प्राचीन काल में इन्हीं लोगों ने इस क्षेत्र पर अधिकार करके यहाँ शासन करना आरंभ किया था। डुमराँव के निकट भोजपुर नगर ही इनकी राजधानी था। यद्यपि इस प्राचीन नगर का वैभव विनष्ट हो चुका है किंतु अब भी डुमराँव के निकट 'छोटका' तथा 'बड़का' 'भोजपुर' नाम के दो गाँव वर्तमान हैं। 'नवरत्न दुर्ग' का ध्वंसावशेष अब भी यहाँ वर्तमान है। इसके स्थापत्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह मध्ययुग की कृति है।

भोजपुर के प्राचीन नगर के नाम पर ही इस क्षेत्र का नाम भी भोजपुर पड़ गया जो आगे चलकर इस नाम के परगने तथा जिले के नाम का कारण हुआ। प्राचीन काल में भोजपुर नगर के दक्षिण तथा वर्तमान आरा जिले के उत्तर का अर्धभाग ही इस प्रांत की सीमा थी। सन् १७८१ के जेम्स रेनेल[2] के ऐटलस में आरा के उत्तरी भाग का नाम रोतास [रोहतास] प्रांत मिलता है। इस प्रकार १८ वीं शताब्दी में भोजपुर एक प्रांत था। धीरे धीरे, इसका विशेषण भोजपुरी, इस प्रांत के निवासियों तथा उसकी बोली के लिये भी प्रयुक्त होने लगा। चूँकि इस प्रांत की बोली ही इसके उत्तर, दक्षिण तथा पश्चिम में भी बोली जाती थी, अतएव भौगोलिक दृष्टि से भोजपुर

१—धार के प्रसिद्ध राजा भोज का नाम किसी व्यक्ति-विशेष का नाम न होकर उस क्षेत्र के राजाओं की उपाधि प्रतीत होता है। [ऐतरेय ब्राह्मण, ८-१४]

२—जेम्स रेनेल ने सर्वप्रथम बंगाल तथा बिहार का प्रामाणिक मानचित्र तैयार किया था।

प्रांत से बाहर होने पर भी इधर की जनता तथा उसकी भाषा के लिये भी भोजपुरी शब्द ही प्रचलित हो चला।

यह एक विशेष बात है कि भोजपुर के चारों ओर की ढाई करोड़ से अधिक जनता की बोली का नाम भोजपुरी हो गया। प्राचीन काल में भोजपुरी का यह क्षेत्र, 'काशी', 'मल्ल' तथा 'पश्चिमी मगध' एवं 'झारखंड' (वर्तमान छोटानागपुर) के अंतर्गत था। मुगलों के राजत्वकाल में जब भोजपुर के राजपूतों ने अपनी वीरता तथा सामरिक शक्ति का विशेष परिचय दिया तब एक ओर जहाँ भोजपुरी शब्द जनता तथा भाषा दोनों का वाचक बनकर गौरव का द्योतन करने लगा, वहाँ दूसरी ओर वह एक भाषा के नाम पर प्राचीन काल के तीन प्रांतों को एक प्रांत में गूँथने में भी समर्थ हुआ।

इस प्रकार सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में मागधी भाषा के इस रूप के बोलनेवाले भोजपुरी कहलाए। भोजपुरी स्वभावतः युद्धप्रिय होते हैं; अतएव मुगलसेना तथा उसके बाद १८५७ के भारतीय विद्रोह तक ब्रिटिश सेना में उनका बड़ा सम्मान रहा। बिहार में प्रचलित निम्नलिखित पद में भोजपुरियों के युद्धप्रिय स्वभाव की चर्चा है। इस पद में 'भोजपुरिया' शब्द से भोजपुरी लोगों से तात्पर्य है। पद इस प्रकार है—

भागलपुर[1] के भगोलिया,
कहलगाँव[2] के ठग;
पटना[3] के देवालिया,
तीनू नाम जद;
सुनि पावे भोजपुरिया,
त तीनू के तुरे रग[4]।

ग्रियर्सनकृत बिहारी भाषाओं तथा उपभाषाओं के सप्तव्याकरण भाग १ (ग्रियर्सन—सेवेन ग्रामर्स ऑव द डाइलेक्ट्स् एंड सबडाइलेक्ट्स् ऑव बिहारी लैंग्वेज, पार्ट वन) के मुखपृष्ठ पर एक पद उद्धृत है जिसमें 'भोजपुरिया' शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में हुआ है। पद इस प्रकार है—

कस कस कसमर किना मगहिया,
का भोजपुरिया की तिरहुतिया।

'क्या' सर्वनाम के लिये 'कसमर' [सारन जिले के एक स्थान] में "कस", 'मगही' में "किना", 'भोजपुरी' में "का", तथा 'तिरहुतिया' [मैथिली] में "की" होता है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुगल शासन के अंतिम काल से 'भोजपुरी' अथवा 'भोजपुरिया' शब्द जनता तथा भाषावाची बन चुका था। भाषा के अर्थ में लिखित रूप में इसका सर्व-प्रथम उल्लेख सन् १७८९ में मिलता है। सर जार्ज ग्रियर्सन

१, २, ३—बिहार के नगर। ४—तीनों की नसें तोड़ दे।

ने अपने लिंग्विस्टिक सर्वे के प्रथम भाग के पूरक अंश पृ० २२ में यह उद्धरण दिया है। यह इस प्रकार है—१७८९—"दो दिन बाद, सिपाहियों का एक रेजिमेंट जब दिन निकलने पर शहर से होता हुआ चुनारगढ़ की ओर जा रहा था, तो मैं गया और उसे जाते हुए देखने के लिये खड़ा हो गया। इतने में रेजिमेंट के सिपाही रुके और उनके बीच के कुछ लोग अँधेरी गली की ओर दौड़ पड़े। उन्होंने एक मुर्गी पकड़ ली और कुछ मूली-गाजर भी उठा लाए। लोग चीख उठे। तब एक सिपाही ने अपनी भोजपुरिया बोली में कहा—इतना अधिक शोर मत करो। आज हम लोग फिरंगियों के साथ जा रहे हैं किंतु हम सभी चेतसिंह की प्रजा हैं और कल उनके साथ भी आ सकते हैं। तब मूली-गाजर का ही प्रश्न न होगा बल्कि तुम्हारी बहू-बेटियों का होगा"।[1]

इसके पश्चात् निश्चित रूप से भाषा के अर्थ में भोजपुरी शब्द का प्रयोग, सन् १८६८ में जान बीम्स ने रायल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल, भाग ३, पृ० ४८५-५०८ में अपने "भोजपुरी बोली पर संक्षिप्त टिप्पणी" शीर्षक लेख में किया। वस्तुतः बीम्स ने प्रचलित अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग किया है। यह लेख प्रकाशित होने से एक वर्ष पूर्व [१७ फरवरी, सन् १८६७] एशियाटिक सोसाइटी में पढ़ा गया था।

भोजपुरी जनता तथा उनकी भाषा के अन्य नाम भी मिलते हैं। मुगलों के राजत्वकाल में दिल्ली तथा पश्चिम में, भोजपुरियों—विशेषतः भोजपुरी क्षेत्र के तिलंगों—को बक्सरिया कहा जाता था। १७ वीं तथा १८ वीं शताब्दी में भोजपुर तथा उसके पास में ही स्थित बक्सर, फौजी सिपाहियों की भर्ती के दो मुख्य केंद्र थे। १८ वीं शती में जब अंग्रेजों के हाथ में देश का शासन-सूत्र आया तो उन्होंने भी मुगलों की परंपरा जारी रखी और वे भी भोजपुर तथा बक्सर से तिलंगों की भर्ती करते रहे।[2]

सबसे अधिक भोजपुरी बंगाल में जाते हैं। वहाँ इन्हें बंगाली लोग 'हिंदुस्थानी' अथवा 'पश्चिमा' तथा कभी कभी "देशवाली" अथवा 'खोट्टा' भी कहते हैं। 'खोट्टा' शब्द में तो स्पष्ट रूप से घृणा का भाव भी आ जाता है। अधिकांश भोजपुरी बंगाल तथा उसके मुख्य

१—1789. 'Two days after, as a regiment of sepoys on its way to Chunar-Garh, was marching through the city at day break, I went out, and was standing to see it pass by, the regiment halted; and a few men from the centre ran into a dark lane, and laid hold of a hen and some roots; the people screamed.' Do not make so much noise,' said one of the men in his Bodjpooria idiom; 'We go today with the Frenghees, but we are all servants (tenants) to Cheyt Singh, and may come back tomorrow with him; and then the question will be not about your roots bnt about your wives and daughters.'

—रेमंडकृत 'शेर मुताखरीन का अनुवाद, द्वितीय संस्करण, अनुवादक की भूमिका पृ० ८

२—विलियम इरविंग कृत दि आर्मी ऑव दि इंडियन मुगल, लंदन, १९०३, पृ० १६८-१६९

नगर कलकत्ते में दरबानी अथवा छोटा-मोटा काम करके ही जीविकोपार्जन करते हैं। इसी कारण इनके लिये 'खोट्टा' शब्द का प्रयोग किया होगा। वस्तुतः बंगाली तथा भोजपुरी, दोनों इससे अनभिज्ञ हैं कि उनकी भाषाएँ एक ही मागधी भाषा से प्रसूत हुई हैं। शिक्षित बंगाली भी इस तथ्य से अपरिचित ही हैं और वे भोजपुरी को हिंदी अथवा हिंदुस्थानी के अंतर्गत ही मानते हैं।

'देशवाली' के संबंध में यह उल्लेखनीय बात है कि जब कलकत्ता अथवा बंगाल में एक भोजपुरी दूसरे भोजपुरी से मिलता है तो उसे देशवाली अथवा मुल्की भाई कहकर संबोधित करता है तथा अपनी बोली को भी देशवाली कहता है; किंतु देशवाली तथा मुल्की शब्दों की व्याप्ति के विषय में भी यह स्मरण रखना चाहिए कि ये सापेक्षिक शब्द हैं और कभी कभी एक पश्चिमी हिंदी भाषा-भाषी भी एक दूसरे पश्चिमी हिंदी भाषा-भाषी को देशवाली अथवा मुल्की और उसकी भाषा को देशवाली कहता है।

उत्तरी भारत में भोजपुरियों को 'पुर्बिया' और उनकी बोली को 'पूर्वी बोली' कहते हैं। 'पूरुब' और 'पूर्बिया' के संबंध में हाब्सन-जाब्सन[1] पृ० ७२४ में निम्नलिखित विवरण उपलब्ध है—

'उत्तरी भारत में 'पूरुब' से 'अवध' बनारस तथा बिहार प्रांत से तात्पर्य है; अतएव 'पूर्बिया' इन्हीं प्रांतों के निवासियों को कहते हैं। बंगाल की पुरानी फौज के सिपाहियों के लिये भी इस शब्द का प्रयोग होता था क्योंकि उनमें से अधिकांश इन्हीं प्रांतों के निवासी थे'।

ऊपर के उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'पुर्बिया' तथा 'पुर्बी' के अंतर्गत कोसली (अवधी) भी आ जाती है। वस्तुतः 'पुर्बिया' शब्द की व्याप्ति भी अनिश्चित तथा सापेक्षिक है। यह ब्राह्मण-ग्रंथों में प्रयुक्त 'प्राच्य' अथवा ग्रीक "प्रसिओई" का आधुनिक रूप है जिससे 'मध्यदेश' के पूरब के निवासियों से तात्पर्य है। आज भी कोसल (अवध) के लोग बिहार के निवासियों को 'पुर्बिया' कहते हैं, यद्यपि नागरी हिंदी (खड़ी बोली) तथा व्रजभाषा-भाषी उन्हें ही 'पुर्बिया' कहते हैं।

भोजपुरी के अंतर्गत स्थान-भेद से बोलियों का नाम भी पड़ गया है, जैसे छपरे जिले की भोजपुरी को 'छपरहिया' तथा बनारस की भोजपुरी को 'बनारसी' बोली कहते हैं। इसी प्रकार बलिया के पश्चिमी तथा आजमगढ़ के पूर्वी क्षेत्र की बोली बँगरही कहलाती है। इधर बाँगर से उस क्षेत्र से तात्पर्य है जहाँ गंगा की बाढ़ नहीं जाती।

श्री राहुल सांकृत्यायन ने बलिया जिले के तेरहवें वार्षिकोत्सव के अपने अभिभाषण में भोजपुरी भाषा के स्थान पर "मल्ली" नाम का प्रयोग किया है। 'मल्ल-

[1]—हेनरी यूल तथा ए० सी० बर्नेल कृत कोष जिसमें ऐंग्लो-इंडियन लोगों में प्रचलित शब्दों तथा वाक्यों आदि की तालिका है।

जनपद' बुद्ध के समय के सोलह महाजनपदों में से एक था। इसकी ठीक सीमा क्या थी यह आज निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता। जैन कल्पसूत्रों में नव मल्लों की चर्चा है किंतु बौद्ध ग्रंथों में केवल तीन स्थानों—'कुशिनारा', 'पावा' तथा 'अनूपिया'—के मल्लों का उल्लेख है। इनके कई प्रसिद्ध नगरों के भी नाम मिलते हैं, जैसे 'भोजनगर', 'अनूपिया' तथा 'उरुबेल कप्प।' 'कुशिनारा' तथा 'पावा' विद्वानों के अनुसार युक्तप्रांत के गोरखपुर जिले में स्थित वर्तमान 'कसया' तथा 'पडरौना' ही हैं। इस संबंध में एक और बात विचारणीय है। 'मल्ल' की ही भाँति 'काशी' का उल्लेख भी प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। काशी में भी भोजपुरी ही बोली जाती है। अतएव मल्ल के साथ-साथ काशी का होना भी आवश्यक है। राहुल जी ने इस क्षेत्र की भोजपुरी का 'काशिका' नाम दिया है, किंतु भोजपुरी को ऐसे छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त करना अनावश्यक तथा अनुपयुक्त है। आज भोजपुरी एक विस्तृत क्षेत्र की भाषा है, यही कारण है कि प्राचीन जनपदीय नामों को पुनः प्रचलित करने की अपेक्षा इसी का प्रयोग वांछनीय है। इस नाम के साथ साथ भी कम से कम तीन सौ वर्षों की परंपरा है।[1]

---

[1]—लेखक की थीसिस 'भोजपुरी की उत्पत्ति तथा विकास' की भूमिका, पृ० १-१० से

आचार्य वसुबंधु का बोधिचित्तोत्पाद शास्त्र

[श्री भदंत शांतिभिक्षु]

उपनिषद् के तत्त्वज्ञानियों की परंपरा में जो स्थान ब्रह्म का है, हीनयानी बौद्धों में जो स्थान निर्वाण का है, पौराणिकों में जो स्थान भक्ति का तथा तांत्रिकों में जो स्थान शक्ति का है, ठीक वही स्थान महायानी बौद्धों में बोधिचित्त का है। इन सब वादों का मूल बीज बहुत पुराने युग का है। पर विकसित बोधिचित्तवाद के पूर्ववर्ती ब्रह्मवाद और निर्वाणवाद हैं। भक्तिवाद और बोधिचित्तवाद का विकास बहुत कुछ साथ-साथ हुआ है। इनमें भक्तिवाद की परंपरा एक दीर्घ काल तक चलती रही और आज भी भक्तों के विविध संप्रदायों में किसी न किसी रूप में विद्यमान है। पर बोधिचित्त की साधना बौद्ध सिद्धों के युग (८००–११७५ ई०) में तांत्रिक साधना में घुलमिल गई और बौद्ध धर्म के भारत से लुप्त होने के साथ लुप्त भी हो गई। बौद्धों की तांत्रिक साधना और हिंदू संप्रदाय की शक्ति-साधना परस्पर समान सी हैं, तथा उनका विकास प्रायः साथ-साथ हुआ है और दोनों पर एक दूसरे का प्रभाव भी पड़ा है। ब्रह्मवाद और निर्वाणवाद को पूर्वपक्ष बना कर बोधिचित्तवाद विकसित हुआ है। जो बौद्ध है वह ब्रह्मवाद की नित्य दृष्टि से तो अवश्य दूर भागता है पर निर्वाण या मोक्ष के प्रति उसका झुकाव बना रहता है, भले ही वह जिस निर्वाण की कल्पना करता है वह उपनिषदों की कल्पना से सर्वथा भिन्न हो। पर वह साधक जिसमें बोधिचित्त उत्पन्न हो चुका है, निर्वाण भी नहीं चाहता। निर्वाण या मोक्ष उसके लिये नीरस है।[1] बोधिचित्त को केंद्र बनाकर ही महायान मार्ग पर चलनेवाले साधक की चर्या का आरंभ और विकास होता है। इस दृष्टि से महायान साधना में बोधिचित्त का अद्वितीय महत्त्व है। पर विशेष रूप से बोधिचित्त को लेकर लिखे गए ग्रंथ मूल संस्कृत में लुप्त हो चुके हैं। हाँ, कितने ही प्रकरण-ग्रंथ चीनी और तिब्बती त्रिपिटकों में अवश्य पाए जाते हैं; फलतः उनके भीतर क्या है, यह तो अब तक अज्ञात है और उस ज्ञान तक पहुँचने के लिये अभी दीर्घ समय और श्रम की अपेक्षा है। चीनी त्रिपिटक में बोधिचित्त को लक्ष्य करके एक बहुत पुराना प्रकरण-ग्रंथ है। इसका नाम है—फा-फु-थि-शिङ्-चिन्-लुङ् (बोधिचित्तोत्पादसूत्र शास्त्र) और इसके मूल लेखक हैं आचार्य वसुबंधु (२८०–३६० ई०)[2] तथा अनुवादक हैं भारतीय पंडित कुमारजीव

१—मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्य सागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्॥ (बोधिचर्यावतार)

२—फोरवर्ड टु तत्त्वसंग्रह (गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, जि० ६६), विनयतोष भट्टाचार्य लिखित।

(३८४-४१७)।[१] लेखक और अनुवादक के बीच लगभग एक शती का अंतर है। यह समय इतना अधिक नहीं है कि ग्रंथ के प्रचार के साथ-साथ उसमें प्रक्षेपों की आशंका की जाय। इसलिये यह ग्रंथ, जहाँ तक संभावना है, बहुत कुछ अपने परिशुद्ध रूप में कुमारजीव के हाथ लगा होगा।

कुमारजीव का अनुवाद प्रायः तात्पर्यानुवाद हुआ करता है। इसलिये वह मूल के उतना निकट नहीं होता जितना कि शुआन्-चुआङ् का अनुवाद हुआ करता है। फिर भी कुमारजीव के अनुवाद में अपनी विशेषताएँ बनी रहती हैं। उनकी भाषा में सरलता के साथ एक ऐसा लालित्य रहता है कि गद्य में भी पद्य के आनंद का अनुभव होता है। इसके अतिरिक्त मूल का अभिप्राय विकृत नहीं होने पाता। ये दोनों विशेषताएँ जहाँ चीनी अनुवाद को सरस और हृदयंगम बना देती हैं, वहाँ यदि उसके मूल का फिर से उद्धार करना अपेक्षित हो तो अनेक कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं। ऐसे किसी ग्रंथ को लेकर जिसका मूल संस्कृत और कुमारजीव का अनुवाद दोनों उपलब्ध हों, यदि हम परस्पर की एक आपाततः तुलना करें तो यह बात स्पष्ट जान पड़ने लगती है कि अनुवाद के सहारे मूल का उद्धार संभव नहीं। हाँ, मूल का अभिप्राय अवश्य जाना जा सकता है। यहाँ वज्रच्छेदिका से लेकर कुछ उदाहरणों पर निगाह डाल लेना ठीक रहेगा। 'निवास्य पात्रचीवरमादाय' का कुमारजीव ने अनुवाद किया है—चुओ-इ, छा पुओ। इस अनुवाद के सहारे यदि फिर प्रत्युनुवाद करें तो होगा—'निवास्य चीवरं, पात्रमादाय'। पर यह दुबारा उद्धार किया हुआ वाक्यांश अपने मूल के वाक्यांश से कितनी ही बातों में भिन्न है। मूल में 'निवास्य' एक पृथक् वाक्यांश है, तथा 'पात्रचीवरमादाय' एक पृथक् वाक्यांश है। बौद्ध साधुओं के पहनने के तीन चीवर होते हैं—अंतरवासक, उत्तरासंग और संघाटी। इनमें अंतरवासक नीचे के शरीर में पहनने का वस्त्र है। उत्तरासंग ऊपर के शरीर पर धारण करने की एक विशेष प्रकार की चादर है। संघाटी सामान्यतया न तो पहनी जाती है और न ओढ़ी। वह तो कंधे पर डाल ली जाती है। हाँ, रात को या दिन को लेटते समय सर्दी लगने पर वह ओढ़ी भी जा सकती है। तीन चीवरों की इस व्यवस्था पर ध्यान दें तो 'निवास्य' का अभिप्राय कदाचित् अंतरवासक और उत्तरासंग को पहनना भर था। यहाँ यह बात भी ध्यान देने की है कि प्रेरणार्थक नि+वस् धातु का प्रयोग मुख्यतया अधोवस्त्र धारण करने के लिये होता था। ऊर्ध्ववस्त्र धारण करने में यदि उसका प्रयोग हो तो उसे औपचारिक मानना होगा, क्योंकि उत्तरीय धारण करने के लिये प्रा+वृ का प्रयोग देखा जाता है (देखिए 'प्रावरित्वा'—महावस्तु, जि० ३, पृ० २५५, पंक्ति १५)। फलतः नि+वस् धातु का अभिप्राय मुख्य रूप से अंतरवासक पहन लेना ही था। आज भी 'धोतर नेसणें' जैसा मराठी का प्रयोग[२] स्पष्ट बतलाता है नि+वस् धातु अधोवस्त्र पहनने में ही व्यवहृत होती थी। हाँ, गौणरूप से उत्तरासंग धारण करने में भी उसका

१—नंजोज कैटलॉग नं० १२१८ एंड अपेंडिक्स २, नं० ५९

२—मराठी भाषा के इस प्रयोग की सूचना के लिये मैं डा० पी० वी० बापट का अत्यंत अनुगृहीत हूँ।

प्रयोग होता होगा। इसका अनुमान हमें इस बात से करना पड़ता है कि हम देखते हैं कि उत्तरासंग धारण करने में मुख्य रूप से प्रयोगार्ह प्रा+वृ धातु का प्रयोग विरल है। भिक्षु विनय के अनुसार उघाड़े शरीर तो बाहर जा नहीं सकते, सो उत्तरासंग तो वे धारण करते ही होंगे। पर उसका पृथक् उल्लेख न करने से यह स्पष्ट है कि नि+वस् से अंतरवासक और उत्तरासंग दोनों का धारण करना समझ लिया जाता होगा। पर भिक्षु अपने तीनों चीवरों में से किसी को छोड़ कर बाहर कहीं नहीं जा सकता। फलतः जब वह भिक्षा के लिये जाता है तो पात्र के साथ तीसरा चीवर भी कंधे पर डाल लेता है। इसी बात को लक्ष्य में रखकर मूल में 'पात्र चीवरमादाय' कहा गया है। पर जो भारतीय भिक्षुओं के पहरावे को ठीक न जानता हो, यह अर्थ शायद ही समझ सके। कदाचित् यही ख्याल करके कि चीनी पाठक बेकार की गड़बड़ में न पड़ें, कुमारजीव ने मूल वाक्य को थोड़ा मरोड़ कर— निवास्य चीवरं, पात्रमादाय' बनाकर चीनी में उसका अनुवाद कर डाला। पर कुमारजीव ने सदा चीनी पाठकों को ध्यान में रखकर मूल में हेरफेर किया हो सो बात नहीं। प्रायः भाषा-सौष्ठव एवं पद्यगंधी भाषा के फेर में पड़कर उन्होंने मूल को कुछ हेरफेर के साथ भाषांतरित किया है। जैसे 'प्रत्यश्रौषीत्' का उन्होंने अनुवाद किया है—युवान्-लो-यू-उञान्। यहाँ चार चार अक्षरों का पद्यगंधी वाक्प्रवाह बना रहे—उसमें कोई कमी न आने पाए—सिर्फ इसी लिये एक क्रियापद का चार क्रियापदों से अनुवाद किया है। इसी अनुवाद का यदि संस्कृत में परिवर्तन करें तो 'कामये, रोचयेऽभिलषामिश्रोतुं' अथवा 'अभिलषेण इच्छया चेच्छामि श्रोतुं' अथवा इसी के समकक्ष कुछ और होगा। पर जो भी अनुवाद किया जाय, 'प्रत्यश्रौषीत्' का भाव उसमें नहीं आता। इस तरह चीनी अनुवादक ने अनुवाद करने में जो स्वच्छंदता का अवलंबन किया है, उसके कारण प्रत्यनुवाद में मूल के शब्द तक पहुँचना बहुत कठिन काम है। फिर पुराने संस्कृत शब्दों के स्थान पर जो प्रतिशब्द चीनी भाषा में रक्खे गए हैं, उनका कोई ऐसा पूर्ण संग्रह भी नहीं है जो प्रत्यनुवाद में सौंदर्य उत्पन्न करे। चीनी प्रतिशब्द को देखकर संस्कृत प्रतिशब्द खोज लेना काफी जटिल कार्य है। कुमारजीव ने 'निष्पादयति' के लिये चीनी प्रतिशब्द दिया है—चुआङ्-इन्। पर चुआङ् इन् को देख कर 'निष्पादयति' कभी भी बुद्धि में नहीं फुरता, प्रत्युत 'अलंकरोति' 'विभूषयति' आदि पद फुरते हैं। जान पड़ता है 'निष्पादयति' को पहले 'अलंकरोति' समझा गया पर 'अलंकरोति' का अर्थ उसके अक्षरानुसार 'अलं=पूर्णं करोति' ही समझा गया। बाद में गौणरूप से उसका निरूढ़ अर्थ 'विभूषयति' भी समझ लिया गया। फिर उसका अनुवाद किया गया जिससे व्युत्पन्न अर्थ निरूढ़ अर्थ के साथ भाषा में न आ पाया। फलतः अनुवाद में दिया पद जितना निरूढ़ लाक्षणिक अर्थ को व्यक्त कर पाता है उतना व्युत्पन्नार्थ को नहीं। इस कारण चुआङ्-इन् को देखकर विभूषयति या अलंकरोति पद तो ध्यान में आते हैं पर 'निष्पादयति' (=फलति, पूरयति, पूर्णं करोति) जैसे पद ध्यान में नहीं आते। इन सब कारणों से कुमारजीव की चीनी भाषा से मूल तक पहुँचना बहुत कठिन है। मूल का अभिप्राय निश्चय ही उनकी भाषा में बना रहता है (वह कभी कभी ही गोल-मोल होता है) अतः उसके प्रत्यनुवाद में मूल की भाषा तक नहीं, मूल के अभिप्राय तक ही पहुँचा जा सकता है।

मूलग्रंथ बोधिचित्तोत्पाद वसुबंधु की रचना है। शास्त्रीय विषय को स्पष्ट और रूप में व्यक्त करना वसुबंधु खूब जानते हैं। जिन्होंने विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि और अभि कोश को देखा है उन्हें इस बात में संदेह नहीं हो सकता। वसुबंधु के समय शास्त्रीय वि का संग्रह और प्रतिपादन कारिकाओं में होता था। कारिकाओं द्वारा संक्षेप से विषय विनिबद्ध करने की प्रणाली का आरंभ नागार्जुन से ही प्रधानतया दिखाई पड़ता है। का काओं की रचना यतः सूत्रों के समान ही परिमित शब्दों में होती है अतः उनपर और भाष्य लिखने की अपेक्षा रहा करती है। वसुबंधु के दोनों (विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि अभिधर्मकोश) शास्त्रीय ग्रंथ कारिकाओं में हैं तथा उनपर वृत्ति और भाष्य हुए हैं। उनका ग्रंथ बोधिचित्तोत्पाद कारिकाओं में नहीं है। संपूर्ण ग्रंथ गद्य में है और महायान ग्रंथों के सरल गद्य के ढाँचे में लिखा गया है। कदाचित् इसीलिये इसे चीनी अनुवा फा-फु-धि-शिङ्-चिन्-लुङ् (= बोधिचित्तोत्पादसूत्र शास्त्र) कहा गया है। विषय-प्रति की दृष्टि से यह शास्त्र होते हुए भी अपने सूत्रच्छायापन्न सरल भाषा-प्रवाह के कारण सूत्र है। बहुत संभव है कि इसकी कितनी ही सामग्री सूत्रों से बिना उनका उल्लेख ज्यों की त्यों ले ली गई हो, और इसीलिये इसे सूत्र की ख्याति मिली हो। पर यह तब तक दावे के साथ नहीं कही जा सकती जबतक इसका सूत्रों के साथ तुलनात्मक अ न कर लिया जाय। इस शास्त्र में बारह वर्ग (या प्रकरण) हैं। प्रथम से तृतीय वर्ग त भाग वस्तुतः ग्रंथ की अवतरणिका है। प्रथम में अध्येषणा—बोधिचित्तोत्पाद के माह को बतलाकर बोधिचित्त उत्पन्न करने की प्रेरणा—है। दूसरे वर्ग का नाम बोधिचित्तो है, जिसमें बोधिचित्तोत्पाद में सहायक साधनों का निर्देश है। तीसरा वर्ग 'प्रणिधान' क लाता है जिसमें बोधि की प्राप्ति में सहायक प्रणिधानों—संकल्पों का वर्णन है। अंतिम (हवाँ) वर्ग ग्रंथ का उपसंहार है जिसमें ग्रंथपाठ से होने वाले पुण्य का वर्णन है। से नवम वर्गों तक क्रम से १—दान, २—शील, ३—शांति, ४—वीर्य, ५—ध्यान और प्रज्ञा पारमिताओं का वर्णन है। इनके बाद दसवें और ग्यारहवें वर्गों में शून्यवा प्रतिपादन है। ग्यारहवाँ वर्ग तो समूचा का समूचा कोई सूत्र ही जान पड़ता है, उसका आरंभ ठीक सूत्रशैली में "एकस्मिन् समये भगवान् विहरतिस्म वेणुवने क निवाये" वाक्य से हुआ है। प्रथम वर्ग और अंतिम (द्वादश) वर्ग भी सू ही जान पड़ते हैं। इन वर्गों के कितने ही वाक्यों और वाक्यांशों को पढ़ते दूसरे सूत्रों के समकक्ष वाक्य एवं वाक्यांश ध्यान में आए बिना नहीं रहते। उदाहरण यों हैं—

बोधिचित्तोत्पादसूत्र शास्त्र	अन्य ग्रंथ
एवं विधं भाषितं श्रुत्वा नोत्त्रसिष्यंति न संत्रसिष्यंति न संत्रासमापत्स्यंते न विलयं गमिष्यंति। [१।९]	नोत्त्रसिष्यंति न संत्रसिष्यंति न संत्रा पत्स्यंते। [वज्रच्छेदिका, अनुच्छेद १४] अहं भगवन् अत्रस्थाने नोत्त्रसिष्या संत्रसिष्यामि, न संत्रासमापत्स्ये। [अष्ट सिका, पृष्ठ ३६५]

बोधिचित्तोत्पादसूत्र शास्त्र	अन्य ग्रंथ
गंगानदी बालुका समा० [१।८]	गंगानदी बालुका समान् [वज्रच्छेदिका अनुच्छेद १५]
एकैकस्यां संति सहस्रकोटि गंगानदीवालुका-समा असंख्येया बुद्ध लोक धातवः। अखिलास्ते चूर्णिता रजांसि भवेयुः। [१ ८] (अत्र बहुत्वे रजसामुपमा)	त्रिसाहस्रे महासाहस्रे लोकधातौ पृथिवी-रजः कच्चिद् तद्बहु भवेत्। [वज्रच्छेदिका, अनुच्छेद १३] (अत्रापि बहुत्वे रजसामुपमा)।
अनुत्तराया बोधेर्न प्रतिनिवर्तते। [१२।२]	विवर्तते अनुत्तरायाः सम्यक्संबोधेरिति नैतत्स्थानं विद्यते। [सद्धर्म पुंडरीक, पृष्ठ ३३३]
यस्मिन् देशे धर्मशास्ता देशयतीदं सूत्रं तस्मिन् प्रदेशे स्तूपः कारयितव्यः। [१२।३]	यत्र पृथिवी प्रदेशे इदं सूत्रं प्रकाशयिष्यतेचैत्यभूतः स पृथिवी प्रदेशो भविष्यति। [वज्रच्छेदिका, अनुच्छेद १५]
कुलपुत्राः कुलदुहितरश्चेत् सूत्रमिदं श्रुत्वा· रोचयति अनुमादयन्त्याश्चार्यं चित्तमुत्पादयंति ज्ञातव्यं तैः पूजिता अप्रमेया बुद्धाः। [१२।३]	इमं धर्मपर्यायं श्रुत्वानुमोदविष्यंति····· कृता मे तेन शरीरेषु शरीरपूजा। [सद्धर्म पुंडरीक, पृष्ठ ३३८]

इन तथा इसी तरह के दूसरे वाक्यों से स्पष्ट है कि बोधिचित्तोत्पाद के समूचे के समूचे की अथवा बहुत से अंश की रचना सूत्रच्छायापन्न भाषा में हुई है, और कदाचित् इसी लिये इसे सूत्र कहा गया है। पर इसे शास्त्र क्यों कहा गया? सूत्रों में विषय का प्रतिपादन क्रम और पद्धति के साथ नहीं होता, प्रत्युत विषय इस तरह विप्रकीर्ण होता है कि उसे समूचा का समूचा बटोरना ही कठिन हो जाता है। पर शास्त्र में यह बात नहीं होती। विषय का निर्देश या उद्देश ठीक ठीक ढंग से होता है विषय का विभाग उद्देश के क्रम से किया जाता है। फिर यदि ऊहापोह और परीक्षा की अपेक्षा होती है तो उन्हें भी उचित स्थान दिया जाता है। इस तरह विषय को एक पद्धति और क्रम के साथ समझना सरल रहता है। यह सब गुण प्रायः इस बोधिचित्तोत्पादसूत्र शास्त्र में पाए जाते हैं। इसलिये जहाँ भाषा के आकार-प्रकार को देखते हुए यह सूत्र है वहाँ विषय प्रतिपादन की दृष्टि से यह शास्त्र है। और इसी लिये इसे सूत्र और शास्त्र दोनों ही कहा गया है।

इस शास्त्र के बारह वर्गों को पढ़कर कुछ न कुछ जिज्ञासा बनी ही रह जाती है। यह ग्रंथ बोधिचित्तोत्पाद के निरूपण में लिखा गया है। फलतः बोधि क्या है? बोधि के लिये चित्त क्यों और कैसे उत्पन्न करें? बोधि कैसे प्राप्त हो सकेगी? ये तीन प्रश्न पाठक के सामने सहज ही उपस्थित होते हैं। इन तीनों प्रश्नों में से, बोधि के लिये चित्त क्यों और कैसे उत्पन्न करें? इस प्रश्न का बहुत कुछ उत्तर मिल जाता है। बोधि कैसे प्राप्त होगी? इस प्रश्न का भी बहुत कुछ समाधान हो जाता है। पर बोधि क्या है, इसका साफ साफ पता आदि से अंत तक नहीं चल पाता। ऐसा क्यों हुआ? आचार्य की अकुशलता तो इसमें कारण नहीं है, क्योंकि कोश में उन्होंने बोधि का लक्षण किया है। पर यहाँ बोधि का लक्षण किए

बिना ही उन्होंने क्यों बोधिचित्त से होने वाले फल का वर्णन किया है ? क्यों बोधिचित्त के उपाय को बतलाया है ? जान पड़ता है कि महायानियों की बोधि की परिभाषा उतनी सरल न थी कि आचार्य उसे 'इदमित्थं' रूप से बतला देते। जैसा कि मैंने आरंभ में ही निर्देश किया है, 'बोधिचित्त' का महायानियों में वही स्थान है जो महायानेतर संप्रदायों में ब्रह्म, निर्वाण, भक्ति, एवं शक्ति का है। जिस प्रकार ब्रह्म आदि का लक्षण 'इदमित्थं' रूप से करना सहज नहीं है, ठीक उसी तरह बोधि का भी लक्षण करना सहज नहीं है। इसलिये आचार्य ने अनुमान की शैली द्वारा 'बोधिचित्त' को समझाने का प्रयत्न किया है। यह शैली ठीक बादरायण के ब्रह्म-लक्षण करने की शैली के समान है। ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए पर ब्रह्म क्या है ? इसपर बादरायण कहते हैं कि इस विश्व का जन्म आदि जिससे होता है वह ब्रह्म है [ब्रह्मसूत्र १।१।१,२]। इस लक्षण से ब्रह्म का हमें पता नहीं चलता। हाँ, हम इतना अवश्य जान लेते हैं कि यह विश्व जिसके कारण है वह ब्रह्म है। आचार्य वसुबंधु ने भी यही ढंग अपनाया है। बोधिचित्त क्या है, इसे उपमा और अनुमान द्वारा वे समझाते हैं—"महासमुद्र जब आदि में आविर्भूत होता है तब जान लेना चाहिए कि वह अधम, मध्यम, उत्तम मूल्यवाली एवं अमूल्य चिंतामणि, रत्न, और मुक्ताओं का आकर होता है, क्योंकि इन रत्नों की उत्पत्ति समुद्र से होती है। बोधिसत्त्व के चित्तोत्पाद भी ऐसे ही होते हैं। जब आदि में बोधिचित्त उत्पन्न होता है तब जान लेना चाहिए कि वह देव, मनुष्य, श्रावक, प्रत्येक बुद्ध, बोधिसत्त्व, सब कुशल धर्म, ध्यान, और प्रज्ञा की उत्पत्ति का आकर होता है [१।५]। यहाँ स्पष्ट है कि आचार्य बोधि का 'इदमित्थं' लक्षण न कर अनुमान द्वारा उसकी ओर संकेत भर करा देना चाहते हैं कि विश्व में जो कुछ शुभ या कुशल है वह जिससे उत्पन्न होता है वह बोधिचित्त है। फलतः बोधि एक ऐसा आकर्षक केंद्र हुआ कि जहाँ हमारा चित्त उस ओर झुका—जहाँ हममें उसके प्रति भावना उत्पन्न हुई, सभी प्रकार के कुशल धर्म उत्पन्न होने लगते हैं। आचार्य ने और भी इसी तरह के एक-आध अनुमानों और दृष्टांतों में बोधिचित्त की ओर संकेत किया है। इन सब अनुमानों और दृष्टांतों से यह तो जान पड़ता है कि बोधि, जिसको लक्ष्य करके बोधिचित्त उत्पन्न होता है, कुछ है तो अवश्य, पर वह क्या है ? कैसी है ? यह आकांक्षा बनी रहती है। आचार्य ने 'इदमित्थं' रूप से लक्षण करके क्यों उस आकांक्षा को निवृत्त नहीं किया ? वस्तुतः बौद्धों के लिये बोधि का 'इदमित्थं' रूप से लक्षण करना उतना ही कठिन है जितना कि वेदांतियों के लिये ब्रह्म का। ब्रह्म का लक्षण 'सच्चिदानंद स्वरूप' वेदांत संप्रदाय में मान्य है। पर यह लक्षण भी भावात्मक नहीं है। व्याख्याकारों ने इसकी व्याख्या अभावपरक ही की है। 'सत्' 'नास्तित्व' का अभाव है, 'चित्' जड़त्व का अभाव है, 'आनंद' दुःख का अभाव है। ब्रह्म का यह लक्षण अभावात्मक विशेषणों द्वारा केवल ब्रह्म की ओर संकेत करता है। पर वह संकेत स्वयं अधूरा है और इसीलिये अंततोगत्वा 'नेति नेति' के द्वारा ब्रह्म की ओर संकेत करते हुए हमारे ब्रह्मविद् अपने अनुमानों के अधूरेपन को छिपाते नहीं, प्रत्युत और भी ढोल पीट पीट कर कहने लगते हैं कि हम उसे बतलाने में असमर्थ हैं। महायान ग्रंथों में भी यही बात है। बोधि का अभावात्मक विशेषणों द्वारा संकेत है—"सुभूति, क्या मानते हो, है कोई वह धर्म जिसे तथागत

ने दीपंकर तथागत के पास से अनुत्तर सम्यक् संबोधि करके बूझा हो ?" ऐसा कहने पर आयुष्मान् सुभूति ने भगवान् से यह कहा—भगवन्, जैसा मैं भगवान् के भाषण का अर्थ जानता हूँ, भगवन्, वह कोई धर्म नहीं है जिसे तथागत ने अर्हत्, सम्यक् संबुद्ध दीपंकर तथागत के पास से अनुत्तर सम्यक् संबोधि करके बूझा हो। ऐसा कहने पर भगवान् ने आयुष्मान् सुभूति से कहा—ऐसा ही है सुभूति, ऐसा ही है। वह कोई धर्म नहीं है जिसे तथागत ने अर्हत् सम्यक् संबुद्ध दीपंकर तथागत के पास अनुत्तर सम्यक् संबोधि करके बूझा हो। सुभूति, यदि तथागत ने कोई धर्म बूझा होता तो दीपंकर तथागत मेरे ऊपर भविष्यवाणी न करते कि माणवक, तू अनागत काल में अर्हत् सम्यक् संबुद्ध शाक्यमुनि नामक तथागत होगा। यतः वह कोई धर्म नहीं है जिसे अर्हत् सम्यक् संबुद्ध तथागत ने अनुत्तर सम्यक् संबोधि करके बूझा हो, अतएव दीपंकर तथागत ने मेरे ऊपर भविष्यवाणी की कि माणवक, तू अनागत काल में अर्हत्, सम्यक्संबुद्ध शाक्यमुनि नामक तथागत होगा। वह किस हेतु ? 'तथागत' यह सूभूति, भूततथता (शून्यता) का अधिवचन (उत्कृष्ट नाम) है। 'तथागत' यह सुभूति, अनुपादधर्मता का अधिवचन है। 'तथागत' यह सूभूति, धर्मोच्छेद का अधिवचन है। वह किस हेतु ? यह सुभूति, अनुपाद है जो परमार्थ है। जो कोई सुभूति, ऐसा कहे कि अर्हत्, सम्यक्-संबुद्ध तथागत ने अनुत्तर सम्यक्-संबोधि बूझी, वह झूठ कहेगा, वह सुभूति, मुझे झूठी बात से बदनाम करेगा। वह किस हेतु ? वह कोई धर्म नहीं है जिसे तथागत ने अनुत्तर अनुत्तर सम्यक-संबोधि कर के बूझा हो। जो सुभूति, तथागत ने धर्म बूझा या बखाना उसमें न सत्य है न झूठ। इसलिये तथागत कहते हैं कि सब धर्म बुद्ध धर्म हैं। वह किस हेतु ? 'सब धर्मों' को सुभूति, तथागत ने न-धर्म कहा है। इसलिये सब धर्म बुद्ध धर्म कहे जाते हैं (वज्रच्छेदिका, अनुच्छेद १७)। बोधि के इन अभावपरक विशेषणों का ध्यान रखते हुए आचार्य ने कोश में बोधि-लक्षण किया है—'क्षयानुत्पादयो र्ज्ञानं बोधिः' (६।६७)। पर इस ग्रंथ में बोधि का लक्षण नहीं किया। ऐसा क्यों हुआ ? साधक बोधि के लिये श्रम करता है, बोधि के निमित्त अपने शरीर, अपने भोग-विलास, और अपने त्रैकालिक शुभ को निछावर करने के लिये तैयार रहता है; क्या वह यह सब ऐसी बोधि के लिये करता है जो अभाव रूपिणी है—जो नहीं के बराबर है ? कदाचित् नहीं। साधक को यदि पहले ही मालूम रहे कि उसकी बोधि 'खसम' है—'शून्य' है, 'नहीं के बराबर' है, तो कदाचित् ही उसकी प्रवृत्ति सर्वस्व-त्याग का आदर्श सिखाने वाली महायान साधना की ओर हो। जिस साधना के लिये कुलपुत्र घरबार का सुख छोड़कर कठिन जीवन बिताते हैं, अपने दुःख को तृणवत् समझ परदुःख को ही अपना दुःख मान निरंतर परोपकार में लगे रहते हैं, वह साधना निश्चय ही अप्रमेय गुणों वाली है, निश्चय ही उसका फल अभावरूपिणी बोधि नहीं है। इसलिये आचार्य बोधि का 'इदमित्थं' लक्षण न कर बोधिसाधना के, बोधिचित्त के, फलों का वर्णन करते हैं और साधक को उतने भर से प्रयोजन है। रोगी को यह जानने की इच्छा नहीं होती

कि ओषधि कैसे बनी है, और क्या है। उसे तो इतने से ही प्रयोजन होता है कि उसका रोग ओषधि से चला जाय। ठीक इसी तरह साधक को जगत् के दुःखरूपी रोग की ओषधि बोधि भर से प्रयोजन होता है। वह क्या है? और कैसी है? आदि बातें गौण है। यह सब ध्यान में रखकर आचार्य ने जो बोधि का लक्षण न कर उसका फलमुखेन निर्देश किया है वह निष्प्रयोजन नहीं है। बोधि का साक्षात् लक्षण न करके भी आचार्य ने उसकी ओर संकेत किया है—"पुरुष यदि प्राप्ति के लिये बोधिचित्त उत्पन्न करता है तो जानना चाहिए कि उस पुरुष का जरामरण नहीं छूटता। वह बोधि तक नहीं पहुँचता। वह किस हेतु? बोधिचित्त की प्राप्ति भी तो प्राप्तिदृष्टि है······आत्मदृष्टि है······जीवदृष्टि है······संक्षेप से कहें तो जो कुछ पाने की दृष्टि है वह आसंग है (आसक्ति) है। चित्त का आसंग ही तो मिथ्या दृष्टि है।"

"पुरुषः प्राप्तिहेतोरुत्पादयति चेद् बोधिचित्तं···ज्ञातव्यं न स पुरुषः प्रजहाति जरामरणं। न च गच्छति बोधिं। तत्कस्य हेतोः। बोधिचित्त प्राप्तिरप्यहित प्राप्तिदृष्टि······आत्मदृष्टिः······जीवदृष्टिः···संक्षेपत उच्यते यत्किंचित् प्राप्तव्य दृष्टिः सर्वमेष आसंगः चित्तासंग एवोच्यते मिथ्या दृष्टिः।" (११।३)

अस्तु। बोधिचित्त का कोई ऐसा लक्षण जिससे लोग उसे कुछ प्राप्तव्य वस्तु समझें अथवा सर्वथा उसे अभावरूप समझें, साधक के लिये उपादेय नहीं हो सकता। प्राप्तव्य वस्तु की ओर उसका राग होना सहज है। सर्वथा अभाव की ओर उसका झुकाव नहीं हो सकता। सो इन्हीं दोनों बातों को दृष्टि में रखकर कदाचित् आचार्य ने बोधि का 'इदमित्थं' रूप से लक्षण नहीं किया है।

बोधिचित्त क्यों और कैसे उत्पन्न करें? इस प्रश्न का उत्तर पहले, दूसरे, और तीसरे वर्गों में दिया गया है। जिस प्रकार यह (पृथिवी-) लोक सब प्रकार के जीवों को, उनको नेकी-बदी की ओर ध्यान दिए बिना, आश्रय देता है, बोधिचित्त भी उसी तरह सब जीवों को आश्रय देता है (१।६)। संसार में प्राणियों का कोई पार नहीं है; बोधिचित्त की उत्पत्ति का भी कोई पार नहीं है (१।७)। अपार प्राणियों को आश्रय देने के लिये अपार बोधिचित्त का उदय चाहिए ही। जिस प्रकार प्राणियों के भौतिक शरीर की रक्षा और विकास के लिये इस (पृथिवी-) लोक की अपेक्षा होती है, वैसे ही उनके सांस्कृतिक एवं मानसिक विकास के लिये इस लोक में बोधिचित्त का उत्पन्न होना भी अपेक्षित है। चूँकि बोधिचित्त का ध्येय अपार प्राणियों का हित करना है इसलिये जहाँ उसका उदय हुआ नहीं कि उससे अपार प्राणियों को अपने विकास के लिये प्रेरणा मिलती है। बोधिचित्त के इस आदर्श से यदि हम उपनिषदों के मोक्ष और स्थविरों के निर्वाण की तुलना करें तो स्पष्ट मालूम होता है कि मोक्ष या निर्वाण का आदर्श केवल अपने दुःख दूर करने का आदर्श है। इसलिये वह व्यक्तिगत स्वार्थ पूर्ति का आदर्श है, भले ही वह स्वार्थ ऐहिक न होकर पारलौकिक हो। पर-सेवा या पर-सुख के लिये जीवन लगा देने का वह आदर्श नहीं है। स्थविरों ने कहा भी है—

"अत्तदत्थं परत्थेन बहुनापि न हापये।

अत्तदत्तमभिञ्ञाय सदत्थपसुतो सिया॥" —(धम्मपद)

"दूसरे का स्वार्थ कितना ही अधिक क्यों न हो, अपना अर्थ न छोड़े। अपने अर्थ को जानकर अपने आपके अर्थ में लगा रहे।"

आत्मस्वार्थ के आगे परस्वार्थ की उपेक्षा करना तथा निर्वाण या मोक्ष जैसी वस्तु के लिये जीवन गँवाना बोधिसत्त्व का आदर्श नहीं है। उसका तो सर्वस्व परार्थ के लिये है और यदि परार्थ हो गया तो उसे संतोष हो जायगा कि उसका अपना ही अर्थ पूरा हो गया है। और इसी लिये बोधिचित्त उत्पन्न करते हुए प्रणिधान करता है—

"कामये यदहं सर्वसत्त्वेषु बोधिचित्तमुत्पाद्य, नित्यं परिपालयितुं (तान् सत्त्वान्), परिहरेयमात्मलाभं, प्रयच्छेयमप्रेयसुखानि, उत्सृजेयमात्मभावं धनानिचोद्धरेयं सत्त्वानुद्धरेयं सद्धर्मम्।" (३।२)

"कामना करता हूँ कि सब प्राणियों के निमित्त बोधिचित्त उत्पन्न कर, (उन प्राणियों का) नित्य पालन करने के लिये अपने लाभ को निछावर कर दूँ, (उन्हें) अपार सुख दूँ, अपने जीवन और धन का उत्सर्ग कर डालूँ। प्राणियों का उद्धार करूँ। सद्धर्म को धारण करूँ।"

बोधिचित्त कैसे उत्पन्न होता है? आरंभ आरंभ में उसकी उत्पत्ति के लिये कुछ कारण तो होने चाहिएँ? दूसरे वर्ग में ऐसे कारणों को जिनसे बोधिचित्त का आदि में उदय होता है, गिनाया गया है। यहाँ इतना और समझ लेना आवश्यक होगा कि महायान के अनुसार बोधिचित्तोत्पत्ति का अभिप्राय सुप्त बोधिचित्त का जागृत होना भर ही है। क्योंकि कुछ इनेगिने महापातकी पुरुषों को छोड़कर महायान के अनुसार बोधिचित्त अपनी सुप्तावस्था में सभी प्राणियों में विद्यमान होता है। बोधिचित्त जब अपने हेतु प्रत्ययों से उत्पन्न हो गया तब सत्त्व साधारण सत्त्व नहीं रहता। वह बोधि सत्त्व हो जाता है। बोधिसत्त्व किस प्रकार संकल्प करता है, इसका वर्णन तीसरे वर्ग में है। इन संकल्पों में उसका प्रधान संकल्प होता है कि मैं अपने शरीर और धन का प्राणियों के लिय उत्सर्ग कर डालूँ, जैसा कि ऊपर के उद्धरण से प्रकट है। ऐसा संकल्प कर वह बोधि के लिये प्रयत्न करता है।

बोधि की प्राप्ति षट् पारमिताओं से होती है। पारमिताओं का वर्णन आचार्य ने बहुत हृदयंगम रीति से किया है। बोधिसत्त्व पहले दान पारमिता का अभ्यास करता है और अपना सब कुछ दे डालता है। पर सर्वदान क्या है? "सर्वदानं न बहुधनं किन्तु दानचित्तं" (४।६)। हृदय में स्वायत्त वस्तु के प्रति अदेयभावना न रहना ही सर्वदान है। और वही दान पारमिता की पूर्ति है। आचार्य शांतदेव ने यही बात और भी स्पष्टरूप से कही है—"यदि जगत् को अदरिद्र बनाकर दान पारमिता की पूर्ति मानी

जाय तब तो यह मानना पड़ेगा कि अतीत बुद्धों ने उसे पूरा नहीं किया, क्योंकि जगत् तो आज भी दरिद्र है। सब प्राणियों के निमित्त दान-फल के साथ सर्वस्व दान देने वाले चित्त द्वारा दान पारमिता का पूर्ण होना कहा गया है। इसलिये वह चित्त ही है।"

"अदरिद्रं जगत् कृत्वा दानपारमिता यदि।
जगद्दरिद्रमद्यापि सा कथं पूर्वतापिनां॥
फलेन सह सर्वस्वत्यागचित्तज्जनेऽखिले।
दानपारमिता प्रोक्ता तस्मात् सा चित्तमेव तु॥ —बोधिचर्यावतार ५।९, १०

शील पारमिता का वर्णन करते कहा गया है कि बोधिसत्त्व का शील असाधारण शील होता है। उसकी समानता न तो अर्हत् के शील से की जा सकती है और न प्रत्येक बुद्ध के शील से। असाधारणता के कारण ही ऐसे शील का ग्रहण करना साधु शीलग्रहण कहलाता है क्योंकि इस प्रकार के शील से वह सब सत्त्वों को लाभी बनाता है—

"बोधिसत्त्व आचरति शीलं श्रावक प्रत्येक बुद्धावेणिकं। अवेणिकत्वादुच्यते साधुशीलग्रहणं। साधुशीलग्रहणत्वात् करोति सर्व-सत्त्वाँल्लाभिन:।" (५।८)

यह तो हुआ बोधिसत्त्व का विकसित शील। उसका आरंभिक शील है छोटे से छोटे पाप से भी डरना—

"क्षुद्रेष्वपि पातकेषु चित्तेन बिभेति।" (५।१)

बोधिसत्त्व की शीलचर्या प्राणिहित के लिये होती है। अपनी शीलचर्या द्वारा उसे उत्तम लोक पाने की आशा कभी नहीं रहती—

"बोधिसत्वो गृह्णन् परिशुद्धशीलं न प्रतिष्ठितो भवति काम धातौ, न च रूप धातौ नापि च प्रतिष्ठितो भवत्यरूपधातौ।" (५।१०)

क्षांति पारमिता के वर्णन में बोधिसत्त्व की क्षांति के अनुपमेय आदर्श की प्रतिष्ठा करते हुए कहा है कि यदि कोई पुरुष मारता पीटता या गाली-गलौज करता है तो उसे पगला समझ कर क्षमा कर देना चाहिए। अपने संतोष के लिये तो यह समझ लेना चाहिए कि यह सब उसके पुरबले कर्मों की देन है। (६।६,७)

वीर्यपारमिता का वर्णन करते कहा गया है कि बोधिसत्त्व का आरंभिक वीर्य यह है कि वह अपने लक्ष्य से पीछे नहीं हटता। पर उसका विकसित वीर्य तो अपर्यंत है। ध्यान पारमिता के संबंध में बड़ी रहस्यपूर्ण बातें कही गई है। उन्हें तो योगी ही समझ सकेंगे। पर ध्यान का सर्वसाधारण के लिये भी उपयोग है। ध्यान का अभ्यास करते हुए "बोधि-सत्त्व लोक में विचरता हुआ लोक में आसक्त नहीं होता। इस तरह ध्यान करते हुए उसका

चित्त स्थिर और शांत रहता है (८।९)। ध्यान से होनेवाला इतना लाभ भी कम लाभ नहीं है। रहस्यवादी के लिये तो ध्यान ही सब प्रकार की दिव्य शक्तियों का साधन है। उससे दिव्य श्रोत्र और दिव्य चक्षु उत्पन्न होते हैं जिनसे वह अत्यंत दूर की बात सुन सकता है, अत्यंत दूर की चीज देख सकता है, दूसरे के चित्त की बात जान सकता है, अतीत जन्मों का स्मरण कर सकता है तथा और भी अनेक चमत्कार दिखा सकता है (८।१०)।

पारमिताओं में ध्यान पारमिता और प्रज्ञा पारमिताएँ अनेकों मतवादों से भरी हुई हैं। ध्यान पारमिता जहाँ केवल साधना का क्षेत्र है वहाँ प्रज्ञा पारमिता बौद्धिक व्यायाम का क्षेत्र है। आदिम प्रज्ञाचित्त में सत्-असत् के विवेचन की क्षमता रहती है। ज्यों ज्यों उसका विकास होता जाता है, वह जगत् को उस रूप में नहीं देखती जिस रूप में एक साधारण मनुष्य देखता है। सच कहें तो साधारण लोग जिस रूप में जगत् को देखते हैं, प्रज्ञाचित्त मनुष्य सर्वथा उससे विपरीत ही उसे देखता है। साधारण लोग कुशल, अकुशल, आत्म, अनात्म आदि को अलग अलग वस्तु समझते हैं और यह भी समझते हैं कि वे कोई वस्तु हैं, पर प्रज्ञा का जिसमें विकास हो चुका है वह सभी कुशल, अकुशल, आत्म, अनात्म को एक देखता है। उनमें उसे कोई पारस्परिक विशेषता नहीं दिखाई पड़ती—

"पश्यति सर्वं कुशलमकुशलमात्मानमनात्मानं··शून्यमशून्यं—
एकलक्षणमलक्षणम्।" (९।७)

और इसी लिये वह समझता है कि उनमें कोई धर्म (=सत्ता या भाव) नहीं है—

"न च तत्र धर्मा इत्युच्यतेऽलक्षणम्" (९।७)

जिसमें इस प्रकार की दृष्टि है उसके मन को डावाँडोल होने का अवकाश ही कहाँ? चित्त के संमुख भाव या अभाव कुछ हो तभी तो उसमें क्षोभ संभव है। आचार्य शांतदेव ने कहा है कि मति के सामने जब भाव और अभाव दोनों ही नहीं रहते तब वह दूसरी गति के अभाव में शांत हो जाती है—

"यदा न भावो नाभावो मतेः संतिष्ठते पुरः।
तदान्यगत्यभावेन निरालंबा प्रशाम्यति ॥"—बोधिचर्यावतार, (९।३५)

इस तरह पारमिताओं का वर्णन कर प्रज्ञापारमिता के प्रसंग में शून्यवाद की ओर केवल हलका सा इंगित कर उसके बादवाले दो वर्गों में शून्यवाद का प्रतिपादन किया है और फिर बादवाले अंतिम वर्ग में ग्रंथ के पठन-पाठन से होनेवाले पुण्य का निर्देश कर ग्रंथ का उपसंहार किया है। शून्यवाद का प्रतिपादन बहुत कुछ सूत्रशैली में हुआ है। इसलिये उसमें इतने प्रौढ़ तर्क नहीं दिखाई पड़ते जितने नागार्जुन की विग्रह-व्यावर्तनी में।

इस छोटे से प्रकरण-ग्रंथ द्वारा यदि हम आचार्य की धार्मिक या दार्शनिक विचारधारा के विषय में जानना चाहें तो विशेष रूप से कुछ नहीं जान सकते। आचार्य की प्रतिभा बहुमुखी थी और उन्होंने विभिन्न मतवादों के संग्रह में ग्रंथ लिखे हैं। फलतः उनका मत क्या था यह जानना कठिन है। आचार्य की छोटी सी जीवनी, जिसका चीनी अनुवाद परमार्थ ने किया था, हमें प्राप्त है। उसके अनुसार पहले वे सर्वास्तिवादी (सौत्रांतिक) और बाद में महायानी (योगाचार) बन गए। उनके इस प्रकरण में महायान का प्रतिपादन है, पर इसमें योगाचार मत की छाया तक नहीं पड़ने पाई है, क्योंकि इसमें "चित्तमपि शून्यम्" कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि वह चित्त को शून्य न माननेवाले योगाचार से भिन्न मत का प्रकरण-ग्रंथ है। इस प्रकरण की दार्शनिक विचारधारा माध्यमिक के शून्यवाद के अनुसार है। परवर्ती विद्वानों में हम वाचस्पति मिश्र को देखते हैं। उन्होंने परस्पर विरुद्ध मतवाले दर्शन-ग्रंथों पर टीकाएँ रची हैं। जिस दर्शन पर वे टीका करते हैं उसी के मतवाद का मंडन करते हैं और उस दर्शन से विपरीत मतवाद का खंडन किया करते हैं। इस तरह उन्होंने प्रायः सभी का मंडन और खंडन किया है। आचार्य वसुबंधु के प्रकरण-ग्रंथों में यही बात दिखाई पड़ती है। जिस मतवाद के प्रतिपादन में वे ग्रंथ लिखते हैं उसका ही ठीक ठीक वर्णन करते हैं। इस दृष्टि से उन-उन मतवादों को जानने के लिये आचार्य के ग्रंथ बड़े काम के हैं। और इसीलिये उनकी जीवनी में* कहा है—

"आचार्य की सब कृतियों का अर्थ परम शोभन होता था। देखने एवं सुननेवालों की (उनपर) श्रद्धा न हो, यह नहीं हो सकता था। इसलिये भारत तथा सीमांत तक महायान एवं हीनयान के अध्येताओं के लिये आचार्य की कृतियाँ अध्ययन का आधार थीं।"

---

* परमार्थ रचित वसुबंधु की जीवनी का मूल चीनी से अविकल अनुवाद "विशाल भारत" के सन् १९४७ के अक्तूबर अंक में निकल चुका है।

वाल्मीकि-आश्रम सीतामढ़ी

[श्री किशोरीलाल गुप्त]

आदिकवि ने भारत के किस पुण्यस्थल पर काम-मोहित क्रौंच के जोड़े को क्रूर एवं हृदयहीन व्याध द्वारा शराहत होते हुए देखा ? किस स्थान पर उनकी मूल भारती ने, उनके हृदय की कोमल करुणा ने, उनके 'शोक' ने अपनी अभिव्यक्ति 'मा निषाद' वाले प्रसिद्ध 'श्लोक' के रूप में की ?

सीताजी ने दूसरे बनवास के अपने कठिन दिन कहाँ बिताए ? लवकुश कहाँ उत्पन्न हुए ? लवकुश का श्रीरामचंद्र की सेना से वह प्रसिद्ध युद्ध कहाँ हुआ जिसमें राम-दल के सभी महारथी—शत्रुघ्न, लक्ष्मण, भरत, हनुमान, जामवंत, अंगद, सुग्रीव—पराजित हुए ? कुश ने कहाँ पर राघव के मत्तदल-करीश्वर को अंकुश देकर फेरा ? सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है संसार का आदि काव्य—रामायण—कहाँ पर विरचित हुआ ?

इन सभी प्रश्नों का समाधान हो जाय, यदि ज्ञात हो जाय कि आदिकवि महर्षि वाल्मीकि का पावन तपोवन कहाँ था। हमारे बहुत से प्राचीन स्थानों का पता नहीं लगता। एक ही स्थान होने का गौरव कभी कभी कई स्थान लेना चाहते हैं, जैसे—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकरखेत।
समझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत ॥

इस दोहे में आया हुआ सूकरखेत भी विवाद का विषय बन गया है। कुछ लोग एटा जिले के अंतर्गत गंगातट-स्थित सोरों को यह गौरव देते हैं। सोरोंवाले तो यह भी कहते हैं कि गोसाईंजी भी यहीं पैदा हुए थे। कुछ लोग गोंडा के अंतर्गत सरयूतट पर स्थित सूकरखेत को यह गौरव प्रदान करते हैं। पिछले दिनों हिंदी और अँगरेजी के पत्रों में महर्षि भरद्वाज के आश्रम को लेकर विद्वत्तापूर्ण विवादात्मक लेख लिखे गए थे जिसमें बंगाल के वर्तमान गवर्नर एवं युक्तप्रांत के तत्कालीन न्याय-मंत्री डाक्टर कैलाशनाथ काटजू ने भी भाग लिया था। इसी प्रकार दुर्वासा ऋषि के निवास-स्थान के विषय में भी दो स्थानों की चर्चा सुनी जाती है। एक स्थान है इलाहाबाद जिले में अवध तिरहुत रेलवे के रामनाथपुर स्टेशन के पास; यहाँ प्रतिवर्ष नागपंचमी को ऋषि दुर्वासा का मेला लगता है। दूसरा स्थान है आजमगढ़ जिले में तमसा नदी के किनारे। इसका उल्लेख श्री गुरुभक्त सिंह ने अपनी सुंदर काव्यकृति 'विक्रमादित्य' में किया है। इसी प्रकार वाल्मीकि-आश्रम का निर्णय करना भी विवाद से खाली नहीं है।

भवभूति के 'उत्तर रामचरित' के परायण से प्रतीत होता है कि वाल्मीकि का

आश्रम दक्षिण में कहीं दंडकारण्य के आसपास था; क्योंकि जब श्रीरामचंद्र शांबूक का वध करके लौटते हैं और पंचवटी-स्थित अपने प्राचीन आश्रम को देख सीता की सुधि में नेत्रों में नीर भर लाते हैं, तब सीताजी की परम प्यारी सखी वासंती द्वारा उन्हें सीताजी का दर्शन सुलभ होता है।

गोस्वामी तुलसीदास रामचरितमानस में वाल्मीकि और राम के मिलन का उल्लेख करते हैं। भरद्वाज जी से मिलकर राम-सीता-लक्ष्मण जब चलना चाहते हैं तब महर्षि उन्हें यमुना-तट तक पहुँचाने आते हैं। यमुना पार होने पर इस त्रिमूर्ति को एक अज्ञातकुलशील तापस मिलता है—स्वर्गीय शुक्लजी के अनुसार इस तापस के रूप में गोसाईंजी ने स्वयं अपनी श्रद्धांजलि अपने इष्टदेव के चरणों में समर्पित की है। यहाँ से आगे बढ़ने पर ग्राम-वधुओं का उत्कंठापूर्ण, समुत्सुक, संवेदनात्मक, सहृदय एवं मधुर प्रसंग आता है। उनसे मिलते-जुलते हुए आगे बढ़कर संध्या समय वटवृक्ष तक पहुँचते हैं। वहाँ रात्रि यापन करने के अनंतर दूसरे दिन प्रातःकाल वाल्मीकि-आश्रम पर पहुँचते हैं—

शुचि सुंदर आश्रम निरखि, हरषे राजिव नैन।
सुनि रघुवर आगमन मुनि, आगे आए लैन॥

मुनि कहँ राम दंडवत कीन्हा। आशीर्वाद विप्रवर दीन्हा॥
देखि राम छवि नयन जुड़ाने। करि सन्मान आश्रमहिं आने॥
मुनिवर अतिथि प्राण प्रिय पाए। तब मुनि आसन दिए सुहाए॥
कंदमूल फल मधुर मँगाए। सिय सौमित्र राम फल खाए॥

इसके पश्चात् श्रीरामचंद्र ने अपनी सारी कथा वाल्मीकिजी से कह सुनाई और अपने रहने के लिये उचित स्थान पूछा—

अब जहँ राउर आयसु होई··· ·······················
तहँ रचि रुचिर परम तृणशाला। वास करौं कछु काल कृपाला॥

श्रीरामचंद्र जी की यह बात सुनकर महर्षि ने उत्तर दिया—

पूँछेउ मोहिं कि रहौं कहँ, मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होउ तहँ देहु कहि, तुमहिं दिखावौं ठाउँ॥

× × ×

यश तुम्हार मानस विमल, हंसिनि जीहा जासु।
मुक्ताहल गुण गण चुगहिं, बसहु राम हिय तासु॥

× × ×

कह मुनि सुनहु भानुकुल नायक। आश्रम कहौं समय सुखदायक।
चित्रकूट गिरि करहु निवासू। तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू॥

× × ×

चित्रकूट महिमा अमित, कही महा मुनि गाइ।
आय नहाने सरितवर, सीय सहित दोउ भाइ॥

इस अंतिम दोहे से प्रतीत होता है कि वाल्मीकि-आश्रम से चित्रकूट कोई बहुत दूर नहीं था और वहाँ से चलकर संभवतः दोपहर का स्नान इन तीनों पथिकों ने चित्रकूट में बहनेवाली मंदाकिनी में किया।

महाकवि केशव ने रामचंद्रिका में अयोध्याकांड की कथा को यों ही चलता किया है। उसमें जब गंगा-यमुना पार होने का प्रसंग नहीं है तो वाल्मीकि-मिलन तो दूर रहा। हाँ, श्री मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत में तुलसीदास की भाँति इस वनयात्रा का वर्णन किया है। साकेत में, रहने का स्थान वाल्मीकि से न पूछकर प्रयाग ही में भरद्वाज से पूछ लिया गया है—

"ऐसा वन निर्देश कीजिए अब हमें
जहाँ सुमन सा जनक-सुता का मन रमे।"

× × ×

"चित्रकूट तव तात तुम्हारे योग्य है
जहाँ अचल सुख, शांति और आरोग्य है।"
"जो आज्ञा" कह राम सहर्ष प्रयाग से
चित्रकूट की ओर चले अनुराग से
दिखला आए मार्ग आप मुनिवर उन्हें
मिली सूर्य की सुता धन्य धुनिवर उन्हें।

× × ×

करके यमुना-स्नान, विलम वट के तले
लक्ष्मण, सीता, राम विकट बन को चले।

× × ×

चल यों सब वाल्मीकि महामुनि से मिले,
ध्यानमूर्ति निज प्रकट प्राप्त करके खिले।
वे ज्यों कविकुलदेव धरा पर धन्य थे,
ये नायक नरदेव अपूर्व अनन्य थे।

"कवे, दाशरथि राम आज कृतकृत्य है,
करता तुम्हें प्रणाम सपरिकर भृत्य है।"
"राम, तुम्हारा वृत्त आप ही काव्य है
कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है।"
आए फिर सब चित्रकूट मोदितमना,
जो अटूट गढ़ गहन वन-श्री का बना।

साकेत के अनुसार भी वाल्मीकि-आश्रम चित्रकूट के पास, चित्रकूट और यमुना के बीच कहीं था। कुछ पता नहीं, अब चित्रकूट और यमुना के बीच कोई स्थान वाल्मीकि-आश्रम के नाम से प्रसिद्ध है या नहीं। संभवतः ऐसा कोई स्थान अब नहीं है और गोसाईं तुलसीदास के समय में भी ऐसा कोई स्थान नहीं था। मैथिली बाबू ने तुलसी की परंपरा पर चलकर चित्रकूट और यमुना के बीच वाल्मीकि-आश्रम का वर्णन किया है और संभवतः तुलसीदासजी ने भी अपने पूर्व से चली आती हुई किसी परंपरा का अनुसरण करके ही वाल्मीकि-आश्रम का यह वर्णन किया है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, भवभूति के अनुसार तो वाल्मीकि-आश्रम और भी दक्षिण होना चाहिए।

'रामचरितमानस' के अतिरिक्त 'कवितावली' में भी गोसाईं जी ने 'वाल्मीकि-आश्रम का वर्णन तीन कवित्तों में किया है—

जहाँ वालमीकि भए व्याध तें मुनींद्र साधु,
'मरा मरा' जपे सुनि सिष ऋषि सात की।
सीय को निवास लवकुस को जनम-थल,
'तुलसी' छुवत छाँह ताप गरै गात को॥
बिटप - महीप सुरसरित - समीप सोहै,
सीतावर देखत पुनीत होत पातकी।
बारिपुर दिगपुर बीच बिलसति भूमि
अंकित जो जानकी-चरन जलजात की॥ १३८॥

मरकत-बरन परन, फल मानिक-से
लसै जटा-जूट जनु रुख वेष हरु है।
सुखमा को ढेरु, कैधौं सुकृत-सुमेरु, कैधौं,
संपदा सकल मुद-मंगल को घरु है॥
देत अभिमत जो समेत-प्रीति सेइए,
प्रतीति मानि 'तुलसी' बिचारि काको थरु है।
सुरसरि निकट सोहावनि अवनि सोहै,
राम रमनी को बट कलि कामतरु है॥ १३९॥

देवधुनी पास, मुनिवास, सी-निवास जहाँ,
प्राकृत हूँ बट बूट बसत पुरारि है।
जोग जप जाग को विराग को पुनीत पीठ,
रागिन पै सीठि, डीठि बाहरी निहारि हैं॥
'आयसु' 'आदेस' 'बाबा' 'भलो भलो' 'भावसिद्ध',
'तुलसी' विचारि जोगी कहत पुकारि हैं।
राम-भगतन को तौ कामतरु तें अधिक,
सिय-बर सेए करतल फल चारि हैं॥ १४०॥

इन कवित्तों से सिद्ध है कि बाल्मीकि-आश्रम की पवित्र भूमि गंगा-तट पर है, या उसके अत्यंत निकट है। तीनों कवित्तों में इसका उल्लेख है—

(१) बिटप महीप सुरसरित समीप सोहै
(२) सुरसरि निकट सोहावनी अवनि सोहै
(३) देवधुनी पास

रामचरितमानस एवं साकेत वर्णित बाल्मीकि-आश्रम गंगा से बहुत दूर है, गंगा और इसके बीच प्रसिद्ध यमुना भी आ गई हैं। निश्चय ही रामचरितमानस का बाल्मीकि-आश्रम और कवितावली का बालमीकि-आश्रम एक ही नहीं हैं।

पहले कवित्त में गोसाईंजी ने वाल्मीकि-आश्रम की भौगोलिक स्थिति पर भी पूर्ण प्रकाश डाल दिया है। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

'बारिपुर दिगपुर बीच विलसति भूमि'

स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी ने कवितावली में इस छंद की टीका करते हुए इस स्थान का परिचय भी दिया है। उनके अनुसार यह स्थान इलाहाबाद और बनारस को मिलानेवाली अवध तिरहुत रेलवे के इलाहाबाद जिले के भीटी स्टेशन से प्रायः चार मील दक्षिण गंगा जी के तट पर स्थित है। लालाजी ने स्थान-निर्देश तो कर दिया है, उसका वर्तमान नाम नहीं बताया है। इस स्थान को आजकल 'सीतामढ़ी बनकट' या केवल 'सीतमढ़ी' कहते हैं।

सीतामढ़ी बनारस राज्य के अंतर्गत भदोही जिले में गंगा के उत्तरी किनारे पर स्थित है। गोसाईंजी ने वाल्मीकि-आश्रम की जो भौगोलिक स्थिति बताई है, वह सीतामढ़ी पर पूर्ण रूप से घट जाती है। यह गंगाजी के किनारे है, साथ ही वह 'वारिपुर' और 'दिगपुर' स्थानों के बीच में स्थित भी है। आजकल 'वारिपुर' को 'वारीपुरा' कहते हैं। यह सीतामढ़ी के पूर्व में एक मील की दूरी पर गंगा-तट पर ही स्थित है। यहाँ एक स्तूप भी है जो दूर से दिखाई देता है। जनसाधारण इसे 'तोखा' कहते हैं।

'दिगपुर' को आजकल 'डीह' कहते हैं। यह भी गंगा-तट पर ही है। यह ऊँचाई पर बसा है इसी से इसका नाम 'डीह' है। 'दिगपुर' का 'पुर' निकल गया है और 'दिग' का अपभ्रंश ही 'डीह' है।

गोंसाईंजी ने संभवतः सीतामढ़ी की यात्रा की थी और कुछ दिन इस सिद्धपीठ में वे रहे भी थे, तभी वे इसकी सूक्ष्म भौगोलिक स्थिति का विवरण दे सके हैं। यदि वे इस कोने में पड़े हुए तीर्थस्थान में न आए होते तो वे इसका माहात्म्य भी वर्णन न करते। गोसाईंजी सीताराम के अनन्य भक्त थे और उनसे संबंधित स्थानों की यात्रा उन्होंने अवश्य की होगी। संभवतः कभी काशी से प्रयाग या प्रयाग से काशी आते हुए उन्होंने सीतामढ़ी का भी दर्शन किया रहा होगा और इसी सिलसिले में वे विंध्याचल, अष्टभुजी एव मिर्जापुर भी गए रहे होंगे।

सीतामढ़ी का अर्थ है सीताजी की मढ़ी या मठ—सीताजी का तप-स्थान। आस-पास के देहात में लोग इस स्थान को सीताजी के ही नाते जानते हैं। जनसाधारण ने वाल्मीकि का नाम भी नहीं जानते और इस स्थान को सीता के द्वितीय बनवास के स्थान के नाम से जानते हैं। इस स्थान पर एक कच्चा घर है जिसका कुछ अंश ईंट का भी बना हुआ है। इस ईंटवाले अंश में सीता, लव, कुश और वाल्मीकि की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। इसके आसपास नार-खोर हैं। कुछ दूर पर जो बस्ती है उसको बनकट कहते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ पहले बन था और उस बन को काटकर यह गाँव बसाया गया है। इस बनकट गाँव में भदोही जिला-बोर्ड की ओर से एक प्राइमरी स्कूल चल रहा है।

सीताजी की स्मृति में आषाढ़ शुक्ल नवमी को हरसाल यहाँ पर मेला लगता है। लोग इसे 'रामनवमी' का मेला कहते हैं। कुछ पता नहीं इस तिथि को राम-नवमी क्यों कहते है? रामनवमी तो चैत सुदी नवमी को कहते हैं, क्योंकि उस दिन श्रीरामचंद्र अयोध्यापुरी में अवतीर्ण हुए थे। संभवतः सीता-राम में विशेष भेद न करके लोग इस तिथि को भी रामनवमी कहने लगे। पता नहीं सीताजी की स्मृति को बनाए रखने के लिये यही तिथि क्यों चुनी गई। हो सकता है सीताजी इसी तिथि को वाल्मीकि-आश्रम में आई हों; हो सकता है इसी दिन लव-कुश का जन्म हुआ हो; हो सकता है, सीताजी इस दिन अपनी माता पृथ्वी के उदर में समा गई हों। मंदिर के पश्चिम जो बड़ा नाला गंगाजी में गिरता है उसके विषय में लोग कहते हैं कि लव-कुश की विजय के पश्चात् जब रामचंद्रजी सीताजी को पुनः ग्रहण करना चाहते थे तो सीताजी के अनुरोध पर वहाँ पृथ्वी फट गई थी; उससे अपनी दुलारी बेटी का दारुण दुख न देखा गया और सीताजी वहाँ अंतर्धान हो गईं। श्रीरामचंद्रजी ने पृथ्वी के गर्भ में विलीन होती हुई अपनी प्रेयसी और पतिप्राणा पत्नी की केशराशि को ही पकड़ पाया। सीताजी तो हाथ न लगीं, केवल उनके केश राम के हाथ आए। ये ही केश कुश और कास के रूप में उस नाले के दोनों ओर अत्यधिक मात्रा में उगे हुए हैं—ऐसा जनसाधारण का विश्वास है।

ग्राम्य जनता का एक और विश्वास है कि इस मेले के दिन सीतामढ़ी में कुछ न कुछ बूँदाबाँदी अवश्य होती है; जब 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' काला बादल नहीं दिखाई देता और एक एक करके आषाढ़ के दिन बीतते जाते हैं तब लोगों की प्रतीक्षातुर आँखें इसी दिन का रास्ता देखने लगती हैं। संभवतः इस बूँदाबाँदी का संबंध सीताजी के आँसुओं से है। उस दिन सीताजी की स्मृति में निर्दय आसमान आँसू बहा देता है। जो हो, इस दिन हरसाल पानी बरसता हुआ देखा गया है।

यह स्थान अत्यंत रमणीक है और चारों ओर वृक्षों से घिरा हुआ है। मंदिर के आसपास वट-वृक्ष हैं जो सीताजी के लगाए कहे जाते हैं। गोसाईंजी ने भी सीता-वट की अमित प्रशंसा कवितावली के कवित्तों में की है। वर्तमान वट-वृक्ष इतने पुराने नहीं हैं कि यह कहा जा सके कि ये सीताजी के करकमलों द्वारा रोपे गए रहे होंगे। ये वृक्ष तो तीन सौ वर्ष भी पुराने नहीं प्रतीत होते। तुलसीदासजी ने जिस सीता-वट की प्रशंसा की है, वह इनका पूर्वज रहा होगा। हो सकता है सीताजी ने यहाँ वट-वृक्षारोपण किया हो और ये वट वृक्ष उसी पुण्य वृक्ष की संतानें हों।

सीतामढ़ी के दक्षिण में गंगाजी की पवित्र धारा है। मंदिर में पुजारी लोग रहते हैं। मंदिर के साथ निर्वाह के लिये बनारस राज्य की ओर से संभवतः कुछ भूमि भी लगी हुई है। आज से प्रायः बीस वर्ष पहले इस मंदिर में सशस्त्र डाका पड़ा था। सीताजी के सारे वस्त्रालंकार तथा उनकी सोने की आँखें भी डाकू ले गए। मंदिर को बहुत कुछ श्री तभी से चली गई।

ऐसा प्रतीत होता है कि गोसाईंजी के समय में यह प्रसिद्ध सिद्धपीठ भी था और अनेक योगी-यती तपस्या करने के लिये यहाँ आया करते थे। पर अब यहाँ योगी-यतियों का जमघट नहीं है। एक पुजारी यहाँ रहता है और कभी कभी दो चार साधु-संन्यासी रमते हुए आते हैं और दो चार दिन विरमते हुए चले जाते हैं।

इस पवित्र स्थल की दशा अत्यंत शोचनीय है, यद्यपि काशी-नरेश तक इस पुण्य भूमि का दर्शन कर अपने को कृतार्थ मानते हैं। यह जीर्णशीर्ण, खपरैलों वाला मंदिर न तो आदि कवि वाल्मीकि के गौरव के अनुकूल है, न उन महासती सीता के और न महावीर के समान वीर को बाँध लेनेवाले उन महावीर बालक कुश और लव के।

मानस दर्शन

[श्री रामनरेश वर्मा]

मानस दर्शन इटली के मूर्धन्य विद्वान् बेनेडेट्टो क्रोचे के विशिष्ट दर्शन की संज्ञा है। इस दर्शन में उन्होंने इस विश्व के जड़ और चेतन—इन युगल उपादानों को क्रमश: द्रव्य तथा मन शब्दों से अभिहित किया है। उनके अनुसार द्रव्य सर्वथा निर्जीव, निष्क्रिय एवं स्वरूपहीन है। इसके विपरीत मन जीवस्वरूप, गतिशील तथा साँचेवाला अर्थात् अमूर्त को मूर्तरूप देनेवाला है। भारतीय दर्शनों में विशेषत: वेदांत ने क्रोचे के द्रव्य की ही भाँति जड़ को निर्जीव और निष्क्रिय माना है परंतु उसे स्वरूपहीन नहीं कहा। इसी प्रकार उसने चेतन को मन की तरह जीवस्वरूप तथा गतिशील बताया किंतु उसमें साँचे की स्थिति नहीं कही।[1] आधुनिक वैज्ञानिकों ने जगत् के मूल कारण 'एलेक्ट्रोन्स' का अनुसंधान कर लिया जिसे सैकड़ों वर्ष पूर्व परमाणुवादी नैयायिकों ने उद्घोषित किया था—"अणव: सर्वशक्तित्वाद्भेदसंसर्गवृत्तय:", पर उन्होंने भी जड़ में अरूपत्व का दर्शन नहीं पाया। अत: क्रोचे के दर्शन की मूल भित्ति है जड़ या द्रव्य को रूपहीन तथा चेतन अथवा मन को साँचेवाला मानना। रूपहीनता एवं साँचे की कल्पना अनन्यथासिद्ध है—द्रव्य में अरूपत्व मानने के कारण ही मन में साँचे की कल्पना करनी पड़ी। बात यह है कि व्यवहार-जगत् में हमें सत्तात्मक अर्थात् ठोस रूपों की उपलब्धि होती है, अतएव रूपहीन द्रव्यों से अनुभूति की संगति मिलाने के लिये रूपों के साँचे की कल्पना मन में करनी पड़ी। हमारे यहाँ बृहदारण्यक उपनिषद् में कुछ इस प्रकार की चर्चा चली है—"वह आदित्य किसमें प्रतिष्ठित है? दोनों नेत्रों में। नेत्र किसमें प्रतिष्ठित हैं? रूपों में। (मनुष्य) आँखों से ही रूपों को देखता है। रूपों की अवस्थिति कहाँ है? हृदय में। हृदय द्वारा ही रूपों का ज्ञान होता है। हृदय में ही रूप प्रतिष्ठित हैं।"[2] इस प्रसंग में आए हुए हृदय से क्रोचे के मन की

१—प्रस्तुत कथन को चलती भाषा में समझना चाहिए, क्योंकि वेदांत की शास्त्रीय दृष्टि से तो जड़ एवं चेतन का विभेद भी अयुक्त है—'एकमेवाद्वितीयम् नेहनानास्ति किंचन' की जिस शास्त्र में प्रतिष्ठा है उसमें उक्त भेद असंगत है। इसी प्रकार चेतन में गतिशीलता—क्रियाकारिता—भी उपपन्न नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मतत्व कूटस्थ है। फिर भी वेदांत उसी चेतन की माया नामक शक्ति में क्रियाकारिता मानता है, अत: प्रसंग में उपचार से गतिशीलता का व्यवहार किया गया है।

२—स आदित्य: कस्मिन् प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षु: प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति चक्षुषाहि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानि हृदय इति होवाच हृदयेनहि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि।

—बृहदारण्यक उपनिषद्

समानता पाई जा सकती है। परंतु वस्तुस्थिति ऐसी है नहीं, क्योंकि उपनिषद् अध्यात्म-विषय-परतंत्र हैं जिससे उनकी धारणा तर्क बुद्धि से परे है।[१] तथा परमार्थ से व्यवहार का प्रकृष्ट अंतर जिन्हें मान्य न हो उन्हें वेदांत से टक्कर लेनी चाहिए। साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि क्रोचे बुद्धि से परे किसी लोकातिक्रांत या विश्वातीत तत्त्व को स्वीकार नहीं करते। अतः यह सिद्ध हो गया कि क्रोचे का मन साँचेवाला है तथा द्रव्य स्वरूपहीन होते हैं। इसका समर्थन अन्य दर्शन नहीं करते।

क्रोचे के अनुसार उपर्युक्त द्रव्यों की ज्ञप्ति के लिये कल्पना करना होगा कि मन ज्ञाता है तथा द्रव्य ज्ञेय। जब रूपहीन द्रव्य मानव मन के समक्ष उपस्थित होता है तभी मानस व्यापार आरंभ हो जाता है। इस व्यापार के कारण ही रूपहीन द्रव्य साँचेवाले मन से तादात्म्य ग्रहण कर रूपवान् बनता है। तत्पश्चात् उसके सुसंपूर्ण रूप की उपलब्धि होती है।[२] उदाहरणार्थ एक ऐसे दृश्य की कल्पना कीजिए जिसमें आकाशपटी एक दिशा में सूर्य की रंगीन रश्मियों से अनुरक्त हो रही है और दूसरी ओर अभ्रखंडों के आवरण में म्लानमुख तारापति वारुणी के आसंग को प्राप्त करने के लिये विह्वल हो रहे हैं। समस्त दिगतरालों से नवप्रभात के अभिनंदन में खेचर-वंदियों की बधाइयाँ मुखरित हो रही हैं और इधर सस्वेदरोमोद्गमा तृणधरी भगवती भागीरथी के कलकल स्वन में स्वर मिलाकर अपना संपूर्ण वैभव देवता के चरणों में बिखेर रही है। समस्त विश्व नव जागरण में परिणत हो रहा है। अब यदि क्रोचे के अनुसार इस दृश्य की व्याख्या की जाय तो यह सारा दृश्य मानस व्यापार में ही पर्यवसित होगा, क्योंकि अपने मूल रूप में यह दृश्य कलाकार के मानस जगत् के रूपहीन भाव या द्रव्य के रूप में ही स्थित था, केवल मानस व्यापार के चमत्कार से ही इस रूप में अभिव्यंजित हुआ—अपने सुसंपूर्णरूपत्व को प्राप्त हुआ। इस सुसंपूर्ण रूप को हम जगत् में सत्तात्मक रूप कहते हैं। अतः मानस व्यापार के लिये द्रव्य की नितांत आवश्यकता है। परंतु मन ही अपने व्यापारों की शक्ति से उस वस्तु की उपस्थिति करता है जिसे हम सत्ता शब्द से अभिहित करते हैं।[३] क्रोचे की इस सत्ता से मिलने जुलनेवाली सत्ता की कल्पना भारतीय दर्शन-शृंखला के विज्ञानवादियों ने की थी। लगे हाथों उससे भी इसका पार्थक्य देख लेना चाहिए।

विज्ञानवाद एकमेव 'आलय विज्ञान' की सत्ता स्वीकार करता है। यही सत्ता ग्राह्य

१—अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परंयत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

२—Matter attacked and conquered by form, gives place to concrete form.
—एस्थेटिक्स, पृ० ९

३—Without matter, however, our spiritual activity would not have its abstractions to become concrete.
—वही, पृ० ९

(विषय) तथा ग्राहक (विषयी)—इन द्विविध रूपों में प्रतिभासित होती है।[1] विषय पक्ष में 'आलय विज्ञान' के घटपटादिक असंख्यों अध्यस्त रूप होते हैं पर विषयी पक्ष में यह चेतन से संबद्ध होने पर 'चित्त', मनन करने के कारण 'मन' तथा विषय-ग्रहीता होने के कारण विज्ञान कहलाता है।[2] यह प्रत्येक व्यक्ति में पृथक् पृथक् रह कर भी समष्टि चेतन का प्रतीक है। नित्य परिणामी होते हुए भी इसकी क्रिया-संतति कभी विच्छिन्न नहीं होती। सृष्टि का आरंभ ही इसकी क्रिया का प्रारंभ था, तथा सृष्टि का अंत ही इसकी क्रिया का विराम होगा। प्रतिभान या प्रतिभासित होनेवाली वस्तुओं की भिन्नता एवं बहुलता के कारण यह भिन्न अथवा बहुल भले ही प्रतीत हो, पर उसमें किसी प्रकार का भेद कभी उत्पन्न नहीं होता।[3] अतः विज्ञानवादियों का यह परिनिष्ठित मत है कि यह संसार मन का खेल है, केवल चित्त या विज्ञान ही वास्तविक सत्ता है। वही जगत् के विभिन्न रूपों में—कभी देह या उपभोक्ता के रूप में तथा कभी भोग अथवा उपभोग्य के रूप में—दिखाई पड़ता है—

> दृश्यतें न विद्यते बाह्यं चित्तचित्रं हि दृश्यते।
> देह भोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम्॥

क्रोचे विज्ञानाद्वैतियों की भाँति समस्त विश्व के विसर्ग की शक्ति मन में नहीं मानते। उनका जीवस्वरूप, गतिशील और साँचेवाला मन निर्जीव, निष्क्रिय तथा रूपहीन द्रव्य के साक्षात्कार करने पर ही व्यापारवान् होता है, अन्यथा नहीं; एवं मानस व्यापार के फलस्वरूप ही हमें रूपवान् या सत्तात्मक द्रव्यों की उपलब्धि होती है। अतः इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं।

(१) पहला निष्कर्ष तो यह है कि मन और द्रव्य अपनी मूल अवस्था में परस्पर भिन्न गुण-धर्मों से युक्त दो स्वतंत्र पदार्थ हैं। पर क्रोचे स्पष्ट कहते हैं कि केवल चेतन अथवा मन ही सत्तात्मक तत्त्व है। उनके व्याख्याकार तथा समर्थक विल्डन कार भी इसका मंडन करते हैं।[4] अतएव उक्त निष्कर्ष तथा क्रोचे के सिद्धांत में विरोध दिखाई पड़ेगा। किंतु यह आभास मात्र है—विचार-भेद पर दृष्टि रखने से परिहृत हो जायगा। क्रोचे की

१—चित्तमात्रं न दृश्योऽस्ति द्विधा चित्तं हि दृश्यते।
ग्राह्यग्राहकभावेन शाश्वतोच्छेदकारणम्॥ —लंकावतार ३।६५

२—चित्तमालयविज्ञानं मनो यन्मननात्मकम्।
गृह्णाति विषयान् येन विज्ञानं हि तदुच्यते॥ —लंकावतार गाथा, १०२

३—बुद्धिस्वरूपमेकं हि वस्त्वस्ति परमार्थतः।
प्रतिभानस्य नानात्वान्नचैकत्वं विहन्यते॥ —सर्वसिद्धान्तसंग्रह, ४।१।६

४—There is but one reality... ... —'फ़िलासफी ऑव क्रोचे', पृ० ४

कल्पना है कि मन में सुसंपूर्णता—सत्तात्मकता—तथा द्रव्य में भावात्मकता रहती है; सुसंपूर्ण सत् है एवं भावात्मक असत्, जैसा कि उनके नामों से ही स्पष्ट है। परंतु यदि हम इस कल्पना को थोड़ी देर के लिये हटाकर 'द्रव्य की उपस्थिति होने पर ही मानस व्यापार प्रारंभ होता है' इस उक्ति पर विचार करें तब निश्चित रूप से हमें द्वैत सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। हमारे इस पक्ष का समर्थन भी कार के इन शब्दों से हो जाता है कि क्रोचे इस निष्क्रिय तत्त्व द्रव्य को औपाधिक विचार के स्वीकार करते हैं परंतु निश्चित रूप से उसकी कोई सुसंपूर्ण सत्ता नहीं मानते।[1] कार के इस कथन से संदेह उत्पन्न होता है कि क्या क्रोचे मानस द्रव्य तथा भौतिक द्रव्य—इन दोनों में कहीं भी सुसंपूर्णता नहीं मानते? यदि ऐसी बात मान भी ली जाय तो क्रोचे के इस वाक्य से विरोध घटित होता है कि द्रव्य अपनी भावात्मकता में यंत्ररूपता है, निष्क्रियता है।[2] क्योंकि जब द्रव्य को भावात्मकता है तो वह सुसंपूर्णता की ही होगी। ऐसा तो हो नहीं सकता कि भौतिक द्रव्य भी भावात्मक हो और मानस द्रव्य उसकी भावात्मकता हो। स्वयं क्रोचे ने जिस प्रकार स्वयंप्रकाश्यों के स्वयंप्रकाश्य का, विचारों के विचार का खंडन किया है उसी प्रकार भावात्मकता की भावात्मकता भी खंडित है। अतः भौतिक जगत् की सुसंपूर्णता मानते ही क्रोचे को दो सत्ताएँ स्वीकार करनी पड़ेंगी। अब यदि कहा जाय कि मानस दर्शन में भौतिक द्रव्यों का पचड़ा क्यों लाया जा रहा है? उत्तर है—द्रव्य को ठीक ठीक समझने के लिये। क्रोचे एक स्थान पर कहते हैं कि द्रव्य वह भावात्मकता है जो सौंदर्यात्मक ढंग से—मानस व्यापार से विजृंभित न की गई हो।[3] यहाँ फिर प्रश्न होता है कि ये द्रव्य रूपवान् हैं या अरूप। क्रोचे महाशय इन्हें अरूप मानते हैं, यह आरंभ में ही कहा जा चुका है। किंतु तनिक भी ध्यान देने पर विदित हो जायगा कि द्रव्य रूपवान् ही होते हैं। यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि क्रोचे को भौतिक जगत् की सुसंपूर्णता माननी ही पड़ेगी, क्योंकि तभी उस जगत् की छापें मानस भावात्मकता के रूप में संग्रहीत होती रहेंगी और तभी सब मनुष्यों में उनकी एकरूपता रहेगी। कहा जा सकता है कि एकरूपता की बातें कहाँ से आ गईं? उत्तर है, क्रोचे के प्रस्तुत वाक्य से—काव्यात्मक वस्तु सभी की चेतना में अनुस्यूत रहती है, केवल अभिव्यंजना या रूप ही कवि उत्पन्न करता है।[4] ये ही भावात्मक छापें किसी की चैतन्य प्रक्रिया का विषय होकर अभिव्यंजित होती हैं तथा कलाएँ कहलाती हैं एवं उस व्यक्तिको कलाकार की पदवी से विभूषित करती हैं। अब प्रकृत प्रसंग पर आइए। इन मानस भावात्मक छापों तथा भौतिक वस्तुओं का क्या

१—He admits it (passive element) as a limiting concept but denies to it any positive, any concrete reality. —वही, पृ० ११

२—Matter in its abstraction is mechanism, passivity...... —एस्थेटिक्स, पृ० ९

३—Mattter is the emotivity not aesthetically elaborated. —वही, पृ० २५

४—Poitical material permeates the soul of all; the expression alone that is to say the form makes the poet. —वही, पृ० ४२

संबंध है? बिंबप्रतिबिंबभाव ही न? फिर इन भावात्मक छापों—मानस द्रव्यों—को अरूप कैसे कहा जा सकता है? उदाहरण के लिये सूर्योदय का दृश्य लीजिए। इसका अंतःसंस्कार, प्रभाव, छाप सभी के मन में है। जब पूर्वोदाहृत अभिव्यंजना अथवा अन्य कोई अभिव्यंजना कलाकार प्रस्तुत करता है तब भावुक के वे ही प्रभाव प्रबुद्ध हो जाते हैं। इसी चमत्कार से सहृदय का मन नाच उठता है। सूर्योदय का जो प्रभाव मन में पड़ा था उसका कोई न कोई रूप अवश्य था। यदि उसको हम रूपहीन कहें तो आनंद-विभोर होकर कही गई इस उक्ति का कि कवि ने स्वाभाविक चित्रण प्रस्तुत किया है, कोई अर्थ न रह जायगा। इसी उदाहरण में नहीं, प्रत्युत संस्कृत साहित्य की किसी भी मार्मिक स्वभावोक्ति के परीक्षण में इसी निष्कर्ष पर पहुँचना होगा कि कवि ने जो रूप उपस्थित किया है वह हमारे हृदय में स्थित मूर्ति से मिलता-जुलता है। अतः भौतिक जगत् की पड़ी हुई मानस भावात्मकता निश्चित रूप से रूपिणी होती है। यह अवश्य है कि सहृदयनिष्ठ रत्यादि भावों का कोई मूर्त रूप नहीं होता, पर उनके भी आलंबन मूर्त ही होते हैं; इसीसे निराकार भी भावों से संबद्ध होने पर साकार हो उठता है। संभव है कि कुछ लोग उसे विराट् रूप में लें, पर साकार तो वह होता ही है। उन भावों को उद्रिक्तावस्था में लाने के लिये विभावादिकों की मनोरम संघटना का श्रेय कवि को ही है। इस दृष्टि से कवि के कर्म काव्य में अभिव्यंजना की मुख्यता प्रमाणित होती है, किंतु सहृदय पक्ष से देखने पर अभिव्यक्ति विशेषतः भाव, स्थायी भाव अथवा रस की प्रधानता ठहरती है। अस्तु, उक्त निष्कर्ष के प्रसंग में इस विवेचन का प्रयोजन यह है कि न तो क्रोचे ने, और न उनके समर्थकों ने प्रतिक्षण अनुभूत होनेवाली द्रव्य की इस स्थिति का विचार किया। पर यह अनुभवसिद्ध पक्ष है—कम से कम हमारी यही धारणा है।

(२) दूसरा निष्कर्ष यह है कि किसी प्रकार द्रव्य और मन का सन्निधान घटित होने पर द्रव्य के रूप की उपस्थिति में मन की कारणता है। इसमें विज्ञानवाद से सूक्ष्म अंतर यह दिखाई पड़ता है कि विज्ञानवाद चित्त के अतिरिक्त किसी की सत्ता मानता ही नहीं, पर क्रोचे का सिद्धांत द्रव्य को मन से भिन्न मानकर भी उसकी रूपोपलब्धि में मन का हाथ बताता है। विज्ञान के प्रतीकत्व और क्रियाअविच्छिन्नत्व से क्रोचे के मन की संगति बैठ सकती है, परंतु जहाँ विज्ञानवाद नानार्थत्व को अध्यस्त मानकर अपना काम कुछ दूर तक चला लेता है वहाँ क्रोचे का वाद तत्त्वदृष्टि से उतनी दूर तक भी साथ नहीं दे पाता। कहने के लिये तो क्रोचे भी कहते हैं कि साँचा (मन) सदा एकरस रहता है, केवल द्रव्यों की विभिन्नता के कारण ही ज्ञान के आकार परिवर्तित हुआ करते हैं।[1] परंतु यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि द्रव्यों की विभिन्नता का कारण क्या है? या तो वे स्वतः अनेक तथा परस्पर भिन्न गुणधर्मों वाले होते हैं अथवा एक होते हुए भी किसी अन्य कारण से उनमें

१—It is the matter, the content that differenciates one of the intuitions from another, form is constant : it is spiritual activity, while matter is changeable.

—एस्थेटिक, पृ॰

अनेकत्व तथा विभिन्न गुणधर्मत्व उत्पन्न हो जाते हैं। पहला पक्ष इसलिये संभव नहीं है कि वैसा मानने से निर्जीवत्व, निष्क्रियत्व एवं अरूपत्व, ये सामान्य धर्म कहे ही नहीं जा सकते थे। जैसे वृक्षत्व, घटत्व आदि धर्मवाले वृक्ष, घट आदि का कोई सामान्य धर्म नहीं बतलाया जा सकता; हाँ, श्लेषादि चामत्कारिक पद्धतियों को छोड़कर। अब यदि हम द्वितीय पक्ष से समाधान करना चाहें तो भी बात नहीं बनती, क्योंकि अन्य कारण केवल साँचा ही ठहरता है जिसमें ढलकर द्रव्य रूपवान् होते हैं—उनका शुद्धत्व विकृत हो जाता है। यदि यह साँचा एक ही है और द्रव्य भी एक ही है तो नानार्थत्व की उपपत्ति नहीं बैठती। यदि कहें साँचा एक ही है पर द्रव्य अनेक हैं, निर्जीवत्वादि लक्षणरूप से निर्दिष्ट हैं, तब भी बात नहीं बनती; क्योंकि जब अनेक रूपहीन भी एक ही साँचे में ढाले जायँगे तब उनमें नानारूपत्व कैसे सिद्ध होगा? यदि यह कहें कि मन में साँचे अनेक हैं और द्रव्य एक ही है पर साँचा विशेष प्राप्त होने पर विशिष्ट रूप में भासित होता है, तब यह कठिनाई उपस्थित होगी कि जो वस्तु हमें एक समय में कुछ दिखाई दी थी उसे दूसरे समय दूसरा दिखाई पड़ना चाहिए था। पर अनुभव इसके विरुद्ध है। कहा जा सकता है कि शृंगारी कवि स्त्री का ऐसा नखशिख-वर्णन प्रस्तुत करता है जिसमें मन रमता है, पर विरागी कवि उसी स्त्री का सांगोपांग ऐसा वीभत्स चित्र उपस्थित करता है जिससे मन घृणा से भर जाता है।[1] इसका क्या रहस्य है? उत्तर है कि इसका कारण रूप का परिवर्त्तन नहीं अपितु उसी रूप से विरोधी भावों का उद्बोधन है। अस्तु अब यदि कहा जाय कि द्रव्य भी अनेक हैं तथा उनके साँचे भी मन में अलग अलग एवं प्रतिनियत हैं तथा द्रव्य स्वभावानुसार ही अपने अपने साँचे ग्रहण कर रूप, तदनंतर सुसंपूर्ण रूप में—सत्तात्मक रूप में—अभिव्यंजित होते हैं तो बात बन सकती है। साँचे को एक, तथा दर्पणस्थानीय मानकर भी काम चलाया जा सकता है पर क्रोचे इसे स्वीकार नहीं करेंगे; और यदि मान भी लें तो भंग्यंतर से उन्हें लोकव्यवहार तथा दार्शनिक परंपरा के एकदेश को, अर्थात् प्रत्येक द्रव्य का अपना व्यवस्थित रूप है इस बात को, स्वीकार करना पड़ेगा जिससे उनके दर्शन का एक पैर टूट जायगा।

विल्डन कार ने क्रोचे द्वारा लिखित 'स्वयंप्रकाश्य ज्ञान और सौंदर्यात्मक व्यापार' शीर्षक निबंध का एक अवतरण अपनी पुस्तक में दिया है जिससे उपर्युक्त विकल्पों का क्रोचे के पक्ष से एक समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है, अतएव उसपर भी विचार कर लेना चाहिए। क्रोचे ने स्वयं प्रश्न उठाया है कि सौंदर्यानुभूति में रूप एवं द्रव्य के अंतर का ज्ञान हमें कैसे होता है। उनका कहना है कि कल्पना कीजिए अ, ब, स—तीन विभिन्न कलाकृतियाँ हैं—तीन भिन्न भिन्न स्वयंप्रकाश्य हैं। जहाँ तक उनमें स्वयंप्रकाश्य की स्थिति

१—इस विचार की पुष्टि संस्कृत के निम्नलिखित श्लोक में बताई जा सकती है—'अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः। यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते'। पर यहाँ परिवर्तन का तात्पर्य रूप-परिवर्तन नहीं प्रत्युत भाव-परिवर्तन ही है जो अगले श्लोक से प्रमाणित होगा—'शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्। स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥'

है वहाँ तक इनमें समानता है और उसे वे रूप या साँचा कहते हैं। इसके अतिरिक्त
ब, स में जो भेदक तत्त्व हैं उन्हें वे द्रव्य कहते हैं।[१] परंतु क्रोचे की यह समान
तथा भिन्नता स्पष्ट नहीं होती। वाल्मीकीय रामायण, रामचरितमानस, और साकेत
एक ही कथावस्तु, एक ही द्रव्य, अनुस्यूत है परंतु अभिव्यंजना, रूप अथवा संघट
वैचित्र्य के कारण ही ये तीन कृतियाँ हैं। स्वयं क्रोचे अभिव्यंजना को ही कवि का
मानते हैं।[२] ऐसी स्थिति में सभी अभिव्यंजनाएँ, एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के समान
परस्पर नितांत भिन्न होंगी और द्रव्य भी तत्तद् कवियों के भावों एवं विचारों से सं
होकर अभिव्यंजित होने के कारण कुछ न कुछ भिन्न होंगे ही। फिर अ, ब, स में रूप
एकता तथा द्रव्यजन्य विभिन्नता कैसे सिद्ध की जा सकती है? यदि अभिव्यंजनासामान्
के आधार पर यह भेद हटाया जा रहा हो तो ठीक है, पर साथ ही यह प्रश्न भी उठता
कि क्या द्रव्य की भी स्थिति है? क्रोचे का उत्तर निषेधात्मक है। वे कहते हैं कि जिस
स्थिति है वह तो रूप, साँचा, या अभिव्यंजना है जिसे अ, ब, स इन तीन स्वयंप्रकाश
अथवा तीन सुसंपूर्ण रूपों में समझा गया है। यह इतना कठोर सत्य है कि यदि
तीन कलाकृतियों के द्रव्य की अभिव्यंजना क्रोचे को करनी हो तो वे उन द्रव्याहित रूपों
पुनः पुनः उच्चारण के अतिरिक्त और कुछ कहना पसंद नहीं करेंगे।[3] परंतु क्रोचे
यह पक्ष भी नहीं जमता। हम जानते हैं कोई भी मनुष्य जन्म से ही अभिव्यंजना
अभिव्यंजना के रूप में ग्रहण नहीं कर सकता। यह तो अनुशीलन और अभ्यास के प्र
का फल है कि कुछ दिनों पश्चात् वह अभिव्यंजना को उसकी पूर्णता में ग्रहण करने लग
है। अतः ग्रहण में पूर्ण योग्य बनाने के लिये रूप तथा द्रव्य को पृथक् पृथक् करके ही
समझाना होगा। क्रोचे ने इस व्युत्पादन-क्रिया पर विचार किया है। वे कहते हैं कि
वस्तुतः द्रव्य की स्थिति तो है नहीं, परंतु वस्तूपस्थापन-सौकर्य की दृष्टि से उसकी

१—How do we get distinction between matter and form in aesthetics? I have before me three different works of art, three different intuitions a, b, c. In as much as they are intuitions, they have something in common which I call form; the differential element by which they are distinguished as a, b, c, I call matter.

—फिलॉसफी ऑव क्रोचे, पृ० ५

२—The poet or painter who lacks form lacks everything because he lacks himself.

—एस्थेटिक्स, पृ० ५

३—Now does the matter exist? obviously not. What exists is the form as a, b, as c, three intuitions or three concrete forms. So true is this that should I wish to express the matter of these works of art, I cannot do so except by repeating the forms of them in which alone the matter exists.

—फिलॉसफी ऑव क्रोचे, पृ० ५

स्थिति मान ली जाती है।[1] क्रोचे की द्रव्यविषयक यह उक्ति भी अन्य उक्तियों की भाँति अरूप होने के कारण द्रव्य की स्थिति स्वीकार नहीं करती। यदि यही बात हो तो हम बेखटके कह सकते हैं कि भौतिक द्रव्यों का रूप तो होता ही है, साथ ही साथ प्रतिबिंब होने के कारण मानस द्रव्यों का भी रूप मानना पड़ेगा। किंतु यदि यह बात न हो तो और भी कोई कारण हो सकता है, इसकी संभावना हमें नहीं होती।

इस प्रकार यद्यपि क्रोचे का मूल दर्शन विचार की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, तथापि उसके विशकलित अंशों को अन्य प्रकार से भी समझा जा सकता है, जिनमें उलझ जाने से ही दार्शनिक बुद्धि भ्रांत हो गई है।

यह तो सर्वमान्य सिद्धांत है कि निमित्त (करण तथा कारणों) के निर्णय का आधार उपलक्षित नैमित्तिकों का विश्लेषण ही होता है। हमारी धारणा यह है कि क्रोचे ने अपने सिद्धांतों की उद्भावनाएँ सौंदर्यानुभूति को उपलक्षण बनाकर की हैं। कार भी क्रोचे के सुसंपूर्ण जगत् (मानस जगत्) को उसके व्यावहारिक पक्ष से सौंदर्याश्रयी तार्किक सत्ता कहकर उक्त कल्पना का समर्थन करता हुआ प्रतीत होता है।[2] इस सौंदर्यानुभूति की चरमावस्था में हम वेद्यांतरशून्य हो जाते हैं। किंतु यह भी निश्चित है कि वही सौंदर्य हमें विगलितवेद्यांतर बना सकता है जो हमारी सौंदर्य-वृत्ति से पूरा पूरा तादात्म्य करले। विशिष्ट प्रकार की रुचिवालों की सौंदर्यानुभूति विशेष प्रकार के आलंबनों से ही जागरित होती है तथा जो आलंबन किसी एक व्यक्ति को जैसा अनुभूतिमय बनाता है वैसा अन्य को (तद्भिन्न रुचिसंपन्न को) नहीं। ये दृष्टांत उक्त कथन के साहचर्य में यह प्रमाणित करते हैं कि हमारा अहंकार तब तक तिरोहित नहीं होता जब तक उसे अपने अतिरिक्त कुछ भी भासित होता रहता है। अपनी ऐकांतिक स्थिति में जहाँ उसे स्व मात्र प्रतीत होता है, वह (अहंकार) उपशम को प्राप्त होता है। यहाँ यह बात भी मान्य है कि सौंदर्य का अधिष्ठान बाह्य भले ही हो पर सौंदर्यानुभूति की वृत्ति, प्रथम मानस वृत्ति, ज्ञानात्मक या भावात्मक होने के कारण अंतःकरण में हो रहती है। चैतन्यस्थानीय मन की वृत्ति होने के कारण इसे चैतन्य-प्रक्रिया भी कहा गया है। यही वृत्ति सौंदर्य के निधान का सुस्पष्ट उपस्थापन अर्थात् सकल कलाओं का विधान करती है। परंतु इस वृत्ति के द्वारा ग्रहण की जानेवाली सौंदर्य की जो सापेक्ष्य धारणाएँ हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि सौंदर्यानुभूति में मानस व्यापार का वैलक्षण्य कुछ अधिक है—सुंदर बाह्यार्थविशिष्ट ही नहीं, आभ्यंतरविशिष्ट भी है। किंतु क्रोचे ने इस अधिक अथवा विशिष्ट प्रत्यय को सवस्व मान लिया। हमारी दृष्टि में यही भ्रांति है। इसी से उन्होंने द्रव्य को स्वीकार करके भी उसके रूप की कल्पना

१—Matter does not really exist, but is posited for the convenience of exposition.

—फिलॉसफी ऑव क्रोचे, पृ० ७५

२—...... ..Croce's meaning that the concrete world is, on its theoretical side, wholly an aesthetico-logical reality.

—वही, पृ० ९

मानस व्यापार के अंत में की । कलाकार, उदाहरणार्थ कवि, में इस तथ्य की विवृति
प्रकार होगी—प्रायः सभी अपने व्यावहारिक जीवन में बाल-गोपाल की झाँकी लेते
परंतु वही झाँकी तुलसी की मानस वृत्ति का विषय हो इन शब्दों में रूपवती हुई—

भोजन करत बोलावत राजा ।
नहिं आवत तजि बाल समाजा ॥
कौसल्या जब बोलन जाईं ।
ठुमुकि ठुमुकि प्रभु चलहिं पराईं ॥
धूसर धूरि भरे तनु आए ।
भूपति बिहँसि गोद बैठाए ॥

भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाइ ।
भाजि चलैं किलकत बदन, दधि ओदन लपटाइ ॥

सूर ने अपने मुद्रित नेत्रों से उसी वस्तु का अवस्था-भेद से इन रूपों में साक्षात्कार किया—

(१) सोहत कर नवनीत लिए—
घुटुरुन चलत, रेनु तनु मंडित, मुख दधि लेप किए ।
(२) कत हौ आरि करत मेरे मोहन यों तुम आँगन लोटी ।
जोइ माँगहु सोई देहुँ मनोहर यहै बात तेरी खोटी ॥
सूरदास को ठाकुर ठाढ़ो हाथ लकुट लिए छोटी ।

वही मूर्ति प्रसाद के आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति में इस प्रकार अभिव्यंजित हुई—

"माँ"—फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी ।
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी ॥
लुटरी खुली अलक रजधूसर बाहें आकर लिपट गईं ।
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी ॥

इसी प्रकार अन्य कलाएँ भी स्वरों, रेखाओं आदि में अपनी अभिव्यंजना करती हैं । क्रो
के अनुसार ये कलाएँ कलाकार तक अपने को सीमित रखकर भी अपने प्रयोजन में सफ
मानी जाती हैं ।

मनि मानिक मुक्ता छवि जैसी ।
अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी ॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई ।
लहहिं सकल सोभा अधिकाई ॥

की उक्ति यहाँ विपरीत हो जाती है । हमारा विचार है कि यह वैपरीत्य भी क्रोचे के
का अच्छा उपस्थापन कर देता है ।

उपर्युक्त निर्दिष्ट व्यष्टिचेतना की, कलाकार की अभिव्यंजनाओं का यह क्रम समष्टि चेतना के व्यापार में भी उपपन्न हो सकता है, जिसके फलस्वरूप हमें जगत् तथा उसकी संपूर्ण विभूतियों का रूप दृष्टिगोचर होता है। परंतु समष्टि चेतना के व्यापार के लिये भी द्रव्य की आवश्यकता पड़ेगी, भले ही वह क्रोचे के लक्षणों से ही युक्त हो। अतः क्रोचे द्वैत सत्ता से अपना पिंड नहीं छुड़ा सकते। यदि वे बिना द्रव्य की सहायता के चेतना का व्यापार चला सकते तभी वे—मानस दर्शन में चेतन या मन की एक सत्ता है, यह कह सकते थे।

व्यष्टि चेतना तथा समष्टि चेतना में जिस एकरूपता की उपपत्ति उपर्युक्त प्रघट्टक में दी गई है उसका अनुमोदन 'इतिहास का विचार' शीर्षक निबंध में मन को इतिहास से संबद्ध करके विल्डन कार ने भी किया है।[1] क्रोचे की दृष्टि से इतिहास क्या है—यह प्रश्न प्रसंगानुकूल होते हुए भी विशेष विस्तार की अपेक्षा रखने के कारण संप्रति त्याज्य है। परंतु कार ने चैतन्य समुद्र में बहुत से व्यक्तियों के स्थिति-प्रकार की जो कल्पना की है वह अवश्य विचारणीय है। उनका विकल्प है कि समष्टि चेतना में व्यक्तियों की स्थिति या तो जलतरंगवत् है अथवा आंतर विकास सिद्धांत पर नित्य वर्धमान, बाह्य प्रभाव तथा प्रेरणा से सर्वथा निरपेक्ष प्रायद्वीपों के समान है।[2] क्रोचे ने स्वतः इस प्रश्न पर विचार नहीं किया था, इसीसे कार ने कल्पना की कि सौंदर्य सिद्धांत के अधार पर समष्टि में व्यक्तियों की स्थिति 'बारि-बीचि जिमि गावहिं वेदा' की न होकर प्रायद्वीपों के समान है। परंतु यहाँ यह विवाद उठ सकता है कि जिस ऐतिहासिक एकरूपता पर समष्टि एवं व्यष्टि में एकरूपता या अभेद का प्रतिपादन किया गया है उसी के आधार पर व्यक्तियों में भी एकरूपता स्वतः सिद्ध है। कार ने इस प्रश्न का प्रत्याख्यान यह कह कर किया है कि जिस इतिहास ने व्यष्टि मन को जन्म दिया है तथा जो उसके स्वभाव का निर्माता एवं उसकी स्थिति के रूप का नियामक है उसी ने कुछ सामान्य स्वभाव भी उत्पन्न किया है; जैसे हम लोगों का मानव स्वभाव।[3] किंतु यह युक्ति क्रोचे की उस उक्ति से बाधित है जिसके द्वारा उन्होंने

१—.........what is true of individual is also true for the universal, which is history.

—फिलॉसफी ऑव क्रोचे, पृ० १९७

२—What is the nature of plurality of individuals? Are individuals eddies in the ocean of universal mind? Or are they monads, each developing in its individual nature on an internal principle of evolution, each secured by that nature against intrusion or effective influence without.

—वही, पृ० १९

३—The history which has produced the individual mind, which constitutes its nature and determines the form of its existence has also produced the common nature or as we say of ourselves, the human nature.

—वही।

काव्य में 'टाइप' का खंडन किया है। अतः कार का यह समर्थन भी जमा नहीं। क्रोचे एकतत्त्ववादी हैं अथवा द्वैततत्त्ववादी—इसपर कार ने अच्छा विचार किया है तथा अंत में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अंतिम अर्थात् पूर्ण दार्शनिक योजना प्रस्तुत करने का दावा क्रोचे का नहीं, प्रत्युत एक ऐसे दर्शन की योजना है जो उसे द्वैततत्त्व-कल्पना से मुक्ति दिलानेवाली है।[1] इस विषय पर पर्याप्त विचार हो चुका है, इसलिये प्रसंगतः इतना ही कहना अपेक्षित है कि द्रविड़ प्राणायाम से किसी वस्तु का यदि उपस्थापन किया जाय तो उससे किसी नवीन प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती।

क्रोचे के चेतन या मन तत्व के विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि वे उसे व्यापार मानते हैं। विल्डन कार ने इस विषय में लिखा है कि यह मानसरूप सत्यता या सत्ता मन एक व्यापार है जिसके रूपों में भेद तथा उनमें क्रम एवं संबंध की व्यवस्था तो की जा सकती है पर उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे परस्पर अभेद्य आवयविक एकता के आश्रय तथा अंतराश्रय पर स्थित है।[2] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब मन ही सत्ता तथा व्यापार रूप हैं तब फिर व्यापारयिता कौन है? क्योंकि कोई भी व्यापार बिना नियामक के नहीं हो सकता। क्रोचे तथा उनके समर्थकों ने इसका उपन्यास कहीं नहीं किया, अतः क्रोचे की चेतन विषयक धारणा भी तर्क के परिपुष्ट आधार पर नहीं टिकी। 'साँचे (मन) को नित्य एकरस तथा द्रव्य को परिणामी' बताते हुए भी उनके हाथ असत्य ही लगा। ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि व्यास की 'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्व एव भावाः ऋते चितिशक्तेः'—यह एक पंक्ति क्रोचे के स्वयंप्रकाश्य का विषय होते होते रह गई। रूपारूप के चक्कर में फँसे रहने के कारण वे उसे ग्रहण न कर सके।

स्वयंप्रकाश्य ज्ञान तथा अभिव्यंजना[3]

मानस दर्शन में मन की कल्पना व्यापार रूप में ही है। व्यापार भी दो प्रकार का माना गया है—प्रथम है ज्ञान तथा द्वितीय क्रिया या संकल्प। ज्ञानात्मक व्यापार मन का प्रथम

१—Croce's claim is not to have presented a final system of philosophy but to have presented a view of philosophy which finally delivers it from the reproach of a dualistic hypothesis. वही, पृ० २[illegible]

२—This mind which is reality or reality which is mind is an activity the forms of which we may distinguish and also we may distinguish the order and relation of the forms; but we cannot separate them, for they are in an indissoluble organic union of dependence and interdependence on one another. —वही, पृ० [illegible]

३—स्वयंप्रकाश्य ज्ञान इंट्यूशन का पर्याय है। इंट्यूशन को हम स्वयंप्रकाश्य नहीं कह सकते, क्योंकि मन के जिस व्यापार से इसकी उत्पत्ति होती है वह द्रव्य के उपस्थित काल में ही आरंभ होता

तथा सैद्धांतिक व्यापार है और संकल्पात्मक या क्रियात्मक व्यापार उसी का व्यवहार पक्ष। अतः ज्ञानात्मक व्यापार पर क्रियात्मक व्यापार अवलंबित है, परंतु क्रियात्मक व्यापार पर ज्ञानात्मक व्यापार आश्रित नहीं।

भारतीय दर्शनों में इस सृष्टि के पाँच भौतिक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये पाँच ज्ञानेंद्रियाँ प्रथम साधन मानी गई हैं, किंतु यदि इन इंद्रियों को मन का सहयोग न प्राप्त हो तो ज्ञान की न तो उत्पत्ति हो सकती है और न क्रिया की निष्पत्ति ही। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि किसी के सामने से कोई चला गया, पर उस व्यक्ति को जानेवाले का पता नहीं चलता। क्यों? चक्षु इंद्रिय से मन का संबंध न होना ही इसमें कारण है। लोकमान्य तिलक का दृष्टांत है कि बारह बजे बजे घंटों की ध्वनि होने लगती है तब एकदम हमें यह पता नहीं चलता कि कितने बजे हैं, प्रत्युत घड़ी की 'टन टन' ध्वनि एक एक करके पवन-प्रवेगों से कानों पर टक्कर मारती है; फिर मज्जातंतुओं की प्रत्येक ध्वनि का हमारे मन पर अलग अलग संस्कार होता है। तदनंतर हम इनको जोड़कर निश्चय करते हैं कि बारह बजे हैं। पशुओं में भी इन संस्कारों तक का क्रम रहता है पर मन की एकीकरणात्मक वृत्ति अविकसित रहने के कारण ज्ञान नहीं होता। अतः विकसित मन की प्रथम वृत्ति है ज्ञान। इसके पश्चात् इच्छा वृत्ति का उदय होता है जिसमें सारासार विवेक के अनुसार यह निश्चय किया जाता है कि अमुक वस्तु ग्राह्य है तथा अमुक त्याज्य। अंत में, ग्राह्य वस्तु को प्राप्त करने तथा त्याज्य को छोड़ने की इच्छा के अनुसार प्रवृत्ति का होना मन की क्रिया-वृत्ति कहलाती है। इसी वृत्ति को मन की व्याकरणात्मक वृत्ति भी कहते हैं। इस प्रकार

है—द्रव्य ही उसे प्रकाशित करता है, अतः वह प्रकाश्य है न कि प्रकाशस्वरूप। वस्तुतः वेदांतियों के आत्मा की भाँति नित्य प्रकाशमान तथा सामने आए हुओं का प्रकाशक तत्त्व, यह क्रोचे का मन नहीं है। हम इंट्यूशन को प्रातिभ ज्ञान भी नहीं कह सकते क्योंकि—

> बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिदर्शिका।
> प्रज्ञानवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता॥

से इंट्यूशन के रंग भरनेवाले अथवा कल्पनात्मक पक्ष का ही ग्रहण होता है, सो भी अभि-व्यंजित का। अनभिव्यंजित पक्ष से प्रतिभा का कोई भी संबंध नहीं जोड़ा जा सकता। साथ ही 'ये घट, पट आदि हैं' इत्याकारक प्रत्यक्षजन्य बोध का तथा 'आनुमानिक शैली' (सिलॉजिज्म) में न बँधनेवाले सत्य को स्वयंप्रकाश्य का विषय बनाओ—इस प्रकार की लौकिक अनुभूति का, इंट्यूशन को प्रातिभ ज्ञान कहने से व्यवच्छेद हो जायगा। इंट्यूशन को सहजानुभूति कहने से उक्त अर्थों का, क्रोचे के दर्शन पक्ष का, ठीक ठीक भावबोध न हो सकेगा। अतः स्वयंप्रकाश्य शब्द सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

एक्सप्रेशन के लिये अभिव्यंजना या अभिव्यक्ति शब्द आ सकते हैं। परंतु अलंकारशास्त्र में प्रथम शब्द पूर्व से ही नियंत्रित है, अतः एक्सप्रेशन के लिये अभिव्यंजना कहना अधिक उपयुक्त होगा।

मन की वृत्तियों का क्रम है—"पूर्वं जानाति, ततो इच्छति, ततः यतते"। नैयायिकों द्वारा निर्धारित मन की इन वृत्तियों को इसी क्रम से पाश्चात्य मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है—नोइंग या कॉगनिशन, फीलिंग अथवा कोनेशन, विलिंग या टेंडेंसी। ज्ञानात्मक वृत्ति को क्रोचे ने भी मन का प्रथम व्यापार माना है, परंतु अंतिम दोनों इच्छात्मक एवं क्रियात्मक वृत्तियों को मिलाकर संकल्पात्मक या क्रियात्मक व्यापार कहा है जो सदा ज्ञानात्मक व्यापार पर आश्रित रहता है। परंतु न्याय तथा सांख्य आदि दर्शनों में जहाँ मन के व्यापारों की चर्चा है वहाँ वे व्यापार मन से अतिरिक्त किसी जीव या पुरुष के संनिधान अथवा साक्ष्य से संपन्न होते हैं। संसार में हम देखते हैं कि कोई भी व्यापार बिना व्यापारयिता-नियंता के नहीं चलता, किंतु क्रोचे ने चेतन अथवा मन को व्यापार रूप ही कल्पित किया है—बिना किसी के संनिधान या साक्ष्य की अपेक्षा के। वैसे तो द्रव्य प्रेरक कहा जा सकता है और विवेचन में कहा भी जायगा, परंतु चेतन का नियमन जड़ करे—यह कैसे संभव है! अस्तु; क्रोचे के अनुसार ऊपर जिस ज्ञान की विवेचना की गई वह संसार में उत्पत्ति-विनाश-शील कहा जाता है तथा वृत्यात्मक है। वेदांत की दृष्टि में यह अंतःकरण का एक धर्म है। इससे आत्मलक्षण ज्ञान की भिन्नता भी समझ लेनी चाहिए जिससे 'माइंड' या 'स्पिरिट' का आत्मा से पार्थक्य, मन से संवादित्व, एवं वृत्ति में ज्ञान के औपचारिक व्यवहार की स्पष्टता हो जायगी। वेदांत की दृष्टि में आत्मा सर्वत्र व्याप्त है। ज्ञान इसका नित्य लक्षण होने से ज्ञान भी सर्वव्यापी हुआ। आत्मा नित्य है, अतः ज्ञान भी नित्य हुआ। परंतु लौकिक ज्ञान सीमित होने के कारण एकदेशव्यापी एवं अनित्य होते हैं। वस्तुतः लौकिक ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी सदैव वतमान रहती है। वेदांत में चेतन आत्मा के सर्वत्र प्रसरित रहने के कारण ज्ञाता अंतःकरणावच्छिन्नचैतन्य, ज्ञेय विषयावच्छिन्नचैतन्य एवं ज्ञान वृत्यवच्छिन्नचैतन्य कहलाता है। जिस प्रकार मठाकाश में रखे घड़े का आकाश तदभिन्न ही रह जाता है—उपाधियों (मठ तथा घट) की एकता से उपधेय (आकाश) में भी एकरूपता आ जाती है—उसी प्रकार जिस समय वृत्यवच्छिन्नचैतन्य इंद्रियों की मध्यस्थता से विषयावच्छिन्नचैतन्य से तादात्म्य प्राप्त करता है उस समय हम वृत्ति में प्रत्यक्ष ज्ञान का व्यवहार करते हैं। तात्पर्य यह है कि वृत्ति स्वयं ज्ञानलक्षणा नहीं है अपितु वृत्ति में चैतन्य ज्ञान का आरोप हो जाता है तथा इंद्रियों से संबंध होने के फलस्वरूप वहाँ वृत्ति प्रत्यक्ष भी कही जाती है। अतएव क्रोचे का मन वेदांत-कल्पित मन से इस विशेषता के साथ मिलता है कि उसमें ज्ञान तथा चैतन्य का औपचारिक संबंध नहीं है। यदि आत्मा से उसका साम्य बैठाया जाय तो अनेक अवच्छेदकों से मन को नियंत्रित करना पड़ेगा। अस्तु, जिस ज्ञानात्मक व्यापार से मनुष्य को ज्ञानोपलब्धि होती है, क्रोचे के अनुसार उसके दो रूप होते हैं—पहला स्वयंप्रकाश्य अथवा कल्पनाजन्य तथा दूसरा प्रमेय या बुद्धि-व्यवसाय-सिद्ध। इन्हीं को क्रमशः व्यक्ति का ज्ञान या किसी विशिष्ट वस्तु का ज्ञान, और जाति का ज्ञान अथवा विविध वस्तुओं के परस्पर संबंध का ज्ञान कहते हैं। वस्तुतः पहले प्रकार का ज्ञान मूर्तियों का विधान करता है और दूसरे प्रकार का ज्ञान विचारों का सर्जन।

व्यावहारिक जीवन में स्वयंप्रकाश्य की उपादेयता और महत्ता स्वयं सिद्ध है। प्रायः लोग ऐसा कहते हुए सुने जाते हैं कि अमुक सत्य की अभिव्यंजना आनुमानिक शैलियों

(सिलॉजिज्म) में नहीं हो सकती। अतः उनकी प्रतीति के लिये स्वयंप्रकाश्य ज्ञान एकमात्र उपाय है। अध्यापक अपने विद्यार्थियों में इसी शक्ति के उन्मेष पर सर्वप्रथम ध्यान देते हैं और आलोचक किसी कलाकृति की समीक्षा करते समय शास्त्रीय सिद्धांतों एवं भावात्मक विचारों को एक ओर रखकर स्वयंप्रकाश्य का सहारा लेना इसीलिये अधिक गौरवास्पद मानते हैं। यही कारण है कि व्यवहारपटु मनुष्य प्रमेयों की अपेक्षा स्वयंप्रकाश्यों से परिचालित होना अधिक पसंद करता है।

किंतु व्यावहारिक जीवन में स्वयंप्रकाश्य का जो महत्त्व है वह सैद्धांतिक एवं दार्शनिक क्षेत्रों में मान्य नहीं। इस क्षेत्र में अत्यंत प्राचीन काल से ज्ञान की वह सर्वमान्य शाखा प्रचलित है जिसे तर्कशास्त्र या आन्वीक्षिकी विद्या कहते हैं। यदि इस क्षेत्र में स्वयंप्रकाश्य की कुछ चर्चा है भी, तो वह अत्यल्प समर्थकों के संनिधान में बहुत ही दबी हुई है। अधिकांश लोगों का तो यह दावा है कि प्रमेयज्ञान के आलोक से रहित भला यह स्वयंप्रकाश्य ज्ञान है क्या वस्तु ? ये लोग स्वयंप्रकाश्य को दृष्टि-विरहित ज्ञान मानते हैं। कहते हैं कि उसे प्रमेय से ही दृष्टि-दान मिलता है।

इन लोगों के विरोध में क्रोचे ने स्वयंप्रकाश्य ज्ञान को स्वीकार किया है, और स्वतंत्र ज्ञान के रूप में स्वीकार किया है। उसे न तो किसी के आलोक से आलोकित होने की आवश्यकता है और न किसी प्रमेय से दृष्टि-दान लेने की अपेक्षा। वह तो स्वयं दिव्यदृष्टि संपन्न है। दूसरे की आँखों में उसे देख सकने की सामर्थ्य नहीं। अपने अंतश्चक्षुओं से ही उसका रूप-बोध होता है। यह संभव है कि बहुत से स्वयंप्रकाश्यों में प्रमेय अनुस्यूत मिलें, पर साथ ही ऐसे अनेक स्वयंप्रकाश्य भी मिलेंगे जिनमें किसी प्रकार का संमिश्रण नहीं मिलता। जब छिटकी हुई शरच्चंद्रिका का अवलोकन करते ही किसी चित्रकार की मानस-कलिका प्रस्फुटित हो उठती है अथवा वर्षा के आरंभ में क्षितिज पर घुमड़ घुमड़ कर उठनेवाली कादंबिनी को देखकर प्रमत्त मन-मयूर नर्तन करने लगते हैं तथा क्षण क्षण पर कौंधनेवाली विद्युच्छटा के साथ ही विरह-विधुरा ललनाओं के हृदय में हूकें उठने लगती हैं या विहाग की मधुर तान सुनकर संयोगियों के मन द्रवित होने लगते हैं तब ऐसे स्वयंप्रकाश्यों में प्रमेय की छाया तक स्पर्श नहीं करती। फिर भी यदि मान लिया जाय कि सभ्य जीवन के स्वयंप्रकाश्यों में प्रमेय अंतर्भुक्त रहा करते हैं, तो यह विचारणीय हो जाता है कि ऐसी दशा में वे अपना रूप क्या अक्षुण्ण रख सकते हैं। क्रोचे का उत्तर है--कदापि नहीं। ऐसे प्रमेय प्रमेय नहीं रह जाते। वे स्वयंप्रकाश्य के एक उपादानमात्र रह जाते हैं। स्वयंप्रकाश्य में प्रविष्ट होते ही उनकी स्वतंत्र प्रतिष्ठा नहीं रह सकती। उसमें मिलकर वे निःशेष हो जाते हैं। वस्तुतः यह संमिश्रण तिलतंडुलवत् न होकर नीरक्षीरवत् होता है। आलंकारिक क्रमशः इनको संसृष्टि और संकर कहते हैं। अतः प्रमेयगर्भ स्वयंप्रकाश्यों को हम संकर संमिश्रणवाला कह सकते हैं। इस संमिश्रण-वैचित्र्य के कारण ही त्रासद (ट्रेजिडी) या कामद (कॉमेडी) काव्य के पात्रों द्वारा कही गई सैद्धांतिक उक्तियों को हम सिद्धांत-निरूपण के रूप में न स्वीकार करके उसे वक्ता के चरित्र के रूप में ही स्वीकार करते हैं। जैसे 'रामचरित मानस' में अनेक अवसरों पर स्त्रियों के विषय में कुछ न कुछ कहा गया है। समुद्र मर्यादापुरुषोत्तम

श्री रामचंद्रजी से जब कहता है कि—'ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी। ये सब ताड़ना के अधिकारी।'—तब इससे उसके प्रकृत चरित्र की जड़ता तथा अवसरप्राप्त भयजन्य दीनता का ही प्रकाशन होता है। यदि इसे कोई सिद्धांत-वाक्य के रूप में ग्रहण करके यह अर्थ लेने लगे कि ढोल की भाँति स्त्रियाँ भी ठठाई जाकर चमत्कारकारिणी होती हैं तो सामान्य रूप से किसी भी व्यक्ति को व्याख्याकार की बुद्धि पर संदेह होना स्वाभाविक है। प्रायः इसी प्रकार काव्य में आने वाली उक्तियों का चारित्र्यपरक अर्थ हो जाया करता है। एक यदि चित्र का कोई स्थल किसी रंग से रँगा हो तो हम उस रंग को भौतिक विज्ञान की दृष्टि से न देखकर चित्रनिर्माण के विविध उपादानों में से एक मानेंगे। इसी तरह यदि किसी कलाकृति का अधिकांश भाग दार्शनिक प्रमेयों से भरा हो, और कल्पना कीजिए कि उन प्रमेयों की सूक्ष्मता भी किसी दार्शनिक ग्रंथ के समान ही हो, तो क्या वह कृति शास्त्रीय या वैज्ञानिक कही जायगी? कभी नहीं। जैसे—

विषमता की पीड़ा से व्यस्त,
हो रहा स्पन्दित विश्व महान।
यही दुख सुख विकास का सत्य,
यही भूमा का मधुमय दान॥
नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान।
व्यथा से नीली लहरों बीच,
बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान॥

कामायनी की इन पंक्तियों में 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' के अनुसार संसार को समझाने का सफल प्रयत्न है। सामान्य रूप से ज्ञात वस्तु का (निर्विकल्पक ज्ञप्ति का) अनुसंधानपूर्वक विशेष निरूपण प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है।[1] इस दर्शन में शिव आनंदस्वरूप तथा एकरस माने गए हैं जो बिना किसी उपादान के संसार की निरालंब रचना करते हैं—

निरुपादान संसारंमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने॥ —शैवागम

परंतु एकरस रहनेवाले आनंद-संदोह शिव से विषम सृष्टि का निर्माण कैसे हो सकता है? अतः द्वंद्वात्मिका शक्ति की कल्पना की गई जिससे युक्त होने का परिणाम हुआ जगत्। इसीसे आचार्य शंकर ने सौंदर्यलहरी में कहा है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।
न चेदेवं देवः न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥

१—ज्ञातस्यापि विशेषतो निरूपणमनुसन्धानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञानं न तु तदेवेदमित्येतावन्मात्रम्।—लोचन, पृष्ठ ९८

अतः विश्व का मूल है द्वंद्व—वैषम्य। इसके उपलक्षण हैं सुख एवं दुःख। इनमें भी दुःख व्यापक है और सुख व्याप्य। लौकिक अनुभूति इसका प्रमाण है। परंतु इनके मूल में एक रसरूप शिव विद्यमान हैं जिनकी 'प्रत्यभिज्ञा' से समरसता आती है तथा सामरस्य की प्रतीति होने पर "द्वैत" भी आनंद निस्यंद हो जाता है—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योः जीवात्मपरमात्मनोः॥ —शैवागम

इस समरसता के आनंद का समर्थन उपनिषद् भी करके हैं—"आनन्दात्खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देनैव जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्ति।"

उक्त अवतरणिका को ही श्रद्धा अपने वसंत के दूत को हृदयंगम कराना चाहती है। वह कहती है कि यह महान् विश्व वैषम्य से पीड़ित होने के कारण ही स्पंदनशील है। विषमता ही इस जगत् का जीवन है। विषमता से रहित होकर एकरसत्व प्राप्त करना सृष्टि का उच्छेद ही है, क्योंकि एकरसत्व तो शिवत्व है और जब वह द्वंद्वात्मिका शक्ति की लीला से रहित रहेगा तब फिर संसार कहाँ? अतः जिस विषमता को तुम जगत् की ज्वालाओं का मूल तथा सांसारिक अभिशाप समझ रहे हो वह विश्व की स्थिति का मूल एवं ईश का वरदान है। यह वैषम्य द्वंद्वात्मक स्वभाव है अतः अलौकिक सुख-दुःख के विकास की कुंजी भी यही है। यही विषमता हमें 'भूमा' की—समष्टि दृष्टि अथवा परप्रत्यक्ष की ऋतंभरा प्रज्ञा का आस्वाद कराती है। यह 'भूमा' बहुत्व का बोधक है। उपनिषदों में इसकी बड़ी प्रशस्ति गाई गई है—'यो वै भूमा तत्सुखम्', 'नाऽल्पे वै सुखमस्ति भूमा वै सुखम्' इत्यादि। यह भूमा अनुकूलवेदनीय तथा व्यष्टि सुख का तिरस्कार करती है, क्योंकि इससे सुख की सीमा संकुचित हो जाती है। अतः संसार के मूल रहस्य को, अनुकूल-वेदनीय तथा प्रतिकूलवेदनीय को, समान अनुभव करके दोनों में आनंदोपलब्धि करना भूमा है। इसी प्रकार व्यष्टिगत सुख को समष्टिगत सुख में पर्यवसित कर देना भूमा है। यह भूमा मधुमय है। मधुमय के लिये योग-सूत्र "ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा" के व्यास-भाष्य में लिखा है—"ऋतम्भरा प्रज्ञैव मधुः मोदमयत्वात्"। अतः जो वैषम्य भूमा-सुख का आस्वाद करानेवाला है उससे उपेक्षावृत्ति कैसी? इसी से श्रद्धा मनु को भयभीत न होकर वैषम्य में अग्रसर होने की प्रेरणा करती है।

इस तत्त्व को समझाते हुए अभिनवगुप्त ने अपने गुरुवर्य उत्पलपाद के इस श्लोक को उदाहृत किया है—

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यान्तिके।
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा॥
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणो स्वात्मापि विश्वेश्वरो।
नैवालं निजवैभवाय तदलं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता॥

दूसरे पद्य में वह फिर मनु से कहती है कि वैषम्य से आगे बढ़ने पर तुम्हें स एकरस रहने वाले शिव का दर्शन प्राप्त होगा। प्रत्येक जीव का शिवस्वरूप होने की समरस (शिवत्व) में नित्य अधिकार है। जिस प्रकार कारण व्यापक रहकर प्रत्येक का में अनुस्यूत रहता है उसी प्रकार समरसता व्यापक होकर सबके मूल में स्थित है। जै समुद्र परम व्यापक होने के कारण चारों ओर से उमड़ता हुआ दिखाई पड़ता है और उस उठनेवाली नीली लोल लहरियों के मध्य ज्योतिष्मान मणिसमूह बिखरते हुए दिखा देते हैं वैसे ही अत्यंत व्यापक समरसता में उठनेवाली दुःख की नील लहरियों के बी मणिगण के समान चमकीले सुखस्वप्न भंग होते रहते हैं। अतः तुम्हें क्षणिक सुख-दु की चिंता छोड़कर समरसता की ओर बढ़ना चाहिए। शैवागम के अनुसार यही लोक कल्याण भी है।

इस प्रकार उपर्युक्त वाग्विस्तार को—दार्शनिक प्रमेयों को—उसी सूक्ष्मता से दो प में कस देने पर भी जैसे ये पद्य काव्य-क्षेत्र की वस्तु ही रहे—कुछ विज्ञान या शास्त्रीय क्षे की वस्तु नहीं हुए, उसी प्रकार उन दार्शनिक एवं शास्त्रीय ग्रंथों के बारे में भी सम चाहिए जिनके उपस्थापन में वर्णनों तथा स्वयंप्रकाश्यों की प्रधानता रहती है। अतः क्रो शास्त्रीय कृति या प्रमेयों में और कलाकृति वा स्वयंप्रकाश्यों में लक्ष्य-भेद मानते हैं, न प्रस्थान-भेद।[1] उनके अनुसार ये ही विभिन्न लक्ष्य अपने अपने क्षेत्रों में प्रधान रह अनुकूल नियमों से परिचालित होते रहते हैं। जहाँ प्रमेयों से हमारे ज्ञान-भंडार में तथ्य की संख्या अधिक हो जाती है वहाँ स्वयंप्रकाश्यों से अंतःकरण में मधुर स्पंदन होने लग है। प्रथम ज्ञानोन्मेष के प्रति तथा द्वितीय सौंदर्यभावना के प्रति कारण हैं। इन्हीं के क्रमिक परिणाम हैं विज्ञान और कला। कला और काव्य या साहित्य का अंतर यद्यपि 'काव्य और कला' शीर्षक निबंध में लिखा गया है तथापि इस प्रसंग में हम इन्हें त विज्ञान और शास्त्र को समानार्थ में ग्रहण करेंगे।

इसी प्रसंग में क्रोचे के लक्ष्य-भेद तथा भारतीयों के प्रस्थान-भेद की तुलनात्म चर्चा भी कर लेनी चाहिए। जैसा ऊपर कहा गया है, क्रोचे के अनुसार स्वयंप्रकाश्य ज्ञा कला है और उसका क्षेत्र है मानस जगत्, पर बुद्धि-व्यवसाय-सिद्ध-ज्ञान का लक्ष्य है विज्ञा या शास्त्र और उसका क्षेत्र है व्यवहार-जगत्। इस प्रकार सामग्री एवं क्षेत्र की भिन्नता दोनों विभिन्न लक्ष्यवाले हैं। परंतु भारतीय दृष्टि साहित्य एवं शास्त्र में प्रस्थान-भेद मानती है, लक्ष्य-भेद नहीं। भले ही एक का उपदेश कांतासम्मित हो और दूसरे का प्र सम्मित हो, परंतु दोनों का लक्ष्य पुरुषार्थ की—परम पुरुषार्थ की—प्राप्ति कराना ही है।[2]

१—The difference between scientific work of art, that is between an intellect fact lies in the result, in the diverse effect aimed at by their represent authors.

—एस्थेटिक्स, पृ०

२—धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥

यदि दशरूपककार ने कभी लक्ष्य-भेद की चर्चा की तो तुरंत वक्रोक्तिजीवितकार ने उसका समाधान प्रस्तुत कर दिया। धनंजय का कहना था कि यदि शास्त्रों की भाँति साहित्य का प्रयोजन व्युत्पत्ति एवं उपदेश कराना ही है तो इसकी नवीन रचना हुई क्यों? व्युत्पत्ति तथा उपदेश के कार्य तो अन्य शास्त्रों से चलते ही थे। अतः काव्य का प्रयोजन है आस्वाद-जन्य आनंद की उपलब्धि कराना।[1] यहाँ धनंजय का 'ही' पद ध्यान देने योग्य है। इसी से कुंतक ने समाधान के लिये काव्य के द्विविध प्रयोजनों की अवतारणा की—प्रथम है परंपरित या काव्यानुभूति के पश्चात् का प्रयोजन तथा द्वितीय है साक्षात् या काव्यानुभूति का प्रयोजन। प्रथम में उपदेश एवं व्युत्पत्ति की[2] तथा द्वितीय में आनंद की प्रतिष्ठा रहती है।[3] कुंतक के इस निर्णय की महत्ता का प्रमाण यही है कि आज के मर्मज्ञ साहित्यक भी काव्य में रस के साथ उपयोगिता की खोज करते हैं। इसीसे भारतीय काव्य का संबंध क्रोचे की कला की भाँति अंतर्जगत से ही न रहकर व्यवहार-जगत् से भी है। अस्तु, अब तक स्वयंप्रकाश्य के संबंध में जो चर्चा हुई उससे यद्यपि यह ज्ञात हो जाता है कि क्रोचे स्वयंप्रकाश्य ज्ञान को सर्वथा स्वतंत्र मानते हैं, तथापि इससे उसके स्वभाव एवं रूपरेखा की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः इस लक्ष्य के अनुसार विषय को उपस्थित करते हुए क्रोचे ने अनेक प्रकार के पूर्वपक्षियों का समाधान भी किया है। पूर्वपक्ष की भ्रांतियों के कारण वे लोग बताए गए हैं जो चलते ढंग से स्वयंप्रकाश्य को स्वीकार कर लेते हैं। जैसे स्वयंप्रकाश्य को प्रत्यक्ष कहनेवाले। दूसरे प्रकार के लोग वे हैं जो क्रोचे की वस्तु को प्रमेयपरतंत्र तो नहीं कहते, पर उसकी निजी व्याख्या देते हैं, जैसे स्वयंप्रकाश्य को संवेदन आदि कहनेवाले लोग। क्रोचे ने इन व्याख्यानों का भी समाधान किया है।

कुछ लोग स्वयंप्रकाश्य से प्रत्यक्ष का या वास्तविक वस्तु के ज्ञान का तात्पर्य लेते थे। क्रोचे ने स्वयंप्रकाश्य को प्रत्यक्ष रूप ही कहा है, परंतु प्रत्यक्ष को वास्तविक विषयों का स्थूलेंद्रियों से ग्रहण किया जाना मात्र नहीं माना है। उनके अनुसार इस प्रत्यक्ष के आभोग में ही अक्लिष्ट कल्पना का भी अंतर्भाव हो जाता है। उदाहरणार्थ, कोई इस कमरे में बैठा कुछ लिख रहा है। सामने मेज पर कलम, दावात, कागद आदि हैं जिनका समय समय

१—आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्ति मात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योपीतिहासादिवदाह साधुःतस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय॥ —दशरूपक, १।६

२—व्यवहारपरिस्पन्द सौन्दर्यं व्यवहारिभिः। सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥
—वक्रो० जी०, १।४

धर्मादिसाधनोपायः चतुर्वर्ग क्रमोदितः। काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥
—वही, १।३

३—चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्। काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो विधीयते॥
—वही, १।५

पर लेखन की क्रिया में उपयोग हो रहा है। यह भी स्वयंप्रकाश्य ज्ञान या प्रत्यक्ष है। यदि कोई यहाँ बैठे हुए इस व्यापार की किसी अन्य स्थल में कल्पना कर ले तो वह भी स्व- प्रकाश्य अथवा प्रत्यक्ष ही होगा। इस प्रकार स्वयंप्रकाश्य के शुद्ध स्वभाव में वास्त- या काल्पनिक का भेद नगण्य है, बाह्य अथवा गौण है। हाँ, यह अवश्य है कि यदि किसी ऐसे व्यक्ति के स्वयंप्रकाश्य की कल्पना करें जिसका उन्मेष उस व्यक्ति में सर्वप्र- हुआ हो, तो निश्चय ही वह उन्मेष वास्तविक वस्तु का ही हुआ होगा। जैसे, कल्पित व्यक्ति को गोशब्दोच्चारण के अव्यवहितोत्तरक्षण में विशिष्ट खुरविषाणककुदपुच्छादि सं- पशु का स्वयंप्रकाश्य ज्ञान (सविकल्पक ज्ञान परंतु मानस व्यापार में) हो तो यह मान- ही पड़ेगा कि उक्त पशु का साक्षात्कार उसने पहले अवश्य किया था जिससे नाम और ना- के—"एकसंबंधिज्ञानमपरसंबंधिनं स्मारयति" के—बल से नाम सुनते ही नामी संस्कार उद्बुद्ध हो गया। किंतु यदि ज्ञान की वास्तविकता का आधार वास्तविक मूर्ति और अवास्तविक मूर्तियों का (व्यावहारिक) भेद माना जाय, पर मूलतः यह (पारमार्थि- भेद न हो तो ये स्वयंप्रकाश्य वास्तविक या अवास्तविक मूर्ति के स्वयंप्रकाश्य न होंगे, शुद्ध स्वयंप्रकाश्य होंगे। वस्तुतः वास्तविक और अवास्तविक कल्पनाएँ सापेक्षिक हैं। एक के अभाव में दूसरे का अभाव स्वयंसिद्ध है। इसीसे क्रोचे ने कहा कि स्वयंप्रकाश्य सब कुछ वास्तविक है और कुछ भी वास्तविक नहीं। इस ज्ञान की दशा से साम्य र- वाली बालकों की वह अवस्था बताई गई है जिसमें सत्यासत्य का विवेक, इतिहास- का अंतर, तिरोहित रहता है। अतएव वास्तविक प्रत्यक्ष एवं संभाव्य मूर्ताभिधान- के विकल्परहित या संकल्पात्मक ऐक्य को ही स्वयंप्रकाश्य ज्ञान कहते हैं। प्रमेय ज्ञान में प्रमाणों के आधार पर ज्ञेय के विश्लेषण से ही ज्ञानोत्पत्ति होती है—ज्ञातृत्व का प्रतिफल- ज्ञान में नहीं होता, किंतु स्वयंप्रकाश्य ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय की तटस्थ स्थिति नहीं रह- अपि च ज्ञेय के ऊपर पड़े हुए प्रभावों की अभिव्यंजना ही ज्ञान का आधार रहती है।[1]

क्रोचे द्वारा की गई स्वयंप्रकाश्य की उपर्युक्त परिभाषा पर विचार करने से विदि- होता है कि उन्हें इस ज्ञान के आकार में भी सर्वांगीण सुसंबद्धता उसी प्रकार अभीष्ट जिस प्रकार भारतीय आलंकारिकों को 'अम्लान प्रतिभोद्भिन्न' तथा 'विशिष्टरूपतया ज्ञा- मान' विभावों (और अनुभावों) के उपस्थापन में सुश्लिष्टता अभीप्सित है। जिस प्र- सहृदय की सामान्यावस्थापन्न बुद्धि के यत्किंचित् अधिक व्यापार को रसशास्त्री रसास्वाद- बाधक मानते हैं, उसी प्रकार क्रोचे भी स्वयंप्रकाश्य ज्ञान में थोड़ा भी बुद्धिविक्षेप सहन न- करते। परंतु जैसे गहन दार्शनिक सिद्धांत भी प्रसिद्ध होने के पश्चात् काव्योपनिबद्ध हो-

---

१—Intuition is the indifferentiated unity of the perception of the real an- of the simple image of the possible. In our intuition we do not oppo- ourselves to external reality as emperical beings, but we simply objecti- our impressions, whatever they be.

—एस्थेटिक्स, पृ०

पर अन्य सामग्रियों के साहचर्य से रस-प्रतीति में बाधक नहीं होते, वैसे ही बड़े बड़े प्रमेय भी सामान्यात्मक होकर (क्रोचे की दृष्टि से विशिष्ट होकर) जब स्वयंप्रकाश्य के विषय बनते हैं, अर्थात् जब मन अपनी क्रिया से उन्हें आत्मसात् कर लेता है, तब इससे भी स्वयंप्रकाश्य के स्वरूप में त्रुटि नहीं होती। इस प्रकार यद्यपि स्वयंप्रकाश्य और रस—इन दोनों की अनुभूतियाँ छुईमुई की भाँति बुद्धि-स्पर्श से बचाई जाती हैं, अतः इस अंश में समता देखी जा सकती है, परंतु इसके अतिरिक्त पर्याप्त भेद भी है। जैसे, रसशास्त्री लौकिक उपादानों की अलौकिक (विभावन व्यापारादि की) उपस्थिति द्वारा उत्पन्न रसानुभूति को अलौकिक (लोकभिन्न) मानते हैं, परंतु क्रोच लौकिक उपादानों की लौकिक (भौतिक वस्तुओं से जगाई गई) तथा अलौकिक (काल्पनिक)—इन उभयात्मक उपस्थितियों द्वारा उत्पन्न अनुभूति को अलौकिक (दिव्य) मानते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि भारतीय अलौकिक पद में पर्युदास समास करते हैं और क्रोचे प्रसज्य-प्रतिषेध का अर्थ लेते हैं। यहाँ स्पष्ट है कि क्रोचे ने सौंदर्यानुभूति में प्रत्यक्षजन्यानुभूति और कल्पनाजन्यानुभूति का समाहार किया है, किंतु रसशास्त्री भावयित्री प्रतिभाजन्यानुभूति को ही रसानुभूति में स्वीकार करते हैं। इन दोनों अनुभूतियों में एक भेद यह भी है कि स्वयंप्रकाश्य कल्पना का बोधपक्ष है, जिसमें भाव का (मनोवैज्ञानिक तथा भारतीय साहित्यशास्त्र की दृष्टि से) ग्रहण नहीं हो सकता—असंभव है।[1] पर रसानुभूति तो स्थायी भाव की ही होती है। स्वयं क्रोचे ने तो इन भावों की सत्ता ही स्वीकार नहीं की है, कारण जो भी हो। किंतु रसानुभूति में "विज्ञार्थत्व" लिपटा हुआ है। भंग्यंतर से क्रोचे ने भी भावों को स्वीकार किया है।[2]

स्वयंप्रकाश्य ज्ञान को कुछ दार्शनिकों ने संवेदन या इंद्रियबोध से संबद्ध किया है। यह संवेदन मनोवैज्ञानिकों द्वारा दिया गया अर्थ वहन करता है। उन्होंने इसको भी एक प्रकार का ज्ञान माना है। इसको समझने के लिये नैयायिकों के प्रत्यक्ष ज्ञान के भेदों को समझ लेना चाहिए, जिससे बोध में स्पष्टता और सरलता हो। प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—निर्विकल्पक तथा सविकल्पक। निर्विकल्पक में 'कुछ है' इत्याकारक अस्पष्ट ज्ञान होता है। अतः उसमें संदेह की कोटि न आनी चाहिए, क्योंकि इससे भी ज्ञेय का कुछ न कुछ रूप स्पष्ट हो जाता है। सविकल्पक ज्ञान वह है जिसमें हम वस्तु को उसके अवयवों की स्पष्टता सहित जान लेते हैं। क्रोचे का स्वयंप्रकाश्य ज्ञान कल्पना में मन की प्राथमिक क्रिया से उपस्थापित सविकल्पक ज्ञान ही है, और मनोवैज्ञानिकों का संवेदन अथवा इंद्रियबोध निर्विकल्पक ज्ञान या उसके अव्यवहितोत्तर क्षण की स्थिति है। जिन दार्शनिकों के मत में यह संवेदन ही स्वयंप्रकाश्य है उनके दो संप्रदाय हैं। पहला देश और काल के अनुसार रूपवान् एवं व्यवस्थापित संवेदन को ही स्वयंप्रकाश्य ज्ञान कहता है और दूसरा शुद्ध संवेदन को ही।

१—पं० रामचंद्र शुक्ल लिखित 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', पृष्ठ १९७ से १९८ तक।

२—वही, पृष्ठ २०५ से २०६ तक।

प्रथम पक्ष वाले स्वयंप्रकाश्य के दो रूपों की कल्पना करते हैं। ये हैं—देश और काल। इस कल्पना का कारण यह है कि जब भी उक्त ज्ञान की निष्पत्ति होती है तब उसमें देश एवं काल की उपाधियाँ लगी रहती हैं, अतः स्वयंप्रकाश्य के रूपाध्यायक होने से उसके ये दो रूप होते हैं।[1] क्रोचे ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा है कि जिस प्रकार प्रमेयगर्भ स्वयं-प्रकाश्य भी स्वयंप्रकाश्य ही रहते हैं, उसी प्रकार देश और काल से उपहित स्वयंप्रकाश्य भी अपने स्वयंप्रकाश्यत्व का त्याग नहीं करते। उन्होंने इसमें प्रमाण उपस्थित किया है कि जैसे प्रमेयहीन स्वयंप्रकाश्यों के निदर्शन से उनकी स्वतंत्रता का प्रतिपादन हुआ था, वैसे ही देश और काल से सर्वथा मुक्त स्वयंप्रकाश्यों की उपस्थिति से उनका स्वातंत्र्य सिद्ध हो सकता है। उदाहरणार्थ, जिस समय आकाश का एक अनुरंजित खंड, भाव की एक सरस लहरी, एक व्यथा भरी आह हमारी चेतना में प्रतिफलित होती है, यद्यपि उस समय देश-काल की प्रतीति तिरोहित रहती है तथापि हमें स्वयंप्रकाश्य ज्ञान होता है। इस आधार पर क्रोचे ने सिद्ध किया है कि देश-काल भी अन्य सहायक उपादानों की भाँति स्वयंप्रकाश्यों में रह सकते हैं परंतु वे उसके स्वरूपाधायक नहीं हो सकते। अतः सिद्धांत में यह बात आई कि स्वयंप्रकाश्य ज्ञान किसी कलाकृति में देश-काल को अभिव्यंजित न करके किसी व्यक्ति या चरित्र अथवा

१—इन दार्शनिकों की वस्तु को यदि भारतीय दार्शनिक पदावली में उपस्थित किया जाय तो स्वयंप्रकाश्य का अर्थ होगा देशकालावच्छिन्नत्व ज्ञान। क्रोचे के इस पूर्वपक्ष में भी कोई दम नहीं है। वस्तुतः एक आध स्थलों को छोड़कर उन्हें ऐसे ही लचर पूर्वपक्षों का सामना करना पड़ा है। सामान्य बुद्धिवादी को भी विदित है कि इस ब्रह्मांड के प्रति देश और काल की सामान्य कारणता है, तब केवल किसी स्वयंप्रकाश्य को ही इनका अवच्छेद्य बनाने की आवश्यकता क्या? यदि कोई भारतीय काव्य से—

> "स्मरसि सुतनु तस्मिन्पर्वते लक्ष्मणेन
> प्रतिविहितसपर्या सुस्थयोस्तान्यहानि।
> स्मरसि सरसनीरां तत्र गोदावरीं वा
> स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि॥"

तथा—

> "समविसमणिव्विसेसा समन्तओ मन्द मन्द संआरा।
> अइरा हो हिन्ति पन्थानं मणोरहाणां दुल्लङ्घाः॥"

इन देश और काल की क्रमिक अभिव्यक्तियों को उपस्थित करके उक्त पक्ष का मंडन करना चाहे तो हो नहीं सकता, क्योंकि अभिव्यक्तियाँ अनेकों की हो सकती हैं। प्रधानता को लेकर—प्रधानाभेदोमहदध्यवसायकरः—इस न्याय से कहीं कहीं देश-काल की अभिव्यक्ति भी होती है, परंतु इससे रूपाधायकत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

किसी वस्तु की आकृति के समान उसके गुणों की अभिव्यंजना करता है।[1] क्रोचे ने बताया है किस प्रकार अन्य दार्शनिकों ने भी स्वयंप्रकाश्य ज्ञान के इस चरित्रोद्घाटन-कार्य को स्वीकार किया है। क्रोचे ने देश और काल को स्वयंप्रकाश्य का स्वरूपाधायक न मानने में दूसरा कारण यह उपस्थित किया है कि उक्त ज्ञान के विषय सरल और साधारण होते हैं, परंतु देश और काल की कल्पनाएँ मिश्र एवं अनन्यसाधारण हैं। उन्होंने यह भी बताया है कि किस प्रकार देश और काल में रूपाधायकत्व, भेदकत्वादि धर्मों को माननेवाले भी उसकी प्रकारांतर से व्याख्या कर रहे हैं। उदाहरण के लिये, कुछ लोग स्वयंप्रकाश्य को केवल देशत्ववर्ग में ही समाहित मानते हैं और प्रतिपादन करते हैं कि काल का आकलन भी देश द्वारा हो सकता है।[2] अन्य लोगों का विचार है कि देश लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाई (यूक्लिड-सिद्धांत)—इन तीनों उपाधियों से रहित है, क्योंकि दार्शनिक दृष्टि से इनकी कोई आवश्यकता नहीं।[3] क्रोचे ने पहले सिद्धांत पर अनेक विकल्प किए हैं—(१) भला वह कौन सा देशत्व धर्म होगा जो काल का भी नियंत्रण कर सके ? (२) क्या यह एक सामान्य स्वयंप्रकाश्य व्यापार के निर्देश का प्रयत्न तो नहीं, जो अनेक आलोचनाओं और निषेधों का फल हो ? (३) जब हम स्वयंप्रकाश्य को देश और काल का अभिव्यंजक न कहकर चारित्र्यविधायकमात्र कहते हैं तो क्या भ्रम में हैं ? क्या इसमें और भी स्पष्टता नहीं आती जब हम इसे वस्तुओं का पूर्ण एवं ऐकांतिक बोध करानेवाले व्यापार या विभाग की इकाई मान लेते हैं ?

उक्त रीति से स्वयंप्रकाश्य को देश और काल के घेरे से निकालकर, किस प्रकार संवेदन अथवा इंद्रियबोध से वह भिन्न है—इसका उपपादन क्रोचे ने किया। पहले कहा जा चुका है कि संवेदन का स्वरूप क्या है। क्रोचे इसे द्रव्य मानते हैं। इसलिये मन उसे

१—That which intuition reveals in the work of art is not space and time, but character, individual physiognomy.

भारतीय साहित्य में क्रोचे के इस कथन की पुष्टि—यत्राकृतिस्तत्र गुणाः वसन्ति—तथा इस प्रकार की अन्य सूक्तियाँ करेंगी। परंतु इतना स्मरण रखना यहाँ भी आवश्यक है कि संस्कृत साहित्य का लक्ष्य रस-परिपोष करना ही था, चारित्र्य-वैचित्र्य का निरूपण या उद्घाटन नहीं। आनुषंगिक रूप से यह भी होता गया है—यह दूसरी बात है।

२—Some reduce intuition to the unique category of spatiality, maintaining that time also can only be conceived in terms of space.

—एस्थे०, पृ० ८

३—Others abandon the three dimensions of space as not philosophically necessary, and conceive the function of spaciality as void of every particular spatial determination.

उसके शुद्ध रूप—निर्जीवत्व, निष्क्रियत्व, अरूपत्व विशिष्ट रूप में ग्रहण नहीं कर सकता। जीवस्वरूप, गतिशील एवं साँचेवाले मन द्वारा ग्रहण किए जाने योग्य अवस्था तक पहुँचने के लिये संवेदन को मानस सविकल्पक स्थिति तक पहुँचना आवश्यक है। यहाँ तक आते आते इंद्रियबोध का अपना रूप नष्ट हो जाता है—वह स्वयंप्रकाश्य के रूप में ही परिवर्तित हो जाता है। जैसे स्वयंप्रकाश्य ज्ञान प्रमा-ज्ञान में परिणत होता है, ठीक वैसे ही यह परिणत मन भी है। अतः स्वयंप्रकाश्य ज्ञान की उत्तर सीमा जिस प्रकार प्रमा है, उसी प्रकार पूर्व सीमा इंद्रियबोध या संवेदन है। द्रव्य होने के कारण यह भी अपने भावात्मक रूप में अरूपता या निष्क्रिया है, जिसे मन अनुभव तो करता है पर जिसका सर्जन नहीं करता।[1] बिना इंद्रियबोध के मनुष्य का कोई भी ज्ञान या उसकी क्रिया संभव नहीं। परंतु केवल द्रव्य मनुष्य में पशुता की ही सृष्टि करता है, न कि मनोराज्य का निर्माण, जो साक्षात् मनुष्यता है। तात्पर्य यह कि संवेदन तक की वृत्ति तो पशुओं में भी होती है, किंतु इसके आगे कल्पना और तर्क आदि वृत्तियाँ केवल मनुष्यों के लिये नियत हैं। क्रोचे इन वृत्तियों में से प्रथम पर द्वितीय को, द्वितीय पर तृतीय को और तृतीय पर चतुर्थ को आश्रित मानते हैं; पर इनकी विपरीत स्थिति सत्य न होगी, और न इन चारों के अतिरिक्त और कोई मानस वृत्ति ही वे स्वीकार करेंगे। अतः मनुष्य की पहली तथा मुख्य वृत्ति है अभिव्यंजना। इसीसे क्रोचे ने कहा है कि संवेदन पशुता का ही पालक है, न कि कल्पना का जो मनुष्यता का मूलाधार है।[2] इस संवेदन का निदर्शन उस समय उपस्थित होता है जब हम अपने में किसी की झलक तो पाते हैं, पर वह वस्तु मन में प्रतिफलित या रूपवती होती हुई नहीं मिलती—ऐसे ही अवसरों पर द्रव्य और रूप का प्रकृष्ट अंतर ज्ञात होता है।[3] ये द्रव्य तथा रूप मन की विरोधी क्रियाएँ नहीं हैं, प्रत्युत मन में ही बाह्य को आक्रमण करके आत्मसात् करने की क्रिया होती है। यह क्रिया आकार अथवा रूप परिग्राहक होती है। इसे हम साँचा कहते हैं। इसी साँचे (फॉर्म

१—Matter in its abstraction, is mechanism, passivity; it is what the spirit of the man experiences, but does not produce.

—एस्थे०, पृ०

२—......mere matter produces animality, whatever is brutal and impulsive in man, not spiritual dominion, which is humanity.

—वही

३—How often do we strive to understand what is passing within us! We do catch a glimpse of something but this does not appear to mind objectified and formed. In such moments it is, that we perceive the profound difference between matter and form.

—वही

में ढलकर द्रव्य सुसंपूर्ण रूप (कॉङ्क्रीट फॉर्म) प्राप्त करता है।[१] यहाँ यह बात स्पष्ट हो जाती है कि द्रव्यों की भिन्नता के कारण ही स्वयंप्रकाश्यों में विभिन्नता आती है, साथ ही बिना द्रव्य की उपस्थिति के मानस व्यापार प्रारंभ नहीं होता। अतः क्रोचे द्रव्य को कला में स्थान नहीं देते, यह बात नहीं है। उनका कहना इतना ही है कि जिस रूप में जिस वस्तु की अभिव्यंजना हुई है उसके अतिरिक्त उसका विचार कला में आवश्यक नहीं। हाँ, योग्यता और आकांक्षा निश्चय ही अपेक्षित हैं, अर्थात् कला में अभिव्यंजना का ही वैशिष्ट्य रह जाता है, अभिव्यंग्य गौण हो जाता है।

उपर्युक्त प्रघट्टकों में हमने देखा कि किस प्रकार स्वयंप्रकाश्य ज्ञान संवेदन अथवा द्रव्य या भावात्मकता पर आधृत है। इससे कुछ लोग संवेदन के एक अन्य प्रकार को लेकर स्वयंप्रकाश्य ज्ञान कहने लगे। देशकालाश्रयी संवेदन तथा शुद्ध संवेदन कहनेवालों का क्रोचे द्वारा किया गया उपस्थापन तथा खंडन दिखाया जा चुका है। प्रस्तुत पक्ष के विषय में क्रोचे का मत है कि 'अन्य प्रकार' का उपस्थापन करनेवालों ने भ्रामक पदावलियों द्वारा स्वयंप्रकाश्य को संवेदन से उलझाने का ही प्रयास किया है। क्रोचे इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि स्वयंप्रकाश्य है तो संवेदन ही, पर उतना सामान्य नहीं जिसे हम उसका सहभाव या साहचर्य कह सकें।[२] क्रोचे के अनुसार इसमें सहभाव या साहचर्य पद भ्रमोत्पादक है क्योंकि इससे अनेक अर्थ लिए जा सकते हैं। (१) यदि इसका अर्थ स्मृतिजन्य सहभाव लें, अर्थात् चेतन या मन द्वारा संस्मरण में लाया गया सहभाव मानें तो योग्यता की हानि होती है, क्योंकि संवेदन द्रव्य है और स्वयंप्रकाश्य मानस व्यापार की प्रथम क्रिया है। अतः इन दोनों की संगति कैसे मिलेगी ? (२) यदि सहभाव का अर्थ अचेतन पदार्थों (द्रव्यों) का सहभाव हो तब तो वह प्राकृत जगत् की वस्तु हुई, और स्वयंप्रकाश्य चैतन्य व्यापार है ही। इस प्रकार यहाँ भी योग्यता का अभाव है। (३) परंतु कुछ सहभाववादी सर्जनात्मक सहभाव की कल्पना करते हैं। यदि उसे स्वीकार किया जाय तो सहभाव का साधारण अर्थ (सेन्सुअलिस्ट्स के अनुसार) न होकर कल्पक अर्थ में परिणमन कर जायगा, जो प्रथम मानस व्यापार है। यहाँ सर्जनात्मक विशेषण ही निष्क्रियता और सक्रियता का, संवेदन तथा स्वयंप्रकाश्य का भेदक है।

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने संवेदन और प्रमा के मध्य में मूर्त्युपस्थापन या मूर्तिविधान की एक और ज्ञान की दशा मानी है। इससे भी स्वयंप्रकाश्य के संबंध का निर्देश क्रोचे ने

१—Matter attacked and conquered by form gives place to concrete form.

—वही।

२—Thus, it has been asserted that intuition is sensation, but not so much simple as the association of the sensations.

—एस्थे०, पृ० ११

किया है। यदि यह मूर्तिविधान संवेदन से सर्वथा अतिरिक्त अर्थात् चैतन्य प्रक्रिया से द्रव्यत्व को त्यागकर मानस सृष्टि की वस्तु हो, तब तो वह स्वयंप्रकाश्य ज्ञान ही है; किंतु यदि इसका तात्पर्य मिश्र संवेदन से हो तो वह सामान्य संवेदन से विभिन्न वस्तु नहीं। इसका कारण यह है कि अंतिम स्थिति में गुण-भेद संभव नहीं है, फिर मात्रा-भेद से विभिन्नता दार्शनिक दृष्टि के अनुसार कैसे हो सकती है? जैसे किसी पर्वत और उसी पर्वत के एक शिलाखंड में एक ही अणुत्व सामान्य की स्थिति रहती है वैसे ही सामान्य संवेदन के गुण-धर्म मिश्र संवेदन में भी रहेंगे। क्रोचे ने एक विकल्प यह भी किया है कि यदि मूर्तिविधान को संवेदन के साहचर्य में मानस-कृति का द्वितीय स्तर भी कहें तो भी भ्रांति का निराकरण नहीं हो सकता, क्योंकि यदि द्वितीय स्तर से गुण-भेद या स्वरूप-भेद का अर्थ हो--संवेदन या इंद्रियबोध का विजृंभण ही मूर्तिविधान हो, तो निश्चय ही वह स्वयंप्रकाश्य ज्ञान होगा। पर यदि द्वितीय स्तर से संवेदनों की अधिकता या संकुलता का तात्पर्य हो—मात्राभेद और वस्तुभेद ही इष्ट हो, तो वह भी सामान्य संवेदन की ही कोटि में आएगा, न कि स्वयंप्रकाश्य के क्षेत्र में।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वयंप्रकाश्य की प्रत्यभिज्ञा के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं। परंतु क्रोचे ने उसके पहचानने के लिये अत्यंत सरल मार्ग यह बतलाया है कि प्रत्येक स्वयंप्रकाश्य या मूर्तिविधान अभिव्यंजना भी होता है। जो अपने को अभिव्यंजना में प्रतिफलित नहीं करता वह स्वयंप्रकाश्य या मूर्तिविधान नहीं, अपितु संवेदन या प्रकृतत्व (द्रव्यत्व) है।[2] क्रोचे का सिद्धांत है कि जब भी मन स्वयंप्रकाश्य व्यापार ग्रहण करता है तब वह--निर्माण करता है, स्वरूपाधान करता है, अभिव्यंजना करता है। इन क्रियाओं के अतिरिक्त स्वयंप्रकाश्य की स्थिति ही नहीं होती। ठीक भी है, जब मन की ही कल्पना व्यापार रूप में है तब उसके किसी भी अंश से क्रियात्मकता कैसे हटाई जा सकती है? अतः क्रोचे ने कहा कि स्वयंप्रकाश्य व्यापार उसी सीमा तक स्व को ग्रहण

१—What does secondary order mean here? Does it mean a qualitative, a formal difference? If so we agree—representation is elaboration of sensation, it is intuition. Or does it mean greater complexity and complication, a quantitative material difference? In that case intuition would again be confused with simple sensation.

--वही, पृ० १२-१३

२—Every true intuition or representation is also expression. That which does not objectify itself in expression is not intuition or representation but sensation and naturality.

—वही, पृ० १४

करते हैं जितने में वे उनको अभिव्यंजित कर दें।[1] इस पंक्ति पर विरोधाभास के द्विविध विकल्पों की संभावनाएँ और समाधान क्रोचे ने दिए हैं। उन्हें उसी क्रम से उद्धृत किया जाता है।

अभिव्यंजना का अर्थ कुछ लोग शाब्दी अभिव्यंजना लेते हैं। अब विरोध यह होता है कि स्वयंप्रकाश्य तो पाचों प्रकार की कलाओं के प्रति कारण हैं और शाब्दी अभिव्यंजना तो केवल काव्यकला से ही संबंध रखती है—यह कैसे? परिहार है कि यहाँ अभिव्यंजना अपने को शब्दों तक ही सीमित न रखकर रेखाओं, रंगों आदि में भी संक्रमित है। जिस प्रकार किसी चित्रकार का स्वयंप्रकाश्य ज्ञान तथा उसकी अभिव्यंजनाएँ युगपद् चित्रात्मक होती हैं उसी प्रकार गायक तथा कवि के स्वयंप्रकाश्य तथा उनकी अभिव्यंजनाएँ क्रमशः ध्वन्यात्मक एवं शब्दात्मक हुआ करती हैं। चित्रात्मक, ध्वन्यात्मक या शब्दात्मक आदि किसी प्रकार की अभिव्यंजना क्यों न हो, कोई भी स्वयंप्रकाश्य अभिव्यंजनाविहीन नहीं रह सकता, क्योंकि दोनों का अयुतसिद्ध संबंध है।[2] जैसे, रेखागणित के किसी चित्र का किसी को स्वयंप्रकाश्य ज्ञान तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक उसके मन में उस चित्र की इतनी स्पष्ट रेखाएँ न उन्मिषित रहें कि आवश्यकता पड़ते ही वह उनको कागद पर उतार सके। इसी भाँति स्वदेश की सीमा का स्वयंप्रकाश्य ज्ञान हममें तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक भारतवर्ष की सीमारेखाओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप उपस्थित कर सकने की हममें योग्यता न हो। प्रत्येक व्यक्ति अपने भावों और प्रभावों के एकीकरणात्मक प्रयत्न में एक आंतर प्रयत्न का भी अनुभव करता है, किंतु उसी सीमा तक वस्तुओं को रूप देने की क्षमता है। भाव और प्रभाव शब्दों के माध्यम से चेतन के अस्पष्ट और धुँधले प्रदेश से निकलकर विचारों के सुस्पष्ट प्रदेश में प्रवेश करते हैं। इस एकजातीय बौद्धिक क्रिया में स्वयंप्रकाश्य ज्ञान को अभिव्यंजना से अतिरिक्त बताना असंभव है। एक समय में एक के साथ दूसरी भी उत्पन्न होती है, क्योंकि वे दो नहीं, एक हैं।[3] हाँ, यह संभव है कि किसी की अभिव्यंजना लेखनी या तूलिका आदि से अंकित न होकर ही रह जाय।

१—Intuitive activity possesses intuitions to the extent that it expresses them.

—वही।

२—But be it pictorial, or verbal or musical or whatever else it be called, to no intuition expression can be wanting, because it is an inseparable part of the intuition.

—वही।

३—Sentiments and impressions, then pass by means of words from the obscure region of the soul into the clarity of the contemplative spirit. In this cognitive process it is difficult to distinguish intuition from

पूर्वोदाहृत पंक्ति में विरोधाभास का दूसरा कारण यह है कि कुछ लोग यह कहते हुए पाए जाते हैं कि हमारे मन में बहुत से आवश्यक विचार हैं, पर हम उन्हें व्यक्त नहीं कर पाते। इससे विरोध का प्रकार यह है कि उक्त कथन में विचार पद से प्रमा... भी लें तो भी स्वयंप्रकाश्य मानना ही पड़ेगा, क्योंकि इससे और पूर्वकालिक मन की ... क्रिया है ही नहीं। फिर क्रोचे का सिद्धांत है कि यह क्रिया भी बिना अभिव्यंजित हुए नहीं रह सकती। परंतु उक्त कथन से स्पष्ट है कि विचार अभिव्यक्ति नहीं पा रहा है। इसका समाधान यह है कि उस प्रकार की वाणी का विसर्ग करनेवाला अपने को अधिक आँकता है। यदि वस्तुतः उसे कुछ कहने के लिये होता तो वह उन्हें अनुरूप पदावलि में अभिव्यंजित कर देता।[1] किंतु स्थिति ऐसी है नहीं, इसलिये मानना पड़ेगा कि उसके मन में कहने को कुछ भी नहीं है। पर यदि अभिव्यंजना में विचारों की स्थिति उखड़ी हुई, दरिद्र या अशक्त दिखाई पड़े तो भी अभिव्यंजक में इन त्रुटियों की कल्पना करनी चाहिए। कुछ लोगों का विचार है कि कलाकारों और सामान्य मनुष्यों की कल्पना और स्वयंप्रकाश्य तुल्यरूप ही होते हैं। अंतर केवल इतना है कि कलाकारों के पास संविधान संबंधी विशेषता भी रहती है जिससे वे उनकी अभिव्यंजना कर सकते हैं परंतु सामान्य लोगों को वह कला ज्ञात न रहने से अभिव्यंजना नहीं हो पाती। ... मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचंद्र जी का चरित्र विश्व-विश्रुत है। सभी लोगों को उनके विषय में यथारुचि कल्पना करने का अवकाश भी है। पर रामायण, उत्तर-रामचरित और रामचरितमानस, वाल्मीकि, भवभूति तथा तुलसी को छोड़कर और कौन उन रूपों में अभिव्यंजित कर सका? उनको तत्तद्रूपों में रामचरित का स्वयंप्रकाश्य हुआ और अभिव्यंजनाएँ हुईं। पर क्रोचे का मत है कि उक्त कार्य वैधानिक विशेषताओं के जानने से निष्पन्न नहीं हुआ। वह तो स्वयंप्रकाश्य का फल है। अतः लोगों की उक्त धारणा भ्रांत है, क्योंकि अपने अंदर होनेवाले संवेदन को ही वे स्वयंप्रकाश्य मान लेते हैं। क्रोचे के अनुसार जिस संसार के विषय में हमें नियमतः स्वयंप्रकाश्य होते रहते हैं वह अत्यंत सीमित है। उसमें छोटी-छोटी कामचलाऊ अभिव्यंजनाएँ हुआ करती हैं जो बढ़ती हुई मानसिक एकाग्रता के कारण कुछ क्षणों में अपेक्षाकृत आकार और परिमाण में अधिक हो जाती हैं। 'यह मनुष्य है, यह घोड़ा है, यह कठोर है, यह भारी है' इत्याकारक स्वयंप्रकाश्यों के आधार पर ही हम क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं।[2]

---

expression. The one is produced with the other at the same instant because they are not two but one. —वही, पृ०

१—In truth if they really had them, they would have coined them into beautiful ringing words and thus expressed them. —वही, पृ० १८,

२—This is and nothing else what we possess in our ordinary life, this is the basis of our ordinary action. —वही, पृ०

क्रोचे ने इनकी उपमा उन विषय-सूचियों और चिप्पकों से दी है जो पुस्तकस्थानीय या वस्तुस्थानीय हो जायँ।[1] कहने का तात्पर्य यह कि जैसे हम जल्दी में इनसे ही पुस्तक और वस्तु के विषय में ज्ञान प्राप्त करके काम चला लेते हैं, वैसे ही उक्त प्रकार की लघु अभिव्यंजनाओं से व्यवहार चलता है। यह साम्य और दूर तक चलता है; अर्थात् जैसे हम आवश्यकता पड़ने पर विषय-सूची से आगे बढ़कर पुस्तक का मनन, या इश्तहार को छोड़कर उस वस्तु के अन्वीक्षण में प्रवृत्त होते हैं उसी प्रकार हम लघु लघु अभिव्यंजनाओं के बढ़ते हुए क्रम से महत्तर एवं महत्तम स्वयंप्रकाश्यों तक को उन्मीलित करते हैं।[2] परंतु क्रोचे इस क्रम को सार्वत्रिक नहीं मानते। वे कहते हैं कि कलाकारों के मनोविज्ञान का अध्ययन करनेवालों ने समझाया है कि किसी व्यक्ति को देखने के पश्चात् जब चित्रकार ने उस व्यक्ति का स्वयंप्रकाश्य ज्ञान प्राप्त करना चाहा तो उसे पता चला कि जो व्यक्ति प्रत्यक्ष दर्शन के समय में अत्यंत सजीव और स्पष्ट दिखाई पड़ा था वह वास्तव में कुछ नहीं था। अतः चित्रांकन के समय जो बोध चित्रकार को रहता है वह धुँधले और अस्पष्ट रेखाचित्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। ऐसी स्थिति में उसे अपनी शक्ति का ही सहारा लेना पड़ता है। इसी से माइकेल एंजिलो ने कहा था कि चित्रकार चित्रों को हाथों से नहीं, मस्तिष्क से रँगता है।[3] अतएव क्रोचे के अनुसार कलाकार की यही विशेषता है कि जहाँ साधारण जन किसी वस्तु की झलक पाकर या भाव-विभोर होकर रह जाता है वहाँ कलाकार उसका साक्षात्कार करता है।[4] सामान्य व्यक्ति समझता है कि मैं किसी को देख रहा हूँ, पर वस्तुतः वह उससे पड़े हुए प्रभावों का ही अनुभव करता है। क्रोचे ने दृष्टांत दिया है कि जब हम किसी का स्मित देखते हैं तब हम उससे अपने ऊपर पड़े हुए प्रभावों की ही अनुभूति करते हैं, न कि ईषत्फुल्लकपोलों तथा अनुल्बण कटाक्षों द्वारा अदृष्टदशन रूप विशिष्ट हास की प्रतीति, जैसा कि कलाकार अपने मनन के फलस्वरूप मानस प्रत्यक्ष में किया करते हैं। उनकी यही मनन-शक्ति मूर्तियों को ज्यों का त्यों कृतियों में उतार देती है। क्रोचे के अनुसार तो ज्यों का त्यों उतर नहीं सकता—यह तो अदार्शनिकों की बात है। अस्तु, यही है साधारण मनुष्यों और कलाकारों का भेद। कहाँ तक कहा जाय, जिन अति घनिष्ठ लोगों के साथ भी साधारण लोग रहते हैं उनको भी

१—It is the index of the book, the lables tied to things that take place of the things themselves.

—वही, पृ० १६

२—इस क्रम का विवेचन दूसरे निबंध में होगा।

३—Michael Angelo said, 'One paints not with one's hands but with one's mind'.

—वही।

४—The painter is painter, because he sees what others only feel and catch a glimpse of but do not see.

—वही, पृ० १७

वे अन्यों से विभेदक स्थूल आकारों को छोड़कर कुछ अधिक नहीं जानते, अर्थात् उनक स्वयंप्रकाश्य ज्ञान उन्हें नहीं होता। क्रोचे ने इस विषय में एक दृष्टांत गीतों का दि गीतों का प्रणयन करके निर्माता विरत हो जाता है, परंतु जब वही गीत किसी गायक गाया जाता है तब उसमें स्वर-समर्पक-सामग्री उस गायक की ही अभिव्यंजना होती इससे सिद्ध होता है कि स्वयंप्रकाश्य ज्ञान व्यक्तिगत, स्वतः परिपूर्ण तथा सत्य उचितानुचित, योग्यायोग्य की धारणा से परे मन की प्राथमिक क्रिया है और अभिव्य उसका नित्य लक्षण है। स्वयंप्रकाश्य ज्ञान अभिव्यंजना के अतिरिक्त (न उससे कम न कुछ अधिक) और कोई वस्तु नहीं।[2]

१—किंतु जिन देशों में रागरागिनियों की बँधी हुई धारणाएँ हैं उनके विषय में क्रोचे का यह नहीं घटता।

२—It is nothig else (nothing more but nothing less) than to express.

—एस्थे०, पृ०

सातवाहन राजवंश

[श्री सूर्यनारायण व्यास]

आंध्र नरेशों की पुराणों में दो प्रकार की वंशावली मिलती है—(१) वह जिसमें प्रत्येक राजा के राज्य-काल के राज्य-वर्ष भी दिए हैं। ऐसी वंशावली मत्स्य पुराण, ब्रह्मांड पुराण और वायु पुराण तथा इसी वर्ग के पुराणों में है; (२) दूसरी प्रकार की सूची वह है जिसमें राजाओं के नाम मात्र दिए हैं और अंत में सबका राज्य-काल समष्टि रूप से एक जगह लिख दिया है। इस प्रकार की सूची भागवत पुराण, विष्णु पुराण आदि में दी है। इन वंशावलियों में राजाओं के नाम भी कुछ छोड़ दिए गए हैं। फिर भी ये उपलब्ध सूचियाँ शुद्ध नहीं हैं। अनेक स्थानों पर राजाओं के नाम अशुद्ध लिखे हैं। प्रायः प्रत्येक नाम में कुछ न कुछ पाठांतर मिलता है। उनके राज्य-काल के वर्षों में भी अंतर है और सबसे अधिक दोष उनमें यह है कि राजाओं का क्रम भी दूषित हैं। इस सूची के तैयार करने में हमने हिंदी विश्वकोष में प्रकाशित मत्स्य पुराण, ब्रह्मांड पुराण, भागवत और विष्णु पुराण की सूचियों को सामने रखा है। इनके अतिरिक्त एक सूची विश्वकोष के संकलनकर्ता ने ऐसी भी दी है जो सिक्के, शिलालेख आदि सामग्री के आधार पर पुराणों की सूची को शुद्ध करके तैयार की गई है। इस सूची में राजाओं के राज्य-काल के वर्षों को गणना करके ईस्वी सन् के साथ लिखा है। किंतु हम इस गणना से बिल्कुल सहमत नहीं हैं, जैसा कि आगे विदित होगा।

इन पाँच सूचियों के अतिरिक्त छठी सूची भी पार्जिटर महोदय की है जो उन्होंने पुराणोक्त कलि-राजवंशावली[१] नामक ग्रंथ में प्रकाशित की है। इसमें भी प्रत्येक राजा का राज्य-काल दिया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह अधिक उपयोगी है और इसी के आधार पर एक सूची विंसेंट स्मिथ की 'अर्ली हिस्ट्री ऑव इंडिया' के सन् १९२४ के संस्करण में पृष्ठ २३१ पर दी हुई है।

प्रकाशन-क्रम की दृष्टि से सबसे नवीन सातवीं सूची वह है जो श्री वेणीप्रसाद शुक्ल ने अपने लेख "शक संवत्" (नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग १६, संवत् १९९२) में प्रकाशित कराई है। इन अंतिम तीन सूचियों के विद्वान निर्माताओं ने उपलब्ध पुरातत्व संबंधी ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग अवश्य किया होगा, किंतु फिर भी इनमें से कोई भी सूची न तो पूर्ण है और न निर्दोष, जैसा कि आगे दिए हु हेतुओं से विदित होगा। हमारी सूची इस प्रकार है—

१—The Purana text of the Dynasties of the Kali age.

१—सिसुक (मत्स्य०); सिंधुक (वायु० ब्रह्मा०); सिमुक (वेणी०) ; शूद्रक (ब्रह्मा०, वेणी०) ; शिप्रक (विष्णु० विश्व०); छिस्मक (ब्रह्मा० विश्व० ; शिमुक (मत्स्य० विश्व०) ; राज्यकाल २३ वर्ष। सभी पुराणों में इसका नाम किसी न किसी रूप में पाया अवश्य जाता है, और सर्वत्र इसका राज्यकाल २३ वर्ष लिखा है।

पुराणों के अनुसार कण्ववंशी मगध-नरेश सुशर्मा को मारकर यह सिंहासन पर बैठा था। किंतु पुराणों का यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इसके कई उत्तराधिकारियों का उल्लेख कण्ववंशी राजाओं से पूर्व शिलालेख आदि में पाया जाता है।

नानाघाट के शिलालेख में आंध्र वंश के इस प्रतिष्ठाता का नाम 'सिमुक' दिया है। वही लिपि-प्रमाद से सिसुक हो गया होगा। आंध्रों का उल्लेख अशोक के शिलालेखों में भी पाया जाता है, किंतु उसमें किसी राजा का नाम नहीं लिखा है, प्रत्युत एक जनपद के रूप में वहाँ इनका उल्लेख किया गया है। अशोक के लेख से ऐसा जान पड़ता है कि कलिंग-विजय के पश्चात् राजनीतिक विजय से उदासीन होकर जिन राष्ट्रों पर अशोक ने धर्म-विजय द्वारा अपना आधिपत्य स्थापित करके अपना धर्मानुशासन चलाया था उनमें ऐसे अनेक राष्ट्र और जनपद थे जो उसके राज्य की सीमा पर अवस्थित थे। राजनीतिक विजय में कदाचित् वे सब अशोक से पराजित न होते, फिर भी दार्शनिक बुद्धि से प्रेरित होकर, हिंसा से बचने एवं लोकहित की कामना से उन राष्ट्रों और जनपदों ने अशोक का नेतृत्व या साम्राज्य-पद स्वीकार किया था। उन्हीं में यह आंध्र जनपद भी था (अशोक का १३वाँ प्रज्ञापन)। यद्यपि इस धर्मविजय के द्वारा विजित होने पर ये राष्ट्र अशोक के अधीन समझे जाते थे एवं अशोक ने अपने उक्त प्रज्ञापन में भी स्पष्ट कहा है कि उनके देशों में देवानांप्रिय का धर्मानुशासन माना जाता है (भोज पितिनिकेषु, अंध्रपुलिंदेषु सवत्र देवनं पियस धमनुशस्ति अनुवटन्ति), किंतु केवल उसका धर्मानुशासन ही वहाँ माना जाता था, अन्य सब बातों में यह जनपद भी अन्य जनपदों की नाईं स्वतंत्र था। इस धर्मानुशासन के मानने की परतंत्रता को भी आंध्र देश के वैदिक ब्राह्मण सम्राटों ने अशोक के पश्चात् मानना छोड़ दिया था और दशरथ के समय में ही शायद अन्य धर्मानुशासन माननेवाले राष्ट्रों और जनपदों की अपेक्षा सबसे प्रथम इन्होंने ही सिमुक की अध्यक्षता में अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की थी। इसीलिये पुराणों ने इनके इतिहास का आरंभ उस समय से लिखना पसंद किया होगा। बौद्धधर्म के धर्मानुशासन से स्वतंत्र होने का अभिप्राय था वैदिक धर्म का पुनरुदय होना, और उस तिथि को इस राजवंश की स्थापना की तिथि के रूप में पुराणों में स्मरण रखा गया होगा। इसलिये भी हमने सिमुक के शासन का आरंभ-काल ई० पू० २३१ वर्ष माना है, जब दशरथ के पश्चात् अशोक का साम्राज्य राजवंश के भीतरी भगड़ों के कारण ही निर्बल होकर उच्छिन्न होने लगा था।

भारतवर्ष की इस प्रधान शक्ति के ह्रास-काल में जब दूर दूर के राष्ट्र और जनपद अपनी अपनी स्वतंत्रता स्थापित कर रहे थे तो भारत की सीमा पर स्थित विदेशी शक्तियों ने भी इस परिस्थिति से लाभ उठाया और भारतवर्ष में प्रथम क्षत्रपवंश या शहरात

वंश का आरंभ हुआ। अर्थात् आंध्र राजवंश एवं क्षत्रप-क्षहरात वंश का उदय लगभग एक ही युग में हुआ था। इस वंश का अधिक परिचय आगे दिया जायगा।

सिमुक का राज्य-काल ई० पू० २३१-२०८ (वि० पू० १७५-१५२) है।

२—कृष्ण (सब पुराण); कृष्णराज (विश्वकोष के संपादक की सूची); राज्य-काल १८ वर्ष, ई० पू० २०८-१९० (वि० पू० १५२-१३४)।

यह प्रथम राजा सिमूक का भाई था। यद्यपि सर्वत्र इसका राज्य-काल १८ वर्ष लिखा पाया जाता है, किंतु पार्जिटर महोदय ने इसका समय केवल १० वर्ष स्वीकार किया है। कदाचित् उन्होंने यह संख्या स्वयं संशोधन या गणना करके लिखी है। किंतु हमें तो १८ वर्ष ही ठीक जान पड़ता है। हमारी इस सूची में दी गई गणना से भी यही संख्या ठीक बैठती है।

३—शातकर्णी मल्लकर्णी (पार्जि०); श्री शातकर्णी (हिंदी विश्वकोष में भागवत और मत्स्य०) ; श्री मल्लकर्णी (ब्रह्मांड०, विश्व०) ; श्री सातकर्णी (हिं० वि० कोष में विष्णु०); श्री मल्ल शातकर्णी (विश्वकोष के संपादक की सूची); सातकर्णी प्रथम महान राजसूय यज्ञकर्ता पुष्यमित्र का समकालीन (वेणी०); राज्यकाल ई० पू० १९०-१७२ (वि० पू० १३४-११६)।

यह कृष्ण (सं० २) का पुत्र था। इसका राज्यकाल भी पुराणों में सर्वत्र १८ वर्ष लिखा है, किंतु पार्जिटर महोदय ने १० वर्ष इसे भी गिना है। विश्वकोष के संपादक की सूची में भी यह संख्या १८ ही दी है और हमने भी यही मत स्वीकार किया है।

कलिंग चक्रवर्ती सम्राट् खारवेल महामेघवाहन ने, जिनका राज्यकाल ई० पू० १८५ से १५५ तक (वि० पू० १२९-९९) निर्विवाद है एवं उनके प्रसिद्ध हाथीगुफा वाले शिलालेख से सिद्ध है, इसी सातवाहन की कुछ भी चिंता न करके ई० पू० १८४ (वि० पू० १२८) में उसके पश्चिमी राज्य पर आक्रमण करके कृष्णवेणा नदी के तट की प्रजा को त्रस्त किया था एवं मूषिक नगर को लूटा था। उस समय कदाचित् मूषिक नगर सातवाहनों की राजधानी का (प्रांतीय) नगर रहा होगा। फिर ई० पू० १८१ (वि० पू० १२५) में उसने सातकर्णी के अधीन राष्ट्रिक और भोजिक जनों को अपने अधीन बनाया (दुतिये च वसे अचितयिता सातकणिं पछिम दिसं हय गज नर रध बहुलं दंडं पठापयति। कन्हवेनां गताय च सेनाय वितासितं मुसिक नगरं। ········ वितत मकुट सबिल मदिते च निखित छतभिंगारे हित रतन सापतेये सवरठिक भोजके पादे वंदापयति पंचमे च)।[1]

पुराणों में इस सातकर्णी के विषय में कुछ लिखा नहीं मिलता, किंतु जिस सातकर्णी का उल्लेख ऊपर शिलालेख में किया गया है वह यही प्रथम सातकर्णी होना संभव है।

[1]—ना० प्र० प०, भाग ८, पृष्ठ ३१३-४

खारवेल द्वारा परास्त होने के पीछे उस महान् विजेता के जीवन-काल में ही (ई० पू० १७
वि० पू० ११६) इसका देहांत हो गया और सातवाहनों के साम्राज्य को
धक्का कलिंग चक्रवर्ती सम्राट् के आक्रमण से लगा उससे उसकी दशा यह सातकर्णी
न सँभाल सका।

इसी सातकर्णी के समय में पुष्यमित्र ने बृहद्रथ को मारकर मगध में शुंगवंश की
स्थापना की थी। इसी के शासन के अंतिम वर्षों (लगभग १७५ ई० पू०, वि० पू० ११९)
में नभोवाहन क्षहरात वंश में उज्जयन पर अधिकार कर चुका था।

४—पूर्णोत्संग (पार्जिटर आदि सभी सूचियों में यह नाम दिया है, केवल
भागवत में इसे पौर्णमास कहा है। राज्यकाल १८ वर्ष सर्वत्र, ई० पू० १७२-१५
(वि० पू० ११६–९८)।

५—स्कन्द स्तभि (पार्जि०, वेणी०, भागवत का चिविलक इनके मत में); स्कन्द स्वाति
(विश्व० का मत्स्य०); स्कन्द स्वामी (विश्व० ब्रह्मांड०); इवीलक (विष्णु पुराण);
स्कन्द सातकर्णी (विश्वकोष के संपादक की सूची)।

राज्यकाल सभी पुराणों में ७ वर्ष है किंतु पार्जिटर ने १८ वर्ष स्वीकार किया है।
पुराणों और विश्वकोष के संपादक की सूची में इसकी क्रम-संख्या १० है, किंतु पार्जिटर
और वेणीप्रसाद शुक्ल ने वही क्रम रखा है जो हमने स्वीकार किया है। जान पड़ता है कि
पार्जिटर के सम्मुख स्कंदस्तभि के इस क्रम के लिये अवश्य हस्तलेख पुराणों में मिले होंगे।
राज्यकाल ७ वर्ष, ई० पू० १५४–१४७ (वि० पू० ९८–९१)।

६—सातकर्णी (पार्जि०, विश्व० मत्स्य०, विष्णु०); शातकर्णी (विश्व०, ब्रह्मांड०);
श्रीशातकर्णी (विश्व० के संपादक की सूची); गौतमीपुत्र श्री विलिवायु सातकर्णि द्वितीय
नहपान विजेता (वेणी०); अटमान (भाग०, वेणी०)।

राज्यकाल सर्वत्र ५६ वर्ष, ई० पू० १४७-९१ (वि० पू० ९१-३४)।

वेणीप्रसादजी की सूची में इसका क्रम आठवाँ है, अर्थात् पूर्णोत्संग; और इसके
मध्य में उन्होंने लंबोदर और मेघस्वति ये दो नाम और रखे हैं जिनका राज्यकाल सब
लेखों में प्रत्येक का १८–१८ वर्ष माना गया है। किंतु और सब सूचियों में अर्थात् पार्जिटर
विश्वकोष के संपादक की स्वनिर्मित सूची तथा उस कार्यालय में मत्स्य और ब्रह्मांड पुराण
की सूची में पूर्णोत्संग और सातकर्णी का मध्यवर्ती कोई नाम नहीं मिलता। सबने सात-
कर्णी को पाँचवें अनुक्रम पर एवं उसका राज्यकाल ५६ वर्ष लिखा है। हमने अपनी सूची
में स्कंदस्तभि को पाँचवाँ क्रम दिया है, इसलिये उसमें सातकर्णी का क्रम छठा हो
गया है। इस सातकर्णी के संबंध में उसकी माता गौतमी के उत्कीर्ण कराए उस लेख से
अनेक महत्वपूर्ण और जानने योग्य बातें ज्ञात हुई हैं जो उसने अपने पोते और इस सात-
कर्णी के पुत्र पुलुमायि के उन्नीसवें वर्ष में नासिक के निकट त्रिरश्मि (त्रिरराहु) पर्वत की

तीसरी गुफा में उत्कीर्ण कराया था। उसी लेख से हमारी इस सूची के सातवें राजा का क्रम भी निर्विवाद सिद्ध हो जाता है। संक्षेप में इस लेख में इतनी बातें कही गई हैं—

शातकर्णी की माता गौतमी बालश्री थी। इसीलिये यह शातकर्णी गौतपुत्रीपुत्र कहा जाता है। बालश्री स्वयं महादेवी अर्थात् एक स्वतंत्र महाराज की प्रधान राजमहिषी थी; वह महाराज-माता थी, उसका पुत्र गौतमीपुत्र शातकर्णी भी स्वतंत्र विजयी महाराज था; और वह महाराज-प्रपितामही भी थी—उसके पुत्र की उपार्जित विजयलक्ष्मी इस शासन के उत्कीर्ण होने के समय तक इस वंश में अक्षुण्ण बनी हुई थी।

यह शासनपत्र पुलुमायि वाशिष्ठीपुत्र के शासन के उन्नीसवें वर्ष में ग्रीष्म के दूसरे पक्ष के तेरहवें दिन लिखा गया था। इसके द्वारा उक्त महादेवी ने इस पर्वत पर स्थित एक लेख या गुफा (लयन) बौद्ध भिक्षुओं को दान दी थी। इस दान-पत्र में पुलुमायि को दक्षिणापथ का स्वामी कहा है। अपने पुत्र गौतमीपुत्र शातकर्णी के विषय में उसने अनेक प्रशंसापूर्ण बातें कही हैं। जैसे "वह हिमालय, सुमेरु और मंदर पर्वतों के समान सारवान् था; असिक, अश्मक, मूलक, सुराष्ट्र, कुक्कुर, अपरांत, अनूप, विदर्भ, आकर और अवंति पर उसका राज्य था। उसके राज्य में विंध्या, ऋक्षवान, पारियात्र, सह्य, कृष्णागिरि, मंच, श्रीस्तन, मलय, महेंद्र, श्वेतगिरि और चकोर पर्वत थे। तीन ओर से समुद्र उसके विस्तृत राज्य की सीमा थी। उसने क्षत्रियों के दर्प और अभिमान को चूर कर दिया था। शक, यवन और पह्लवों का उसने संहार किया था और क्षहरात वंश का तो उसने मूलोच्छेद ही कर दिया था। धर्म से उपार्जित करों का ही वह उपयोग करता था। अपराधी शत्रु को भी प्राणदंड देना अच्छा नहीं समझता था। उसने द्विजों और शूद्रों के अनेक वंशों को उभारा था। वह सातवाहन वंश के यश का प्रतिष्ठापन करनेवाला था। वर्णधर्म की उसने स्थापना की थी। वह युद्धों में शत्रुओं को सदैव विजय करता रहा। वह स्वयं बड़ा विद्वान्, गुणी, श्रीसंपन्न, धनुर्धारी, शूरवीर और कट्टर ब्राह्मण था। पराक्रम में वह राम, केशव, अर्जुन और भीमसेन जैसा था और नाभाग, नहुष, जनमेजय, शंकर, ययाति, राम तथा अंबरीष के समान यशस्वी था"; आदि।

इस लेख में शातकर्णी गौतमीपुत्र के पिता अर्थात् बालश्री के पति का नाम कहीं नहीं दिया गया है और न उनसे पूर्व के किसी राजा का नाम या वंशावली दी गई है। इसके साथ ही गौतमीपुत्र को उसकी गर्वीली माता ने सातवाहन कुल की प्रतिष्ठा स्थापित करने वाला कहा है। इसका अभिप्राय यही है कि गौतमीपुत्र से पहले जो खारवेल के समय में सातवाहन वंश को इस वंश के तीसरे राजा के समय में धक्का लगा था उससे और उसके पश्चात् क्षहरात वंश के अवांतर में सातकर्णी गौतमीपुत्र द्वारा नहपान के मारे जाने तक, यह वंश सँभल नहीं सका था। यह ठीक है कि गौतमी बालश्री ने अपने आपको महादेवी कहकर एक स्वतंत्र महाराज की प्रधान महिषी होने की घोषणा की है, किंतु उसने इस प्रज्ञापन में इस वंश के यश-प्रतिष्ठापन का श्रेय अपने पति को न देकर अपने पुत्र को दिया है; इससे ही सिद्ध होता है कि गौतमी बालश्री का पति अधिक से अधिक अपने विजिगीषुओं के

सम्मुख केवल अपनी सत्ता स्वतंत्र रूप से बनाए रख सका होगा। पुत्र के गुणों से ख्याति लाभ करनेवाले व्यक्ति स्वयं गुणवान् नहीं होते, यह सिद्ध है। स्कंदस्तभि, जो संभवतः इस गौतमी बालश्री का पति होगा, १८ वर्ष ही राज्य करके मर गया था और उसकी मृत्यु के समय बालश्री की आयु अधिक न रही होगी। तभी तो लगभग ६०-६५ वर्ष पीछे वह यह शासन ऐसी योग्यता के साथ उत्कीर्ण करा सकी थी। यदि स्कंदस्तभि की मृत्यु के समय बालश्री की अवस्था ३० वर्ष की भी मानी जाय तो उस समय सातकर्णी लगभग १५ वर्ष के होंगे। ३०+३६+१९=८५ वर्ष के लगभग इस उत्कीर्ण लेख के समय इस महाराज-प्रपितामही की अवस्था रही होगी।

इन्होंने अनेक द्विज (ब्राह्मण) और वैश्य तथा शूद्र कुलों को उठाया था। इस कथन से एक अत्यंत महत्वपूर्ण सूचना और भी मिलती है। देश उस समय च्हहरातवंशी शकों द्वारा पददलित हो रहा था। यवन और पह्लव जो उनके पड़ोसी भी थे, उनकी संधि में सम्मिलित थे। इन विदेशियों के गुट से लड़ने के लिये गौतमीपुत्र को तैयारी करते समय विशाल सेना उठाना पड़ी होगी। उसी प्रयत्न में अनेक छोटे छोटे वंशों के युवकों को सैनिक सेवाओं के कारण इन्होंने उठाया होगा और अपने पराक्रम-प्रदर्शन द्वारा वे अवश्य उन्नति कर गए होंगे। हमारे इस कथन के पुष्ट करनेवाले अनेक उदाहरण सन् १९१४ के तथा गत द्वितीय महायुद्ध के अवसर पर भारत की अंग्रेजी सरकार द्वारा सैनिक-संगठन के प्रसंग में मिलते हैं। उसी समय मालवगण, क्षुद्रकगण आदि गणों के अनेक युवकों को अपना वीर्य प्रकट करने का अवसर मिला था और उसी समय खारवेल के समय से चले आनेवाले गर्दभिल्लों के वंशवालों को भी उन्नति करने का अवसर प्राप्त हुआ था। ऐसे ही युवकों में से एक वह भी था जो गौतमीपुत्र सातकर्णी से युद्ध में परास्त होकर मृत्यु-मुख में जानेवाले नहपान के पीछे उज्जयन का शासक बनाया गया था और जो परिस्थिति के अनुसार कालांतर में वहाँ का स्वतंत्र शासक हो गया था।

गौतमी बालश्री ने अपने लेख को अपने पोते पुलुमायि के शासनकाल में उत्कीर्ण कराया था, किंतु उस लेख में पुलुमायि की प्रशंसा में एक भी शब्द नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिन द्विज और अवर कुलों को गौतमीपुत्र ने उठाया था वे धीरे धीरे शक्ति शाली होते जा रहे थे एवं अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने में प्रयत्नशील थे; किंतु उसका उत्तराधिकारी पुलुमायि उनको अपने अधीन नहीं रख सका था, वह केवल दक्षिणा-पथ का अधीश्वर रह गया था। योग्य पिता के अयोग्य पुत्र की बालश्री जैसी प्रपितामही किन शब्दों में प्रशंसा करती? इसी समय यह गर्दभिल्ल वंश भी उज्जयन में स्वतंत्र हो गया था।

यहाँ नहपान के संबंध में भी कुछ कहना आवश्यक है। भारतवर्ष में सिकंदर के पश्चात् जिन विदेशी लोगों ने अपने पैर जमाने का प्रयत्न किया था एवं कुछ सफलता भी प्राप्त की थी, उनमें ये क्षत्रप कहे जानेवाले च्हहरातवंशी भी थे। दुर्भाग्य से जिस प्रकार सातवाहनों के राजाओं की क्रम-सूची एवं उनका राज्यकाल अभी तक स्थिर नहीं हो सका है, उसी प्रकार इन च्हहरातों का इतिहास भी अभी अंधकार में ही है।

प्राचीन मुद्राशास्त्रज्ञों का मत है कि ईसा से पूर्व पहली शताब्दी में अथवा इससे कुछ ही पहले उत्तरापथ के शक राजाओं के एक शासनकर्ता ने मालवा और सौराष्ट्र में एक नवीन राज्य स्थापित किया था। यह राज्य कुषाण राज्य के स्थापित होने से पहले स्थापित हुआ था। इस वंश के राजाओं ने राजा की उपाधि ग्रहण नहीं की थी। उनकी उपाधि महाक्षत्रप थी। महाक्षत्रप उपाधिवाले शकजातीय दो भिन्न भिन्न राजवंशों ने भिन्न भिन्न समय में सौराष्ट्र में अधिकार प्राप्त किया था—पहले राजवंश ने कुषाण साम्राज्य स्थापित होने से पहले और दूसरे राजवंश ने कुषाण राजवंश के साम्राज्य के नष्ट होने के समय अधिकार प्राप्त किया था। प्रथम राजवंश के केवल दो राजाओं के सिक्के मिले हैं। पहले राजा का नाम भूमक था। इसके केवल ताँबे के ही सिक्के मिले हैं। उनपर एक ओर सिंह की मूर्ति और दूसरी ओर चक्र है। और एक ओर खरोष्ट्री अक्षरों में "छहरदस छत्रपस भूमकस" और दूसरी ओर ब्राह्मी अक्षरों में "क्षहरातस क्षत्रपस भूमकस" लिखा है। भूमक का कोई शिलालेख या तिथियुक्त सिक्का अभी तक नहीं मिला है। इसलिये उसके कालनिर्णय का समय अभी नहीं आया है। नहपान के चाँदी के सिक्के मेनेंद्र के द्रम्म के ढंग के हैं। ऐसे सिक्कों पर एक ओर महाक्षत्रप का मस्तक और यूनानी अक्षरों में उसका नाम तथा उपाधि और दूसरी ओर चक्र, शर और वज्र तथा ब्राह्मी और खरोष्ठी अक्षरों में राजा का नाम और उपाधि दी है। खरोष्ठी अक्षरों में "रञो छहरतस नहपनस" और ब्राह्मी अक्षरों में "राज्ञो क्षहरातस नहपानस" लिखा रहता है। नहपान के जामाता उषवदात अथवा ऋषभदत्त के बहुत से शिलालेख मिले हैं। इन लेखों में नहपान के राज्यांक अथवा किसी दूसरे संवत् के ४१ वें ४२ वें और ४५ वें वर्ष का उल्लेख है। जुन्नार की एक गुफा में नहपान के प्रधान मंत्री अयम के लेख में संवत् ४६ का उल्लेख है। उषवदात और अयम के शिलालेखों में जिन अनेक वर्षों का उल्लेख है, पुरातत्ववेत्ता उन्हें शक संवत् मानते हैं और उसके अनुसार ईसवी दूसरी शताब्दी के आरंभ में नहपान का समय निश्चित करते हैं। परंतु प्राचीन लिपितत्व के प्रत्यक्ष प्रमाण के अनुसार नहपान को महाक्षत्रप रुद्रदामा का निकटवर्ती अथवा कनिष्क वाशिष्क, हुविष्क और वासुदेव आदि कुषाणवंशी राजाओं का परवर्ती नहीं माना जा सकता।

नहपान के राजत्व-काल के अंतिम भाग में अथवा उसकी मृत्यु के उपरांत आंध्र-वंशी राजा गौतमीपुत्र शातकर्णी ने शकों के पहले क्षत्रप वंश का अधिकार नष्ट कर दिया था और नहपान के चाँदी के सिक्कों पर अपना नाम लिखवाया था (श्रीराखालदास बंद्योपाध्याय; प्राचीनमुद्रा, भाग १, पृष्ठ १९३-५ ; नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिंदी संस्करण)।

विंसेंट स्मिथ ने एक स्थान पर लिखा है कि क्षहरात वंश का सबसे पहला शासक भूमक था जिसके सिक्के पार्थियन शासकों के अनुकरण पर बने मिलते हैं; और इसी आधार पर उन्होंने इस भूमक के इन्हीं पार्थियन शासकों का अधीन क्षत्रप होने की संभावना की है। उस पार्थियन शासक का नाम उन्होंने गंडुफर दिया है जिसके अधीन यह भूमक रहा होगा। इस आधार पर भूमक और उसके उत्तराधिकारियों के समय का निर्णय किया जा

सकता है, और परिणामतः शातकर्णी नरेश के युद्ध का समय निर्णीत होने से उस वंश भी कई सम्राटों का समय निश्चित हो सकेगा। किंतु गंदुफर के समय का निर्णय करने पाश्चात्य ईसाई विद्वान् निष्पक्ष नहीं जान पड़ते। कहते हैं कि ईसा का शिष्य टामस गंदु के राज्य में भारत में आया था। इसी प्रवाद के आधार पर वे लोग ईसा की प्रथम शताब्दी के प्रथमार्द्ध में गंदुफर का समय निश्चित करना चाहते हैं।[1] किंतु प्रत्नलिपितत्त्व के प्र अनुसार यह असंभव है। सिक्कों के अतिरिक्त उसी टामस-रचित 'हैम-प्रवाह' (लि ऑरिया-गोल्डेन लिजेंड) नामक धर्मप्रचार संबंधी ग्रंथ में तथा तख्तेबहाई प्राप्त गंदुफर के राज्यकाल के २६ वें वर्ष के एक लेख में किसी संवत् का १०३ वर्ष उल्लिखित है, किंतु आज तक ऐतिहासिक विद्वान् यह निर्णय नहीं कर हैं कि यह संवत् कौन सा है। श्रीजायसवाल ने नहपान का समय ई० पू० ८ ५० वर्ष माना है; किंतु यह भी केवल अनुमान मात्र है। वस्तुतः यह निर्विवाद है प्रत्नलिपितत्व के सिद्धांतों के अनुसार चहरात और उसके वंश के सिक्के आदि ईसा उत्तरकाल के कदापि सिद्ध नहीं किए जा सकते; और उस दशा में जो इतिक्रम यहाँ स्थापित किया जा रहा है, वह यदि इतिहास की अन्य घटनाओं से भी सामंजस्य रखे तो अवश्य स्वीकार करना चाहिए। नहपान के संबंध में भारतवर्ष के पुराण और जैन इतिहास कार अपना स्पष्ट मत प्रकट करते हैं कि उसका शासन-काल विक्रम संवत् से बहुत पहले समाप्त हो चुका था, जब कि नहपान का उत्तराधिकारी गर्दभिल्ल वंश उज्जैन में लगभग ७० वर्ष राज्य करके शकों के नए आक्रमण के कारण उच्छिन्न हो गया था; और विक्रम ने उनका नाश कर शकारि पदवी ग्रहण करके मालवगण-स्थित्यब्द की स्थापना की थी। यदि हमारे ऊपर लिखे राजाओं के क्रम से इस घटनाक्रम में भी व्याघात न पड़ता तो यह क्यों न स्वीकार किया जाय?

ऐसा जान पड़ता है कि प्रद्योत शुंग और उनके उत्तराधिकारी राजाओं के शासन काल में मालवा में गण-शासन नहीं रहा था, और आंध्रवंशी शातकर्णी के आने से पू विदेशी चहरातवंशियों ने भी गणतंत्र को शक्ति प्राप्त नहीं करने दी थी। गौतमीपुत्र शात कर्णी ने अपने युद्ध-संबंधी साधनों का संघटन करने के अवसर पर मालवा के मालव और क्षुद्रक (कदाचित् उसकी माता के उत्कीर्ण कराए लेख के 'अवर' या शूद्र) गणों के युद्ध प्रिय युवक सैनिकों को भी समुन्नत किया। गर्दभिल्ल या तो उन्हीं गणों में से कोई रहा होगा अथवा उनसे भिन्न ये कोई समुद्र-तटीय भील सरदार रहे होंगे, या खारवेल के समय के उत्कलदेशीय शासकों की संतानों में से रहे होंगे, जैसा कि अनेक विद्वान् इनको उस वंश से संबद्ध बताते हैं। ये कोई भी रहे हों, किंतु इनका स्वतंत्र उल्लेख उक्त उत्कीर्ण लेख में प्राप्त न होने पर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि इस वंश को इसी अवसर पर प्रकाश में आने का सुयोग प्राप्त हुआ था। चहरातों की पराजय एवं गौतमीपुत्र शातकर्णी की विजय के पश्चात् मालवा पर आंध्रों का ही शासन रहा था, जैसा कि उत्कीर्ण लेख से सिद्ध होता है और उस जनपद में पुरानी गण-शासन पद्धति का पुनरुद्धार अभी त

1—बिशप मेडलीकॉट, "इंडिया ऐंड दि अपॉस्टल टॉमस", पृ० १–१७

नहीं हो सका था। किंतु गौतमीपुत्र का पुत्र और उसका उत्तराधिकारी पुलुमायि अपने पिता जैसा शूरवीर और साहसी तथा योग्य शासक नहीं था, यह बात इसी से सिद्ध है कि उक्त उत्कीर्ण लेख में, जो पुलुमायि के ही शासनकाल में प्रकाशित किया गया था, उसके संबंध में एक भी प्रशंसा का वाक्य नहीं कहा गया है। इससे मालवा के गणों को अपना स्वतंत्र संघटन करने के लिये अवसर मिल गया था और गर्दभिल्ल वंश की अध्यक्षता में यह गण अपना बल बढ़ाने लगा था।

हम गौतमीपुत्र शातकर्णी, नहपान, गर्दभिल्ल, शक-आक्रमण और विक्रम संवत् की घटनाओं का क्रम इस प्रकार स्थिर करते हैं—

गौतमीपुत्र, रा० का० ५६ वर्ष, १४७–९१ ई० पू० (९०–३४ वि० पू०)।

नभोवाहन, रा० का० ४० वर्ष, १७२–१३२ ई० पू० (११६–७६ वि० पू०)।

नभोवाहन का पतन, छहरात वंश का अंत, गौतमीपुत्र द्वारा उनके शासन के पंद्रहवें वर्ष के लगभग—१३२ ई० पू० (७६ वि० पू०)।

गर्दभिल्लों का उदयारंभ—१३२ ई० पू० (७६ वि० पू०)।

गर्दभिल्लों का राज्यकाल—७२ वर्ष, १३२–६० ई० पू० (७६–४ वि० पू०)।

गर्दभिल्लों की स्वतंत्र सत्ता—१३ वर्ष, ७३–६० ई० पू० (१७–४ वि० पू०)।

शकों का उज्जयनी पर अधिकार, गर्दभिल्लों का अंत, शकों का राज्यकाल—४ वर्ष, ६०—५६ ई० पू० (४ वि० पू० से विक्रम संवत के आरंभ तक)।

विक्रम संवत की स्थापना—५६ ई० पू०।

पुराणों में गर्दभिल्लों का आरंभ तो उसी समय से मान लिया गया जान पड़ता है जब छहरात वंश को नष्ट करने के लिये गौतमीपुत्र द्वारा किए गए संघटन में उनको उत्थान का अवसर मिलने लगा था। किंतु गौतमीपुत्र जैसे तेजस्वी, यशस्वी और शूर-वीर शासक के शासन से यह वंश अपने आपको स्वतंत्र नहीं कर सकता था और उसकी सार्वभौम सत्ता को स्वीकार करके ही इसने मालवा की राजधानी उज्जयनी में अपनी सत्ता को स्थिर रखा। इसी अवांतर में मालव-क्षुद्रकगणों को भी लगभग ५–६ शताब्दियों के नष्ट हुए गणतंत्र शासन के पुनःसंगठन का अवसर मिल गया। जान पड़ता है कि गौतमीपुत्र के जीवन-काल में गणतंत्रवाले नेता, जिनमें निःसंदेह गर्दभिल्ल भी थे, बड़ी चतुरता के साथ छिप-छिपकर अपनी शक्ति बढ़ाते रहे; अथवा गौतमीपुत्र उनके केवल पराधीनता स्वीकार करने मात्र की उक्ति से ही संतुष्ट रहे होंगे, इसीलिये इनके प्रयत्नों को आगे सफलता मिल सकी होगी।

आंध्रवंश के इस शालिवाहन राजा का शासन जिस समय उत्तर में लगभग यमुना-तट तक बढ़ चुका था उस समय विदिशा का नागवंश भी उनके अधीन हो गया था। इसी

गौतमीपुत्र ने पाटलिपुत्र के शुंगवंश से अपनी स्वतंत्रता भी प्राप्त कर ली थी, किंतु कण्ववंश के निर्बल राजा वहाँ शासनचक्र कुछ काल पर्यंत और चलाते रहे।

७—पुलुमावी प्रथम, वाशिष्ठीपुत्र (वेणी०); अनिष्टकर्मा (भाग०); पुलोमा (विश्व० कोष कार्यालय का मत्स्य०); पुलोमायि (विश्व०, ब्रह्मा०); पुलिमत (विश्व०, विष्णु०); पुलि० (विश्व० भाग०); वाशिष्ठीपुत्र पुलुमायि (विश्वकोष के संपादक की सूची); पुलोमायि प्रथम (पार्जिटर); राज्यकाल ३६ वर्ष, ई० पू० ९१–५४ (वि० पू० ३४ से वि० सं० २ तक)।

इस राजा का यह क्रम हमने पूर्वोक्त गौतमी के शिलालेख के आधार पर श्रीवेणीप्रसाद की सूची को देखकर स्वीकार किया है। अन्यत्र इसका क्रम चौबीसवाँ या पचीसवाँ प्राप्त होता है। पार्जिटर ने पुलुमायि प्रथम से भिन्न ही अनिष्टकर्मा या अनिष्ट० का शासन अपनी सूची में लिखा है।

यह तेजहीन आंध्र राजा था। इसी के समय में विक्रम ने मालवा में गणतंत्र की स्वतंत्र स्थापना की. एवं शकों का पराजय करके अपने संवत् का प्रचार भी किया। शकों को पराजित करने में पुलुमायि ने भाग नहीं लिया था, अन्यथा उक्त गौतमी के शिलालेख में इस घटना का उल्लेख ही यथेष्ट होता।

८—लंबोदर। सर्वत्र इसका यही नाम प्राप्त होता है। इसका राज्यकाल भी सर्वत्र १८ वर्ष लिखा है। पार्जिटर को छोड़कर सबने इसका क्रम छठा स्वीकार किया है, किंतु उन्होंने इसे सातवें क्रम पर रखा है। गौतमीपुत्र शातकर्णी और वाशिष्ठीपुत्र शातकर्णी के संबंध में ऊपर जिन घटनाओं का उल्लेख किया गया है उन्हीं के आधार पर हमने इसका क्रम अपनी सूची में आठवाँ रखा है। राज्यकाल ई० पू० ५४–३६ (वि० सं० २–२०)।

९—आपीड़क, आपीलक (पार्जि०, विश्व०, ब्रह्मांड०); आपीतक (विश्व०. मत्स्य० विश्व० संपादक की सूची); शुद्ध नाम आपीलक जान पड़ता है। भागवत और विष्णु पुराण में और वेणी सूची में यह नाम नहीं है।

राज्यकाल सर्वत्र १२ वर्ष ; पार्जिटर में इसका क्रम आठवाँ और अन्यत्र सातवाँ है। ई० पू० ३६-२४ (वि० सं० २०-३२)।

१०—मेघस्वाति या सेघस्वति (मत्स्य०, विष्णु०, भाग०, पार्जि० और विश्व० के संपादक की सूची); सौदास (विश्व० कार्यालय का ब्रह्मांड०)।

राज्यकाल सर्वत्र १८ वर्ष, और क्रम पार्जिटर में नवाँ, तथा अन्यत्र आठवाँ। ई० पू० २४-६ (वि० सं० ३२-५०)।

११—स्वाति या स्वति (पार्जि०); स्वति सति (वेणी०); शाति (विश्व० मत्स्य०); भास्कर (विश्व० ब्रह्मांड०); भागवत और विष्णु पुराण में यह नाम नहीं है। इन दोनों ग्रंथों में और सूचियों से ६ या ७ नाम कम दिए हैं।

विश्वकोष की सूचियों में इसका क्रम नवाँ और पार्जिटर में दसवाँ तथा वेणीप्रसाद में चौदहवाँ है। इसका राज्यकाल १८ वर्ष लिखा पाया जाता है--ई० पू० ६ से ई० सन् १२ तक (वि० सं० ५०-६८)।

१२—स्कन्द स्वाति (पार्जि०, विश्व० मत्स्यपुराण); स्कन्दस्वामि (विश्व० ब्रह्मांड०); स्कन्द स्वति (वेणी०); चकोर (भाग०); स्कन्द शातकर्णी (विश्वकोषकार की सूची); राज्यकाल ७ वर्ष, ई० सन् १२ से १९ तक (वि० सं ६८-७५)।

१३—अरिष्टकर्णी (विश्व० मत्स्य०); मेमिकर्णी (विश्व० ब्रह्मांड०); अरिष्टकर्मन (विश्व०, भागवत और विष्णु पुराण); अरिष्ट कर्ण (पार्जि०); श्रीकृष्ण सातकर्णी (वेणी०); अनिष्टकर्मा (भाग०, वेणी०); राज्यकाल सर्वत्र २५ वर्ष—ई० १९ से ४४ तक (वि० सं० ७५-१००)।

वेणीप्रसाद की सूची में इसका क्रम दसवाँ है, पार्जिटर में सोलहवाँ और अन्यत्र भी सोलहवाँ ही है।

१४—हाल (पार्जि०, विश्व०, मत्स्य०, ब्रह्मांड०, भाग०, विष्णु०, विश्वकोष के संपादक की सूची); हाल सातकर्णी (वेणी०); राज्यकाल सर्वत्र ५ वर्ष--ई० ४४-४९ (वि० सं० १००–१०५)। वेणीप्रसाद में इसका क्रम ग्यारहवाँ है और अन्यत्र सब जगह सत्रहवाँ है।

१५—मंडलक (विश्व०, ब्रह्मांड०); मंडल शातकर्णी (विश्व०, मत्स्य पुराण); पत्तलक (विश्व०, विष्णु०); तलक (विश्व०, भाग०); पट्टतक, मंडलक, तलक सातकर्णी (वेणी०); मंतलक (पार्जि०); मंडल शातकर्णी (विश्व० के संपादक की सूची)।

राज्यकाल सर्वत्र ५ वर्ष, ई० ४९-५४ (वि० सं० १०५-११०); वेणी० में इसका क्रम बारहवाँ और प्राय: सर्वत्र अठारहवाँ है।

१६—श्रीशकसेन (शिलालेख); पुरिकसेन, प्रविल्लसेन (वेणी०); पुरीषभीरु (भाग०, वेणी० में उद्धृत); पुरीन्द्र सेन (विश्व०, मत्स्य०); पुरिकषेण (विश्व०, ब्रह्मांड०); प्रविल्लसेन (विश्व०, विष्णु०); पुरीन्द्रसेन (विश्वकोष)।

राज्यकाल सर्वत्र २१ वर्ष, ई० ५४-७५ (वि० ११०-१३१); इसका क्रम वेणी० में तेरहवाँ और अन्यत्र सब जगह उन्नीसवाँ दिया है।

अब तक जिन राजाओं के नाम लिखे जा चुके हैं उनमें हाल सातकर्णी (क्रम संख्या १४) के विषय में यह ज्ञात हो चुका है कि इसने गाथासप्तशती के नाम से एक प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ निर्माण किया था। उसमें प्रसंगतः इसने संवत्कार विक्रमादित्य का उल्लेख भी एक गाथा में किया है। इससे इसके विषय में दृढ़ता से कहा जा सकता है कि यह विक्रमादित्य शकारि का परवर्ती था, और विक्रमादित्य का नाम उसकी मृत्यु

के थोड़े समय पश्चात् ही से काव्यों में आने लगा था। किंतु मध्यभारत के इतिहास में इसी अवांतर में कितने ही परिवर्तन हो चुके थे। ईसा से लगभग ७८ और विक्रम से २२ वर्ष पूर्व कण्वों ने शुंगों की रही सही शक्ति को तोड़कर मगध-साम्राज्य का एक प्रकार से अंत कर दिया था। उस समय सातकर्णी पुलुमायी प्रथम (ऊपर सातवाँ क्रम) राज्य कर रहे थे। पुलुमायी भी अपने पिता की कीर्ति को अक्षुण्ण नहीं रख सके थे और कण्वों का अधिकार कहीं कहीं आंध्र प्रांतों पर भी हो गया था। कण्वों के आक्रमणों से बचने के लिये ही कदाचित् नाग अपनी राजधानी को भूतनंदी के समय में, विक्रम संवत् से लगभग २४ वर्ष पूर्व, पद्मावती (पवायाँ) में उठा लाए थे। आंध्रों की निर्बलता से लाभ उठाकर गर्दभिल्ल वंश अब मालवा में अपनी स्वतंत्र सत्ता की घोषणा करने लगा था और कण्व वंश का अंत भी निकट आ रहा था। पुराणों के अनुसार ईस्वी ४३ या वि० १४ में कण्वों का अंत हो गया था और यह कार्य आंध्र राजाओं के द्वारा ही संपन्न हुआ था। हमारी गणना और सूची-क्रम के अनुसार उस समय लंबोदर (क्रम-संख्या ९) का शासनकाल था। लंबोदर से आगे जिन आंध्र राजाओं के नाम दिए गए हैं उनके विषय में विशेष कुछ ज्ञात नहीं है, किंतु शकों के उस आक्रमण-काल में, जिसका अंत विक्रमादित्य ने किया था एवं जब से संवत् की गणना का आरंभ हुआ था, विदिशा के नाग भयभीत होकर नागपुर (नंदिवर्धन) में शरण लेने के लिये चले गए थे। विक्रमादित्य का राज्यकाल ६० वर्ष माना जाता है। वस्तुतः इसका निश्चय कर सकना कठिन है। मालवगणों की यह पुनर्जीवित स्वतंत्रता या गणतंत्रता शीघ्र ही फिर शकों द्वारा आक्रांत हुई थी और उस आक्रमण का समय कोई भी ऐतिहासिक विद्वान् निश्चयपूर्वक और संतोषजनक रीति से अभी तक नहीं निश्चित कर सका है। तो भी यह निश्चित है कि शकों के इस दूसरे आक्रमण का अंत होने पर ही शाके शालिवाहन का आरंभ हुआ था। वस्तुतः भारतवर्ष को शकों ने दूसरी बार कब आक्रांत किया, अभी इसके निर्णय का समय नहीं आया जान पड़ता क्योंकि इस निर्णय के आधार पर शक इतिहास का संपूर्ण क्रम निर्भर है। तो भी एक बात का अनुमान किया जा सकता है कि शाके शालिवाहन का आरंभ श्री शकसेन शातकर्णी के शासन में हुआ होगा, अर्थात् शकों का दूसरा पतन भारतवर्ष में आंध्रों के द्वारा ई० सन् ७८ (सं० १३५) में श्रीशकसेन के शासन के लगभग पंद्रहवें वर्ष में हुआ था। श्रीशकसेन के विजयी शासन से पूर्व हाल सातकर्णी ने कुषाण विजेता कफस या कुजुल कफस से मिलकर सिंधु देश से पार्थ वा पारद शासकों को मार भगाया था। किंतु उसी समय से ये कुषाण शक उत्तर भारत में घिरते जा रहे थे और कुजुल कफस के जीवन-काल में ही संपूर्ण उत्तर तथा पश्चिम भारत उनके अत्याचारों से अत्यंत त्रस्त होने लगा था। हाल के उत्तराधिकारी सातकर्णी नरेश मंडलक छोटे से प्रांत पर ही राज्य करते रहे होंगे, अथवा संभव है कि शकों के द्वारा ही वे किसी युद्ध में इनसे लड़ते लड़ते ही मारे गए हों; इसीलिये इनका राज्यकाल केवल ५ वर्ष रहा। इनके नाम मंडलक और पत्तलक इनके व्यक्तिवाचक नाम न होकर उपाधिवाचक रहे होंगे। इन नामों से ऐसी ध्वनि भी आती है जिससे हमारा अनुमान सिद्ध होता है।

कुजुल कफस के पीछे उसका पुत्र वीमकावफिस कुषाणपति हुआ और उसके समय

में शातकर्णी श्रीशकसेन ने कुषाण-शक्ति का अंत संवत् १३५ में उसे युद्ध में परास्त करके कर दिया। तभी से शाके शालिवाहन का आरंभ माना जाता है।

यहाँ यह जान लेना चाहिए कि यद्यपि कुषाण युद्ध में हार गए और उनकी शक्ति एकबार टूट गई तथा डा० कोनो के शब्दों में वीम के समय में एक बार कुषाण-शक्ति का समूल नाश हो गया था, किंतु एक बार फिर उसका भारतवर्ष में उदय हुआ जिसका उल्लेख आगे किया जायगा।

१७-१९—महेन्द्र मृगेन्द्र (विश्व० संपादक सूची, वेणी०); मृगेन्द्र स्वातिकर्णी (विश्व० मत्स्य०); मृगेन्द्र स्वातिकर्ण (पार्जि०); महेन्द्रशातकर्णी (विश्व० ब्रह्मांड०); यूनानियों का मांबरस सरगनस महान्[1] (वेणी०); राज्यकाल ३ वर्ष, ई० ७५-७८, वि० सं० १३१-१३४।

कुंतल स्वातिकर्ण (पार्जि०, विश्व०, मत्स्य०); कुंतल शातकर्ण (विश्व० ब्रह्मा०, विश्व० संपा० सूची); कुंतल सातकर्णि, यूनानियों का युवराज सारगनस[2], सातकनस (वेणी०)।

राज्यकाल ८ वर्ष, सन् ७८-९६ (वि० सं० १३४-१४२)।

सुंदर सातकर्णि—सुंद्र, सुनंदन, यूनानियों का सांदनस सारगनस[3] (वेणी०); सुंदर सातकर्णी (विश्व०, मत्स्य०, ब्रह्मांड०, पार्जि०); सुंदर शातकर्णी (विश्व० संपा० सूची); राज्यकाल १ वर्ष, सन् ८७ (सं० १४३)।

इन तीनों राजाओं का यह क्रम वेणी० सूची के अनुसार है; किंतु और सूचियों में क्रम सं० १७ और १८ के नाम ग्यारहवें और बारहवें क्रम पर तथा उन्नीसवाँ नाम इक्कीसवें क्रम पर लिखा पाया जाता है। पार्जिटर में पहले दो नाम बारहवें और तेरहवे क्रम पर हैं।

श्री वेणीप्रसाद शुक्ल की सूची में सुंदर सातकर्णी का समय ईस्वी सन् ८३ स्वीकार किया गया है; इसका कारण यह है कि वे कुंतल शातकर्णी को शालिवाहन शक का संस्थापक एवं शकों का पराभवकर्ता मानते हैं। अतएव वे ई० ७८ में उनका शासन भी स्वीकार करते हैं। कुंतल सातकर्णी स्वयं मृगेंद्र शातकर्णी के पुत्र थे, अतः इस घटना से मृगेंद्र का क्रम भी निर्णीत हो जाता है। इस प्रसंग में उन्होंने पेरिप्लस का एक उद्धरण इस प्रकार दिया है—

"एरिका (आर्यावर्त) से मांबरस का राज्य आरंभ होता है। मांबरस और छोटे सारगनस के राज्यकाल में ग्रीक व्यापारी जहाज कल्याण के बंदरगाह में बे-रोकटोक

१—Mambaras Sarganas senior.

२—Junior Sarganas.

३—Sandenas Sarganas.

माल उतारते थे। कल्याण ग्रीक जहाजों के लिये खुला बंदरगाह था। लेकिन जब... पर सांदनस का शासन हो गया तो ग्रीक जहाजों को लाचार हो कल्याण छोड़कर बेरिगा... में आना पड़ता था।"

इस अवतरण में उक्त तीनों शातवाहन नरेशों के नाम क्रमपूर्वक आए हैं, ... उनका क्रम भी सुनिश्चित मानना उचित है। समय के विषय में उक्त ऐतिहासि... विद्वान् ने यह युक्ति दी है कि स्कोफ ने पेरिप्लस के भूगोल का रचना-काल ८० ... माना है, अतः ८३ ई० में बेरिगाजा (भृगु-कच्छ) में सांदनस का राज्य था... सन् ८० की रचना में वह सन् ८३ के भारतीय व्यक्ति का वृत्तांत यूनान में बैठकर कि... प्रकार लिख सका होगा, यह बात हमारी समझ में नहीं आई। पेरिप्लस का यह स... विंसेंट स्मिथ ने भी स्वीकार किया है, किंतु यह मत कुछ सर्वसंमत नहीं है। कैनेडी ... ई० ७० ही उसका रचना-काल स्वीकार करता है, किंतु मैकक्रिंडल ने सन् ८९ ... इस ग्रंथ का लिखा जाना स्वीकार किया है। यह बहुत अधिक संभव है कि लग... १०० ई० तक पेरिप्लस की इस रचना में घटाबढ़ी होती रही हो। यह तो निर्वि... है कि भारतवर्ष के पोतसदन भृगुकच्छ का जो वृत्तांत उसने लिखा है उसका घटना... वास्तविक समय से दो-तीन वर्ष पीछे ही लिखा जाना संभव है, जब नाविकों... भारतवर्ष से जाकर वहाँ ये बातें कही होंगी। उस समय भारतवर्ष से यूरोप को लौटने... दो वर्ष से कम क्या लगते होंगे? ऐसी दशा में हमने जो समय सूची-क्रम में दि... है वह ठीक जान पड़ता है।

संवत् १३५ (सन् ७८) में जो शकों की पराजय हुई थी उसने उनकी बढ़ती... विजय के प्रचार को रोक दिया था एवं उन्हें पीछे हटा दिया था, तो भी वे ... भारतवर्ष, पंजाब, सिंधु आदि पच्छिमी प्रांतों में अपनी जो शक्ति स्थापित कर चुके... वह सब अभी शेष थी; और यह कार्य इन तीनों शालिवाहनों के समय में पूरा हुआ... जैसा कि 'बृहत्कथा' तथा 'कथासरित्सागर' में वर्णित कुंतल शातकर्णी के वृत्तांत से ... होता है। उक्त ग्रंथों के अनुसार कुंतल सातकर्णी ने कर्णाटक के राजा जयध्वज, कलि... के राजा कलिंगसेन (अथवा भद्रसेन-वीरसेन एवं मलयराजपुत्री से विवाह करके अ... पृष्ठ की रक्षा से निश्चिंत होकर गौड़ के राजा शक्तिकुमार, लाट (सौराष्ट्र) के राजा विक्र... वर्मन, कश्मीर और सिंधु देश के राजा सुनंदन, विंध्याचल के राजा गोपाल और पार... सरदार निमुक को साथ लेकर संपूर्ण भारतवर्ष से शक-शक्ति को पूर्णरूपेण उच्छिन्न ... दिया था और विक्रमादित्य-विषमशील की उपाधि ग्रहण की थी।

कोई कोई ऐतिहासिक विद्वान् इस कुंतल शातकर्णी की विजय को सन् ७८ ई० ... मानकर इसीको शाके शालिवाहन चलाने का श्रेय देते हैं। किंतु उक्त ग्रंथों में उसे सं... प्रवर्तक नहीं कहा गया है। कथासरित्सागर में उसके प्रताप और शौर्य का विस्तृत व... किया गया है, उसकी दिग्विजय का उल्लेख सविस्तार दिया है और उसकी प्रशंसा में ... अनेक श्लोक लिखे गए हैं। फिर कोई कारण समझ में नहीं आता कि यदि उसने ...

संवत् की स्थापना की थी तो उसका उल्लेख क्यों नहीं किया गया। इसी महाराज के विषय में कथासरित्सागर में यह भी लिखा है कि उसने कण्व-राजकन्या से विवाह करके मगध का राज-सिंहासन भी दहेज में प्राप्त किया था। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि कण्व राजवंश का अंत भी इसीके द्वारा हुआ था और कण्व राजा उस समय से पाटलिपुत्र में आंध्रों के कारागार में बंदी होकर दिन काट रहे थे। पुराणों में इसी घटना के संबंध में लिखा है--

कारावायनं ततो भृत्यः शुङ्गानां चैव यच्चैषां
क्षपित्वा तु बलीयान् स शिशुकोऽन्ध्रः सजातियः। —स्कंद०

मत्स्यपुराण में इसका पाठ इस प्रकार दिया है, जो अधिक शुद्ध है—

कारावायनास्ततो भूपाः सुशर्माणं प्रसह्य तं
शुङ्गानां च यच्छेषं क्षपयित्वा तु बलं तदा।
शिशुकोऽन्ध्रो सजातीय प्राप्स्यतीमां वसुन्धरा॥

किंतु इस घटना का सामंजस्य होना कठिन दिखाई देता है, जैसा कि लेख के आरंभ में भी कहा गया है। कण्ववंश का अंत ३७ या २७ ई० पू० (विक्रम सं० १९ या २९) सिद्ध होता है जो ७८ ई० से बहुत पूर्व है। इसका अर्थ कदाचित् यह हो सकता है कि ई० पू० ३७ या २७ में कण्ववंश का अधःपतन हो गया था एवं उस वर्ष आंध्र राजा स्वतंत्र हो गए थे। उन्होंने उसी वर्ष शुंगों और उनके सामंतों की शक्ति का अंत मालवा में नहीं किया था, तथा मगध में वे (कण्व) नाममात्र के भूपति रह गए थे। ३० या ४० वर्ष पीछे जब इन तीन आंध्रों ने शक-कुषाण शक्ति का पराभव किया तभी उन्होंने प्रथम कण्वों का, फिर शुंगों का और तत्पश्चात् शक-कुषाणों का अंत किया होगा। लंबोदर सातकर्णी (क्रम संख्या ८) ही प्रथम सातवाहन राजा हो सकता है, जिसने कण्ववंश के विरुद्ध विद्रोह करके अपनी स्वतंत्रता घोषित की थी। कुंतल शातकर्णी ने जिस कण्व को कैद किया था एवं जिसके नाममात्र अधिकार से मगध के राजसिंहासन का हरण किया था, उसका नाम भी सुशर्मा रहा होगा, किंतु वह नारायण के पुत्र से भिन्न होगा। वस्तुतः पुराण का उक्त लेख विश्वासपूर्ण नहीं है।

२०—सौम्य (विश्व० मत्स्य०); सौम्य सातकर्णी (विश्वकोष के संपादक की सूची)।

राज्यकाल ३॥ या ४ वर्ष, ई० ८७-९० संवत् १४३-७)। यह नाम किसी अन्य सूची में प्राप्त नहीं हो सका है, किंतु बिना इसके राज्यकाल की गणना किए पुराणोक्त राजाओं की संख्या और उनके वर्षों का योग भी ठीक नहीं बैठता; इसलिये हमने विश्वकोष के संपादक के मत को स्वीकार किया है।

२१—चकोर शातकर्णी (पार्जि०, विश्व० ब्रह्मांड०, भाग० और विष्णु०); विकर्ण (विश्व० मत्स्य०); राज्यकाल ६ मास। सन् ९०, संवत् १४७। वेणी० सूची में इसे स्कंद-स्वति का नामांतर माना है जो कि नहीं है।

२२—शिवस्वामि शातकर्णी (विश्व० संपादक); शिवस्वाति (विश्व०, मत्स्य०, विष्णु०, पार्जि०); शिवस्वामि (विश्व० ब्रह्मांड०); शिवस्वामिन् मथारिपुत्र (वेणी०)।

राज्यकाल २८ वर्ष, सन् ९०-११८, संवत् १४७-१७५ वि०।

२३—गौतमीपुत्र (विश्व०, मत्स्य०, ब्रह्मांड०, विष्णु०, भाग०, पार्जि०); गौतमीपुत्र पुलमायी तृतीय (वेणी०); गौतमीपुत्र शातकर्णी (विश्व० संपादक०)।

राज्यकाल २१ वर्ष, सन् ११८-१३९, संवत् १७५-१९६।

२४—पुलोमा (विश्व०, मत्स्य०, पार्जि०); पुलोमायि (विश्व०, ब्रह्मांड०); पुलिमान् (विश्व०, विष्णु०); पुरिमत (विश्व०, भाग०); वाशिष्ठीपुत्र पुलुमायि द्वितीय (विश्व० संपादक)।

पार्जिटर आदि विद्वान् इसे सं० २४ का पुत्र और वही प्रसिद्ध पुलोमावी स्वीकार करते हैं जिसके समय का नासिक का वह प्रसिद्ध शिलालेख है जिसे गौतमी बालश्री ने उत्कीर्ण कराया था। स्पष्ट ही उनका यह मत हमें मान्य नहीं है।

राज्यकाल २४ वर्ष, सन् १३९-१६३, संवत् १९६-२२०।

२५—शिवश्री (विश्व०, मत्स्य०, विष्णु०); शिवश्रीपुलोमायि (विश्व०, ब्रह्मां०, पार्जि०) शिवश्री वाशिष्ठीपुत्र सातकर्णी (वेणी०); शिवश्री सातकर्णी (विश्व० संपा०); मेदशिरस् (विश्व०, भाग०)।

राज्यकाल ७ वर्ष या ४ वर्ष, जैसा कि विश्वकोष के संपादक की सूची में है। हम ७ वर्ष स्वीकार करते हैं—सन् १६३-७०, सं० २२०-२२७।

२६—शिवस्कंद शातकर्णी (पार्जि० और विश्व० संपादक ; शिवस्कंद (विश्व० मत्स्य०, ब्रह्मांड०, विष्णु०, भाग०, वेणी०)।

राज्यकाल ३ वर्ष, सन् १७०-७३, संवत् २२७-२३०।

२७—यज्ञश्री सातकर्णी (विश्व०, मत्स्य०); यज्ञश्री शातकर्णिक (पार्जि०, विश्व०, ब्रह्मांड०); यज्ञश्री (विश्व०, विष्णु०, भाग०); यज्ञश्री गौतमीपुत्र (वेणी०)।

राज्यकाल १९ वर्ष; किंतु पार्जिटर ने २९ वर्ष लिखा है। हमने पार्जिटर का मत स्वीकार किया है। सन् १७३-२०२, संवत् २३०-२५९।

२८—विजय (पार्जि०, विश्व०, मत्स्य०, ब्रह्मांड०, भाग०, विष्णु, विश्व० संपादक की सूची, वेणी०)। राज्यकाल ६ वर्ष, सन् २०२-२०८, सं० २५९-२६५।

२९—चंद्रश्री (विश्व०, ब्रह्मांड०, वेणी०, विष्णु०); चंद्रश्री (चंद्र) शातकर्णी (पार्जि०); चंडश्री शातकर्णी (विश्व० मत्स्यपुराण); चंद्रविज्ञ (विश्व० भाग०); चंद्र साति (सिक्के)।

राज्यकाल १० वर्ष, सन् २०८-२१८, संवत् २६५-२७५।

३०—पुलोमावी (पार्जि०; पुलुमावी (वेणी०); पुलोमा (विश्व०, मत्स्य०); पुलोमायि (विश्व०, ब्रह्मांड०; पुलुमायि शातकर्णी (विश्व० संपा०; पुलीमार्चिस (विश्व० विष्णु०); सलोमधि (भाग०)।

राज्यकाल ७ वर्ष, सन् २१८-२२५, संवत् २७५-२८२।

सब राजा ३०; राज्यकाल ४६० वर्ष।

इन अंत के राजाओं के क्रम में भी कहीं कहीं व्यत्यय देखा जाता है, किंतु वह अधिक और महत्वपूर्ण नहीं है।

इस प्रकार राजाओं की संख्या एवं शासन-काल की दृष्टि से भी इस वंश का शासन मुगलों के वंश की अपेक्षा लगभग द्विगुण, भारतवर्ष के दक्षिणापथ में उस समय रहा, जब दक्षिण-भारत निरंतर एवं उत्तर-भारत कभी कभी कुषाण और शकों के आक्रमणों से हिल रहा था, जब भारतवर्ष में नागवंश और वाकाटकवंश अपना साम्राज्य उठाने में दत्तचित्त थे और जब संपूर्ण भारत क्रांतियों का क्रीडास्थल बन रहा था।

प्राचीन भारत के तपोवन

[श्री कृष्णदत्त वाजपेयी]

प्राचीन काल में ऋषि-मुनि सांसारिकता से दूर, वनों में निवास करते थे। उनकी आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी होती थी। वृक्ष की डालों, घास और पत्तों से बनी हुई 'पर्ण-शालाओं' में वे रहते थे, मृगचर्म और वल्कल ही उनके वस्त्र थे एवं कंद, मूल, फल उनके आहार थे। वे यहीं लोक-परलोक से संबंधित गूढ़ समस्याओं पर विचार करते थे। इन ऋषिमुनियों का जीवन तपस्यामय होता था, इसीलिये ये वन 'तपोवन' या 'आश्रम' (आध्यात्मिक श्रम करने के स्थान) कहलाए। वास्तव में हमारे समाज के नियंता महर्षियों ने जीवन को चार भागों (आश्रम) में विभक्त कर हमारा बड़ा उपकार किया है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ का जीवन भोग चुकने के बाद अपने प्रौढ़ अनुभव एवं चिंतन का फल आगे आनेवाली संतति को भी दिया जाय, यही वाणप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों के निर्माण का प्रधान हेतु था। इसी के फलस्वरूप हमारे यहाँ लौकिक ज्ञान के विकास के साथ साथ तत्त्वज्ञान के उच्च सिद्धांतों का निर्माण हो सका। श्रुति, स्मृति, आरण्यक, उपनिषद् तथा पुराण आदि अधिकांश में तपोवनों के निवासी ऋषि-मुनियों के ही गंभीर अध्ययन एवं गूढ़ चिंतन के फल हैं।

ये तपोवन या आश्रम धीरे धीरे शिक्षा के केंद्र बन गए। धर्मशास्त्रों के पठन-पाठन के अतिरिक्त विविध भाँति के विद्या-विसंवाद यहाँ हुआ करते थे। नैमिषारण्य के आश्रम में सौति ने कई सहस्र श्रोताओं को पुराण और उपपुराण सुनाए। स्त्री-पुरुष सभी इन आश्रमों में ज्ञानार्जन करते थे। ऋषि-मुनियों के कुमार-कुमारिकाओं की शिक्षा का यहाँ प्रबंध रहता था। अधिकांश आश्रमों में सहशिक्षा भी प्रचलित थी। शुक्राचार्य के आश्रम में कच और देवयानी साथ साथ अध्ययन करते थे। अंत में दोनों प्रेम-पाश में भी बँध गए। उत्तररामचरित से ज्ञात होता है कि आत्रेयी पहले वाल्मीकि जी के आश्रम में लव-कुश के साथ अध्ययन करती थी, बाद में निगमांत विद्या की प्राप्ति के लिये वह अगस्त्य आदिक के आश्रमों में गई।[1] इन आश्रमों में राजवर्ग तथा संभ्रांत कुलों के लोगों के अतिरिक्त जनसाधारण भी अपनी समस्याओं के समाधान के लिये अथवा वेद-वेदांत की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये जाते थे। वास्तव में जिज्ञासुओं के लिये इन तपोवनों का द्वार सदा उन्मुक्त रहता था। शास्त्रीय व्यवस्था के संबंध में वाद-विवाद उपस्थित होने पर उसका अंतिम निर्णय धर्मज्ञ ऋषि-मुनियों से ही कराया जाता था। ये लोग कभी कभी स्नातकों के ज्ञान की परीक्षा भी लेते थे। विभिन्न आश्रमों में

१—अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति।
तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्त विद्यां वाल्मीकिपार्श्वादिह संचरामि ॥ —अंक २, श्लो० ३

निवास करनेवाले लोगों के पृथक् पृथक् समुदाय होते थे जो 'चरण' एवं 'शाखा' के नाम से अभिहित होते थे। इनके द्वारा अपने अपने नियमों के अनुसार विभिन्न शास्त्रों की शिक्षा की व्यवस्था होती थी। इनमें से कुछ शाखाएँ और चरण धीरे धीरे अपनी मुद्राएँ भी रखने लगे। हाल में ही 'माध्यंदिनी', 'छांदोग्य' आदि शाखाओं की तथा 'बहवृच' नामक चरण की मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। वैदिक आश्रमों के अनुरूप बौद्धों तथा जैनों ने भी अपने अपने विहार और मठ बनवाए, जिनमें उन्होंने अपने धर्मों की शिक्षा की व्यवस्था की।

आश्रमों के विस्तृत एवं मनोरंजक वर्णन हमारे प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। अधिकांश आश्रम नदी या सरोवर के समीप होते थे, जिनसे उनकी प्राकृतिक शोभा बढ़ जाती थी। उनमें शाल, कदंब, अशोक, नागकेसर, चंपक आदि अनेक प्रकार के वृक्ष होते थे, जिनमें असंख्य पक्षियों का निवास रहता था। मृग, मर्कट, सिंह, वराह आदि जंगली जानवर वहाँ निश्शंक विचरण किया करते थे। आश्रम-वासियों के तपस्या-जनित प्रताप से ये पशु अपना स्वाभाविक वैर-भाव भी त्याग देते थे। वृक्ष, लताओं तथा जलाशयों में उत्फुल्ल अनेक प्रकार के पुष्प आश्रमों के सौंदर्य को बढ़ाते थे। यज्ञों के धूम्र से सारा वातावरण पवित्र रहता था। आश्रमों में सभी प्रकार के अतिथियों का समुचित सत्कार होता था। कण्व के आश्रम में दुष्यंत का तथा अत्रि, अगस्त्य आदि के आश्रमों में राम का आतिथ्य प्रसिद्ध है। जब राजा दुष्यंत कण्व के आश्रम में उनकी अनुपस्थिति में पहुँचते हैं तब आश्रम का तापस कितने भोले शब्दों में राजा से कहता है—

"राजन्, समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम्। एष खलु कण्वस्य कुलपतेनुमालिनीतीर-माश्रमो दृश्यते। न चेदन्य कार्यातिपातः तत्प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथेयः सत्कारः।"

दुष्यंत उस सुंदर आश्रम में देखते हैं कि "कहीं तो वृक्षों के तले सुग्गों के घोंसलों से गिरे हुए तिन्नी के दाने बिखरे पड़े हैं, कहीं इधर-उधर पड़े हुए चिकने पत्थर बता रहे हैं कि उनपर हिंगोट के फल तोड़े गए हैं, कहीं निर्भीक खड़े हुए मृग इस विश्वास से रथ का शब्द सुन रहे हैं कि आश्रम में उन्हें कोई नहीं छेड़ेगा और कहीं सरोवरवाले मार्ग को बतानेवाली रेखाएँ, जो आश्रम-वासियों के वल्कलों से टपके हुए जल के कारण बन गई हैं, दिखाई देती हैं।...कहीं जल की उन छोटी धाराओं के द्वारा जो पवन से चंचल हो उठी हैं, धुली हुई जड़ वाले वृक्ष हैं तो कहीं यज्ञ के धुएँ के कारण कुछ कुछ काली पड़ गई चमकीली नई कोंपलें हैं; जहाँ कहीं उपवन की भूमि से कुशा आदि साफ कर दी गई हैं वहाँ हिरण के बच्चे निडर होकर धीरे धीरे चर रहे हैं।"[1]

भवभूति ने भी अपने नाटकों में तपोवन का मार्मिक चित्रण किया है। सत्पुरुषों का संग, वृक्षों की छाया में विश्राम, फल-मूल तथा जल का आहार और सबसे बड़ी बात

१—अभिज्ञान शाकुंतल, अंक १, श्लो० १४-१५।

पराधीनता से रहित जीवन, ऋषियों के तपोवन में ही सुलभ है। वनदेवता अभ्या... तापसी से कहती है—

यथेच्छाभोग्यं वो वनमिदमयं मे सुदिवसः।
सतां सद्भिः संगः कथमपि हि पुण्येन भवति।
तरुच्छाया तोयं यदपि तपसो योग्यमशनं।
फलं वा मूलं वा तदपि न पराधीनमिह वः॥

—उत्तररामचरित, अंक २, श्लो...

बाणभट्ट ने कादंबरी में विशाल विंध्याटवी का वर्णन किया है जिसमें अनेक हिं... जीव रहते थे, परंतु जो कुशा, चीर, जटा और वल्कल धारण करनेवाले मुनिजनों... निवास के कारण पुण्यस्थली बन गई थी—"क्वचिद् गृहीतव्रतेव दर्भचीरजटावल्कलधारि... अपरिमित बहुलपत्रसंचयापि सप्तपर्णभूषिता, क्रूरसत्त्वापि मुनिजनसेविता, पुष्पव... पवित्रा विन्ध्याटवी नाम।" [1]

दूसरे स्थल पर बाण गोदावरी-तट पर स्थित महर्षि जाबालि के आश्रम का वि... वर्णन करते हुए लिखते हैं कि किस प्रकार "वहाँ अनेक शिष्यों के सहित मुनियों... आवागमन जारी रहता था; यज्ञ के धुएँ से सारा गगनमंडल आच्छादित हो जाता... आश्रम में किसी ओर अध्ययन करते हुए विद्यार्थी दिखाई पड़ रहे थे तो किसी ... वाचाल शुक-सारिकाओं का समूह दृश्यमान था; कहीं कुक्कुट, हंसादि वैश्वदेव बलि... आहार कर रहे थे तो कहीं मृगी की मृदु जिह्वा को चाटते हुए मुनि-बालक दिखाई पड़... थे; एक ओर यज्ञ की अग्नि से अधजले कुशा, फूल आदि थे तो दूसरी ओर पत्थर से ... हुए नारियल के रस से स्निग्ध शिलातल था; कहीं आश्रम के परिचित बंदर बुड्ढे और... तपस्वियों को हाथ का सहारा देकर उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने में सहा... दे रहे थे; कहीं सिखाए हुए मोर अपने पंखों से हवा करके मुनियों की यज्ञाग्नि को... कर रहे थे; कहीं अतिथियों का सत्कार किया जा रहा था; कहीं देव-पित्रों की अर्चा हो... थी; किसी स्थान पर यज्ञविद्या की व्याख्या हो रही थी तो कहीं धर्मशास्त्र की आलोच... कहीं अनेक पुस्तकों का पाठ हो रहा था तो अन्यत्र शास्त्रों पर गंभीर विचार किया... रहा था; कहीं नई पर्णशाला का निर्माण हो रहा था तो कहीं आँगन लीपा जा रहा... आदि आदि। अंत में बाण लिखते हैं कि यह "अति रमणीय आश्रम ऐसा लग रहा... मानो दूसरा ब्रह्मलोक हो।" [2]

तपोवनों के संबंध में अधिक उद्धरण न देकर अब हम उन पर्णशालाओं... संक्षिप्त चर्चा करेंगे जिनमें आश्रमवासी रहते थे। पर्णशाला (प्रा० 'पण्णसाला')... 'पर्णगृह', 'पर्णकुटी' और 'उटज' भी कहते थे।[3] पण्णसालाओं के अनेक उल्लेख ...

१—कादंबरी, पूर्वभाग, पृ० २० (वैद्य का संस्करण, पूना, १९३५)

२—कादंबरी, पृ० ३८–४०

३—अमरकोश २।२।६—'मुनीनां तु पर्णशालोटजो।'

साहित्य में भी मिलते हैं।[1] नीचे बाँस या मजबूत डालों को गाड़कर ऊपर घास, पत्तों आदि से छाकर इनकी रचना की जाती थी। वाल्मीकि रामायण में श्रीराम के चित्रकूट और पंचवटी में पर्णकुटी निर्माण करवाने के वर्णन मिलते हैं।[2] चित्रकूट से आगे चलने के बाद जब श्रीराम अगस्त्य से मिलते हैं तब वे उनसे दंडकारण्य में ऐसा स्थान पूछते हैं जहाँ जलादिक का आराम हो। अगस्त्य उन्हें पंचवटी जाने की सलाह देते हैं। श्रीराम पंचवटी पहुँचने पर ऐसी रमणीक जगह खोजते हैं जहाँ अच्छा जल मिले तथा जहाँ समिधा, फूल, कुशादि आसानी से मिल सकें—

"वनरामण्यकं यत्र जलरामण्यकं तथा
संनिकृष्टं च यस्मिंस्तु समित्पुष्पकुशोदकम् ॥

—वा० रा०, अरण्य,० १।५

उन्हें ऐसा स्थान शीघ्र ही मिल जाता है। तब वे लक्ष्मण को पर्णशाला-निर्माण का आदेश देते हैं। लक्ष्मण पहले मिट्टी इकट्ठा करते हैं, फिर मोटे बाँस तथा शमी की शाखाओं को गाड़कर उन्हें बाँधते हैं और अंत में उनके ऊपर कुश, काश, पत्तों आदि का अच्छी तरह आवरण डालते हैं। इस प्रकार पर्णशाला तैयार हो जाने पर लक्ष्मण गोदावरी नदी में स्नान कर वहाँ से कमल-पुष्प लाते हैं और पुष्प-वलि के द्वारा स्थान को पवित्र करते हैं। तदुपरांत श्रीराम सीता के साथ उस सौम्य कुटी में निवास करते हैं—

"एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः परवीरहा।
अचिरेणाश्रमं भ्रातुश्चकार सुमहाबलः ॥
पर्णशालां सुविपुलां तत्र संघातमृत्तिकाम्।
सुस्तंभां मस्करैर्दीर्घैः कृतवंशां सुशोभनाम् ॥
शमीशाखाभिरास्तीर्य दृढपाशावपाशिताम्।
कुशकाशशरैः पर्णैः सुपरिच्छादितां तथा ॥
समीकृततलां रम्यां चकार सुमहाबलः।
निवासं राघवस्यार्थे प्रेक्षणीयमनुत्तमम् ॥
स गत्वा लक्ष्मणः श्रीमान्नदीं गोदावरीं तदा।
स्नात्वा पद्मानि चादाय सफलः पुनरागतः ॥
ततः पुष्पबलिं कृत्वा शांतिं च स यथाविधिः।
दर्शयामास रामाय तदाश्रमपदं कृतम् ॥
स तं दृष्ट्वा कृतं सौम्यमाश्रमं सीतयासह।
राघवः पर्णशालायां हर्षमाहरयत्परम् ॥

—वा० रा०, अरण्य०, १५।२०–२६

१—जातक संख्या २; धम्मपद, पृ० ८८ आदि।

२—वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, अ० ५६ तथा अरण्यकांड, अ० १५।

बाणभट्ट ने भी श्रीराम के पर्णकुटी-निवास की चर्चा अपनी साहित्यिक शै[ली] में की है—

"यत्र च दशरथवचनमनुपालयन्नुत्सृष्टराज्यो दशवदनलक्ष्मीविभ्रमविरामो रा[मो] महामुनिमगस्त्यमनुचरन्सह सीतया लक्ष्मणोपरचितरुचिरपर्णशालः पंचवट्यां कंचित्[कालं] सुखमवास।" (कादंबरी, पृ० २१)

श्रीराम चित्रकूट के आश्रम में उतने काल तक नहीं ठहरे जितना वे पंचव[टी] में रहे। चित्रकूट अयोध्या के अधिक समीप था; दूसरे श्रीराम को यह डर था कि [यदि] भरत को वनवास का पता चला तो वे अवश्य चित्रकूट आकर उनसे वापस चलने [का] आग्रह करेंगे। यही बाद में हुआ भी। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस [में] चित्रकूट आश्रम का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। उनके अनुसार स्वयं देवताओं [ने] कोल-किरातों का वेष धारण कर श्रीराम तथा लक्ष्मण के लिये पर्णशालाओं [का] निर्माण किया—

"रमेउ राम मन देवन्ह जाना। चले सहित सुर थपति प्रधाना॥
कोल किरात वेष सब आए। रचे परन तृन सदन सुहाए॥
बरनि न जाहिं मंजु दुइ साला। एक ललित लघु एक बिसाला॥"

सीता को चित्रकूट में पर्णकुटी का निवास कैसा लगा, इसका सुंदर चित्र[ण] गोस्वामी जी ने किया है—

"सिय मनु राम चरन अनुरागा। अवध सहस सम बनु प्रिय लागा॥
परम कुटी प्रिय प्रियतम संगा। प्रिय परिवारु कुरंग विहंगा॥
सासु ससुर सम मुनितिय मुनिवर। असनु अमिअ सम कंद मूल फर॥
नाथ साथ साँथरी सुहाई। मयन सयन सय सम सुखदाई॥

केवट के द्वारा चित्रकूट के आश्रम का वर्णन भी मनोरंजक है—

तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई। कहेउ भरत सन भुजा उठाई॥
नाथ देखिअहि बिटप बिसाला। पाकरि जंबु रसाल तमाला॥
जिन्ह तरुबरन्ह मध्य बटु सोहा। मंजु बिसाल देखि मन मोहा॥
नील सघन पल्लव फल लाला। अविरल छाँह सुखद सब काला॥
मानहुँ तिमिर अरुनमय रासी। बिरची विधि सकेलि सुषमा सी॥
ए तरु सरित समीप गोसाईं। रघुबर परनकुटी जहँ छाईं॥
तुलसी तरुवर विविध सुहाए। कहुँ कहुँ सिय कहुँ लखन लगाए॥
बट छाया वेदिका बनाई। सिय निज पानि सरोज सुहाई॥

जहाँ बैठि मुनिगन सहित, नित सियराम सुजान।
सुनहिं कथा इतिहास सब, आगम निगम पुरान॥

प्राचीन भारतीय मूर्तिकला में भी पर्णशालाओं के चित्रण मिलते हैं। मथुरा के पुरातत्त्व संग्रहालय में ऐसे दो सुंदर दृश्य हैं। ये दोनों शुंगकालीन (ई० पू० द्वितीय-प्रथम शती) हैं। पहला दृश्य एक वेदिका-स्तंभ (संग्र० संख्या ५८६) पर है। किनारे गोल पर्णशाला बनी हुई है। उसके द्वार पर चटाई के ऊपर साधु बैठे हुए हैं। ये बोधिसत्त्व हैं। ये चार भिक्षुओं को, जो कौवा, पिंडुकी, हिरन और सर्प के रूप में प्रदर्शित किए गए हैं, यह उपदेश दे रहे हैं कि संसार में शरीर धारण करना ही दुःख का सबसे बड़ा कारण है। पर्णशाला का दूसरा दृश्य एक शिलापट्ट (संग्र० सं० आइ० ४) पर है। इसपर पूरा आश्रम अंकित किया गया है। पर्णशालाएँ, वृक्षों के बीच में दौड़ते हुए मृग, हवनकुंड, कमंडलु आदि बड़ी सुंदरता से चित्रित किए गए हैं। दो भिक्षु भी दिखाए गए हैं—एक वृद्ध है जो पक्षियों को दाना चुगा रहा है, दूसरा युवक है जो एक काँवर के सहारे खड़ा है। शिलापट्ट पर रोमक जातक की कथा प्रदर्शित है।

अंत में कुछ प्रमुख तपस्वियों के आश्रमों की चर्चा की जाती है—

वाल्मीकि—इनका आश्रम कानपुर के समीप बिठूर में था। सीता वनवास के समय यहीं पर रहीं और यहीं लव कुश का जन्म हुआ। वाल्मीकि द्वारा रामायण का प्रणयन यहीं हुआ बताया जाता है।

भरद्वाज—प्रयाग में इनका आश्रम था, परंतु उसके वास्तविक स्थान के संबंध में अभी विद्वान् एकमत नहीं हैं। श्रीराम वन जाते समय यहाँ होकर गए थे।

अत्रि—इनके आश्रम के ठीक स्थान का पता अभी तक नहीं चल सका। यहाँ भी श्रीराम गए थे। अत्रि अपनी पत्नी अनसूया के साथ रहते थे।

अगस्त्य—इनका स्थान नासिक के पूर्व आधुनिक अकोला जिले में था। सबसे पहिले दक्षिण जाकर आर्य-संस्कृति का विस्तार करनेवाले अगस्त्य ही थे। श्रीराम इनके आश्रम में कई दिन ठहरे। अगस्त्य ने उन्हें अपना धनुर्बाण दिया और उन्हें कुछ अन्य विशेष अस्त्रों की भी शिक्षा दी। यहीं से आगे चलकर पंचवटी थी, जहाँ श्रीराम ने अपनी पर्णकुटी बनवाई।

दंडकवन में श्रीराम ने शरभंग, सुतीक्ष्ण, मतंग आदि अन्य कितने ही ऋषि-मुनियों के आश्रम पाए।

वशिष्ठ—इनका आश्रम आबू पर्वत पर था। इनके यज्ञकुंड से परमार का जन्म कहा गया है। धीरे-धीरे वशिष्ठ एक कुल-नाम हो गया। अयोध्या के राजवंश के वशिष्ठ लोग वंशानुगत पुरोहित थे।

विश्वामित्र—शाहाबाद जिले (बिहार) के बक्सर नामक स्थान में इनका आश्रम था। यहीं श्रीराम ने उनसे धनुर्विद्या की उच्च शिक्षा प्राप्त की और ताड़का राक्षसी का वध किया।

भृगु—अधिकांश विद्वानों के मतानुसार बलिया में गंगा और सरयू के संगम पर इनका स्थान था। उसका 'भृगु-आश्रम' नाम अब भी प्रसिद्ध है।

गौतम—इनका आश्रम जनकपुर (दरभंगा के पास) था। जनक के यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये विश्वामित्र के साथ राम लक्ष्मण यहाँ आए थे और श्रीराम ने यहीं अहल्या का उद्धार किया था। इसके पूर्व गौतम इस आश्रम को छोड़ हिमालय में तपस्या करने चले गए थे।

व्यास—महाभारत और पुराणों के रचयिता महर्षि व्यास के आश्रम की पहचान बद्रीनाथ के समीप स्थित मनाल नामक स्थान से की गई है।

दुर्वासा—श्री नंदलाल दे, डा० विमलचरन लाहा आदि के मतानुसार इनका आश्रम भागलपुर जिले में कहलगाँव से दो मील उत्तर तथा पाथरघाटा पहाड़ी से दो मील दक्षिण था।[1] परंतु मथुरा में भी यमुना नदी के दूसरी ओर इनका आश्रम प्रसिद्ध है। पौराणिक उल्लेखों से भी मथुरा में ही इनका स्थान सिद्ध होता है। दुर्वासा का क्रोध विख्यात था।

कण्व—इन्होंने शकुंतला को पालकर उसे अपनी 'धर्मकन्या' बनाया था। इनका आश्रम मालिनी नदी (आधुनिक चुका) के तट पर हरद्वार से ३० मील पश्चिम सिद्ध होता है। यह नदी युक्तप्रांत में सहारनपुर जिले के पूर्वी भाग में बहती है। कुछ विद्वान् कण्व के आश्रम को चंबल नदी के तट पर तथा अन्य कुछ लोग नर्मदा के किनारे मानते हैं।

ऋष्यशृंग—श्री नंदलाल दे इनके आश्रम को भागलपुर के २८ मील पश्चिम मैर पर्वतशृंखला के बीच में स्थित मानते हैं।[2] ऋषिकुंड नामक एक सरोवर के समीप यही आश्रम था। इसी कुंड पर शृंगी ऋषि अपने पिता विभांडक के साथ तप करते थे। मैर शृंखला की एक चोटी अब भी 'ऋष्यशृंग' नाम से प्रख्यात है। महाभारत में इस ऋषि की कथा विस्तार से दी हुई है कि किस प्रकार अंगराज रोमपाद ने अपने राज्य में अवर्षण दूर करने के लिये अपनी पुत्री शांता को इस उद्देश्य से गंगापार भेजा कि वह किसी प्रकार लुभाकर ब्रह्मचारी ऋष्यशृंग को, जिन्होंने तब तक किसी स्त्री का दर्शन तक नहीं किया था, अपने साथ लिवा लाए। शांता इस कार्य में सफल हो गई और अंत में ऋषि के साथ उसका विवाह हो गया।

वृषपर्वा—इनका आश्रम गंधमादन पर्वत पर था। वहीं अरिष्टसेन ऋषि का भी आश्रम था।

ऊपर केवल थोड़े से आश्रमों का उल्लेख किया गया है। यह विषय मनोरंजक होने के साथ इतना विशद है कि उसपर एक बड़ा ग्रंथ प्रस्तुत किया जा सकता है। वास्तव में प्राचीन तपोवनों के निवासियों ने हमारे ज्ञान-विज्ञान के बहुमुखी विकास में जो योग दिया वह भारतीय इतिहास की चिरस्मरणीय गौरव-गाथा है।

१—ज्यॉग्राफिकल डिक्शनरी ऑव् एंशंट ऐंड मिडीवल इंडिया (द्वि० संस्क० १९२७), पृ० ५८

२—वही, पृ० १६९

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

[नवीन संस्करण]

वर्ष ५३ संवत् २००५

संपादक

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

सहायक

बटेकृष्ण

रस-मीमांसा

(लेखक—स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल)

इसमें लेखक ने आधुनिक जिज्ञासा को दृष्टि में रखकर रस का विवेचन किया है। इस ग्रंथ में प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र और नवीन पश्चिमी मनोविज्ञान की पूरी छानबीन के साथ रस एवं भाव का निरूपण हुआ है। पंडितराज जगन्नाथ के बाद से शास्त्राभ्यासियों ने एक प्रकार से रस-मीमांसा करनी छोड़ दी थी। अतः भारतीय रीति-शास्त्र में आचार्य के इस ग्रंथ का महत्त्व स्वतः सिद्ध है। इसमें काव्य, विभाव, भाव, रस और शब्द-शक्ति नामक ५ खंड हैं जिनके अंतर्गत १० अध्यायों में काव्यगत रस की सभी दृष्टियों से सम्यक् विवेचना की गई है। यह वही ग्रंथ है जिसके सैद्धांतिक मानदंड से सूर, तुलसी, जायसी आदि कवियों की विशद और हिंदी-साहित्य की सामान्य स्वरूप-बोधक समीक्षा आचार्य ने प्रस्तुत की है तथा जिसकी प्रतीक्षा हिंदी-जगत् बहुत दिनों से कर रहा था। यह ग्रंथ प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है। मूल्य ७)

सूरसागर (सस्ता संस्करण)

भाग १

(संपादक—श्री नंददुलारे वाजपेयी)

गोलोकवासी स्वर्गीय श्री जगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा संगृहीत और प्रदत्त सामग्री के आधार पर लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों की एक समिति के तत्त्वावधान में इस ग्रंथ का संपादन अत्यंत कठोर परिश्रम और द्रव्य व्यय करके कराया गया है। सूरसागर का जो बृहत् संस्करण प्रकाशित हो रहा था वह वर्तमान स्थिति में अत्यधिक व्ययसाध्य होने के कारण स्थगित कर देना पड़ा। इस सस्ते संस्करण में पाठ-भेद के अतिरिक्त सभी विशेषताएं अक्षुण्ण रखी गई हैं। पाठ की शुद्धता और प्रामाणिकता की दृष्टि से यह संस्करण अब तक के समस्त संस्करणों में श्रेष्ठ है। यह दो भागों में पूर्ण होगा। इसके पहले भाग में २३६७ पद हैं जिसमें दशम स्कंध के अंतर्गत दान-लीला तक का प्रसंग आया है। दूसरा भाग भी आधे से ऊपर छप चुका है और शेषांश छप रहा है जो शीघ्र पूरा होगा। लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण का जैसा विशद और पूर्ण गान महात्मा सूरदासजी ने किया है वैसा अन्य किसी से भी अब तक नहीं बन पड़ा। भक्ति, साहित्य और संगीत की इस त्रिवेणी में अवगाहन करना प्रत्येक हिंदी-प्रमी का कर्त्तव्य है। प्रथम भाग का मूल्य १०) है।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५४ संवत् २००६ अंक १

विषय-सूची

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वार्षिक मूल्य १०) : प्रति अंक २॥)

पत्रिका के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

निवेदन

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख स्वीकार्य होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है; और उनकी प्रकाशनसंबंधी सूचना एक मास के भीतर भेजी जाती है।

(४) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है; परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

संपादक : कृष्णानंद

सहायक संपादक : पुरुषोत्तम

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

[नवीन संस्करण]

वर्ष ५४] संवत् २००६ [अंक १

गुप्त सम्राट् और विष्णुसहस्रनाम

[श्री बहादुरचंद छाबड़ा, एम० ए०, पी-एच० डी०]

पाठकों को आश्चर्य होगा कि विष्णुसहस्रनाम तो एक स्तोत्र है, गुप्त सम्राटों से इसका क्या संबंध हो सकता है! इसका उत्तर कदाचित् आगे की पंक्तियों से मिल सके। संभव है यह सब मेरी कोरी कल्पना ही हो, तो भी मुझे यह तथ्य इतना सार्थक और सारवत् जान पड़ता है कि मैं इसे एक बार विद्वानों के सामने लाना चाहता हूँ।

यह बात सुविदित है कि कई गुप्त अभिलेखों में जहाँ समुद्रगुप्त को *पृथिव्याम् अप्रतिरथ* कहा है वहाँ उसके पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय को *स्वयं चाप्रतिरथ* कहा गया है। आपाततः इसका यही अर्थ है कि समुद्रगुप्त संसार में अप्रतिरथ था और उसका पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय भी वैसा ही अप्रतिरथ था। दूसरे शब्दों में, *स्वयं* च का और कोई अर्थ नहीं, यह केवल *अपि* का पर्यायवाची है। फ्लीट आदि विद्वानों ने इसका यही अर्थ लिया है। फलतः *स्वयं चाप्रतिरथः* की व्याख्या इसी अर्थ के अनुरूप होती चली आती है। इधर गुप्तकालिक अभिलेखों का सूक्ष्म अध्ययन करते समय मुझे एक बार कुछ ऐसी शंका हुई कि प्रकृत में *स्वयं* का तात्पर्य कुछ और होना चाहिए। जितना ही मैं इसपर सोचता गया उतना ही मेरा संदेह बढ़ता गया। अंत में एक दिन विष्णुसहस्रनाम का पाठ करते हुए मैं सहसा इस श्लोकार्ध पर रुक गया—

अनिरुद्धोऽप्रतिरथःप्रद्युम्नोऽमितविक्रमः। (*श्लोक ६८*)

मेरे हृदय में प्रकाश-सा हुआ, और मेरा संशय एकदम छिन्न हो गया। *अप्रतिरथ* भगवान् विष्णु के हजार नामों में से एक है और *स्वयं चाप्रतिरथः* में यही अभिप्रेत है। स्पष्ट है कि *स्वयं* यहाँ *साक्षात्* का पर्यायवाची है, *अपि* या *तथा* का नहीं। *स्वयं* का *साक्षात्* अर्थ में प्रयोग साहित्य और अभिलेखों में प्रसिद्ध भी है, जैसे वेणीसंहार नाटक में—

क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्। (*३।३२,*)

और सिंत्रा प्रशस्ति में—

देवः स्वयं बालमृगाङ्कमौलिः। (*एपिग्राफिया इंडिका, १।२८१, पद्य १४*)

किंच, प्रकृत में *स्वयं* का अर्थ *साक्षात्* करने पर *अप्रतिरथ* विशेषण नहीं रहता, अपितु संज्ञापद बन जाता है। और हमें यह अभीष्ट भी है। फलितार्थ यह हुआ कि चंद्रगुप्त द्वितीय के वर्णन में जो *स्वयं चाप्रतिरथः* वाक्यांश है उसका तात्पर्य यह है कि चंद्रगुप्त द्वितीय भगवान् विष्णु का अवतार माना जाता था। वह *स्वयं अप्रतिरथ* था, *साक्षात् विष्णु* था।

गुप्त वंश से संबंध रखनेवाले जो अभिलेख आज तक मिले हैं उनसे पता चलता है कि *अप्रतिरथ* का प्रयोग केवल दो नरेशों के संबंध में हुआ है—एक तो समुद्रगुप्त और दूसरे उसके पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय के संबंध में। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि चंद्रगुप्त द्वितीय को तो हमने *स्वयं* शब्द के बल पर *अप्रतिरथ* अर्थात् *विष्णु* का अवतार मान लिया है, समुद्रगुप्त को भी वैसा क्यों न मान लें? माना कि उसके पक्ष में *स्वयं* शब्द का अथवा तत्पर्यायवाची किसी *साक्षात्* आदि का प्रयोग नहीं हुआ, केवल *पृथिव्याम्* का ही हुआ है, किंतु *अप्रतिरथ* तो उसे भी कहा ही गया है। ठीक है। मेरा तो अब यही विश्वास है कि समुद्रगुप्त को पहिले *अप्रतिरथ* का अवतार माना गया था, और उसके पुत्र को उसके बाद। *स्वयं चाप्रतिरथः* की यहाँ दी हुई व्याख्या को देखते हुए *पृथिव्यामप्रतिरथः* की व्याख्या भी तदनुरूप ही होनी चाहिए—'भूमिपर विचरने वाला स्वयं अप्रतिरथ', न कि 'संसार भर में निःसपत्न'। समुद्रगुप्त को भी, चंद्रगुप्त द्वितीय के समान, *अप्रतिरथ* रूप में विष्णु का अवतार मानने के संबंध में मैंने आगे चलकर और भी युक्तियाँ उपस्थित की हैं। यहाँ मैं हरिषेण कृत समुद्रगुप्त की प्रशस्ति के उस वाक्य का भी उल्लेख कर देता हूँ जिसमें कवि ने समुद्रगुप्त को देव मानकर ही उसका वर्णन किया है—*लोकसमयक्रियानु-*

विधानमात्रमानुषस्य लोकधाम्नो देवस्य[1]। इसमें का *लोकधाम्नो देवस्य*, *पृथिव्यामप्रतिरथस्य* की छाया-सा जान पड़ता है। ये दोनों प्रयोग भूदेव की कोटि के हैं। भूदेव या भूमिदेव का शब्दार्थ तो है 'भूमि पर का देव'; पर हैं ऐसे शब्द '*ब्राह्मण*' के पर्यायवाची। वास्तविक देव तो रहते हैं ऊपर स्वर्ग में, और ब्राह्मण भी हैं देव ही, अंतर यही है कि वे स्वर्ग में नहीं, अपितु यहीं भूमि पर विचरते हैं। समुद्रगुप्त के विषय में जो *लोकधाम्नो देवस्य* और *पृथिव्यामप्रतिरथस्य* दो भिन्न प्रयोग हुए हैं वे पर्यायांतर से समानार्थक ही कहे जा सकते हैं। आगे चल कर हम बताएँगे कि देव शब्द भी स्वतंत्र रूप से विष्णु के हजार नामों में से एक है। चंद्रगुप्त द्वितीय का दूसरा नाम जो देवगुप्त या देवश्री है उसमें भी उसी विष्णुवाची देव शब्द की झलक है। हरिषेण-कृत प्रशस्ति में और भी कई ऐसे अंश हैं जो समुद्रगुप्त को विष्णु का अवतार मानने के मत का समर्थन करते हैं। उनका उल्लेख भी हम आगे चलकर करेंगे।

ध्यान रहे कि प्रशस्तिकार जब समुद्रगुप्त को अथवा चंद्रगुप्त द्वितीय को *अप्रतिरथ* कहकर विष्णु का अवतार घोषित करता है तो उसका लक्ष्य विष्णु का वही विशिष्ट रूप होता है जो उक्त संज्ञापद से ध्वनित होता है। अथवा यों कहिए कि *अप्रतिरथ* शब्द के प्रकृत में दो अर्थ हैं, एक तो 'विष्णु का नाम' और दूसरा उसका यौगिक अर्थ—'वह जिसके आगे कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं ठहर सकता'। प्रशस्तिकार को अपने प्रतिपाद्य विषय के लिये दोनों अर्थ अभीष्ट हैं।

गुप्त वंश के इतिहास से परिचित विद्वानों को समुद्रगुप्त एवं चंद्रगुप्त द्वितीय को कवि-कल्पित विष्णु का अवतार मानने में कोई आपत्ति न होगी। गुप्तवंशी सम्राट् विष्णु के परम भक्त थे, यह विख्यात ही है। किंच, चंद्रगुप्त द्वितीय के पुत्र कुमारगुप्त प्रथम का जो वर्णन उसके सिंहमर्दन प्रकार वाले सिक्कों पर मिलता है उससे उसका विष्णु का अवतार होना सिद्ध ही है—

१—फ्लीट द्वारा संपादित गुप्त-अभिलेख-संग्रह, पृ० ८, पंक्ति २८। उक्त वाक्य की ओर ध्यान डा० अनंत सदाशिव जी अल्तेकर ने न्यूमिज्मैटिक सोसायटी ऑव इंडिया की पत्रिका (जिल्द ६, पृ० १३७-४५) में प्रकाशित मेरे प्रस्तुत विषय के अंग्रेजी के लेख में टिप्पणी के रूप में आकर्षित किया है। इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

साक्षादिव नरसिंहो सिंहमहेन्द्रो जयत्यनिशम्[२] ।

इस मुद्राभिलेख में कुमारगुप्त प्रथम को स्पष्ट ही *साक्षात् नरसिंह* कहा गया है[३]। यहाँ कवि का लक्ष्य प्रधानतया विष्णु की *नारसिंह वपुष्*[४] मूर्ति पर है, और यह मुद्रा पर अंकित दृश्य में नर और सिंह के होने से समंजस प्रतीत होता है। कुमारगुप्त प्रथम का उपनाम महेन्द्र है, मुद्रा पर के सिंह के साहचर्य से इसे भी अभिलेख में *सिंह महेन्द्र* का रूप दिया गया है। कवि की प्रतिभा सर्वत्र नाम और रूप पर क्रीडा-सी करती दिखाई देती है।

यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि उक्त सभी उदाहरणों में उपासक का जो उपास्य देव से तादात्म्य दिखाया गया है वह केवल कवि-कल्पित अथवा आलंकारिक है, तात्त्विक अथवा ऐतिहासिक नहीं। इसका प्रयोजन भक्त की उसके इष्टदेव के प्रति उत्कट भक्ति दिखाना ही है।

हमने चर्चा चलाई थी चंद्रगुप्त द्वितीय की। इतिहास में यह *परमभागवत* प्रसिद्ध है। अर्थात् यह विष्णु का परम भक्त था। हाल ही में भरतपुर राज्य में बयाना से जो सुवर्ण मुद्राओं की उपनिधि मिली है उसमें चंद्रगुप्त द्वितीय की एक अपूर्व मुद्रा प्राप्त हुई है। डा० अल्तेकर ने इस प्रकार की मुद्रा को *चक्रविक्रम* नाम दिया है[५]। इस नाम की मीमांसा हम आगे चलकर करेंगे। इस मुद्रा में सामने की ओर जो दृश्य अंकित है वह अत्यद्भुत है। डा० अल्तेकर के शब्दों में इसमें "चंद्रगुप्त द्वितीय विष्णु

२--एलन की पुस्तक गुप्त कॉयन्स पृ० ७२–८, फलक १४, चित्र १–५।

३—पद्य में *साक्षात्* के आगे जो *इव* रखा गया है उससे विवक्षित रूपकालंकार में शिथिलता नहीं आती, प्रत्युत उसमें जो उत्प्रेक्षा का अंश है उसकी स्पष्ट प्रतीति होती है। काव्य में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ *साक्षात्*, *इव* और *स्वयं* तीनों का वाक्य में प्रयोग हुआ है और वे तीनों एक ही भाव की पुष्टि करते हैं। इसका एक उत्तम उदाहरण आदि कवि वाल्मीकि-कृत रामायण में मिलता है जहाँ (अयोध्याकांड, अध्याय २, श्लोक ४३) राम के वर्णन में कहा है—

सुभ्रूरायतताम्राक्षः साक्षाद्विष्णुरिव स्वयम् ।

४—विष्णुसहस्रनाम, श्लोक ३--*नारसिंहवपुःश्रीमान् केशवः पुरुषोत्तमः* ।

५—एन्-एस्-आइ पत्रिका, जिल्द ८, पृ० १८२।

से एक दिव्य उपहार प्राप्त कर रहा है"[६]। उक्त सभी प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि चंद्रगुप्त द्वितीय विष्णु का अत्यंत भक्त और अत्यंत प्रसादपात्र था। इसलिये यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उसके आश्रित कवि और कर्मचारी उसके अभिलेखों में उसे विष्णु की पदवी देते थे। इससे यह भी इंगित होता है कि चंद्रगुप्त द्वितीय को जो सिद्धि और उन्नति, विजय और अभ्युदय आदि संपत्तियाँ प्राप्त थीं उन्हें वह विष्णु की कृपा ही समझता था। उदात्त कार्यों में प्रवृत्त होने की प्रेरणा उसे अपने इष्टदेव विष्णु से ही मिलती थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि चंद्रगुप्त द्वितीय का दिव्य अथवा वैष्णव प्रभाव सर्वत्र विख्यात हो गया था। इसकी प्रतिध्वनि हमें ग्वालियर राज्य में मंदसोर से प्राप्त एक बौद्ध शिलालेख में भी मिलती है। इस लेख का काल मालव संवत् ५२४ है, जब चंद्रगुप्त द्वितीय का देहांत हुए करीब ५० साल हो चुके थे। अभिलेख में चंद्रगुप्त द्वितीय यों उपवर्णित है—*गोविन्दवत् ख्यातगुणप्रभावः*[७]।

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, चंद्रगुप्त द्वितीय का एक दूसरा नाम देवश्री था। यह नाम उसकी कई सुवर्ण मुद्राओं पर पाया जाता है—*देवश्रीमहाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तः*[८]। नाम कुछ विचित्र है सही, परंतु ऊपर की चर्चा से इसका रहस्य समझना भी सुगम हो गया है। इसका अर्थ अब हम 'विष्णु के ऐश्वर्यवाला' करें तो अनुचित न होगा। हम कह चुके हैं कि देव भी विष्णु का एक स्वतंत्र नाम है जो विष्णुसहस्रनाम में इस प्रकार आता है—

उद्भवः क्षोभणो देवः श्रीगर्भः परमेश्वरः। (*श्लोक ४१*)

श्लोकगत *श्री* का स्थान भी ध्यान देने योग्य है। उसका देव के समनंतर ही आना मानो *देवश्री* नामकरण का हेतु है। *देवगुप्त* और *देवराज* नाम भी जो चंद्र-

---

६—उक्त सुवर्ण मुद्रा का पूरा-पूरा विवरण तो तभी मिलेगा जब कि बयाना उपनिधि का विस्तृत सूचीपत्र छपेगा। इलस्ट्रेटेड वीकली ऑव इंडिया पत्रिका के फर्वरी २२, १९४८ अंक में भी डा० अल्तेकर ने बयाना उपनिधि के कुछ मुख्य-मुख्य सिक्कों का वर्णन किया है। वहाँ उन्होंने चक्रविक्रम प्रकार की मुद्रा का एक परिवर्द्धित चित्र भी दिया है। चित्र में विष्णु और चंद्रगुप्त द्वितीय आमने-सामने खड़े हैं। भगवान् कुछ दे रहा है और भक्त ले रहा है।

७—अभिलेख एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २७, भाग १ में संपादित हो चुका है।

८—गुप्त कॉयन्स, पृ० २४–३४।

गुप्त द्वितीय के ही नामांतर हैं, इसी व्याख्या से स्पष्ट हो जाते हैं। इनमें के देव का अर्थ *विष्णु* ही लें तो अधिक संगत होगा।

चंद्रगुप्त द्वितीय की महिमा का जब हम ऐसा गुणगान सुनते हैं तो हमें विश्वास होता है कि वह अवश्य एक उदात्त चरित्र का पुरुष था। ऐसी अवस्था में उसपर जो ऐसे दोष लगाए जाते हैं कि उसने अपने भाई का वध किया, उसकी स्त्री से विवाह कर लिया और उसका राज्य दबा लिया, इत्यादि[१], इनपर हमारी अश्रद्धा होना स्वाभाविक ही है। जिन प्रमाणों के आधार पर चंद्रगुप्त द्वितीय पर घोर कलंक लगाए जाते हैं उनकी फिर एक बार छानबीन होनी चाहिए। चंद्रगुप्त द्वितीय जैसे सच्चरित्र व्यक्ति द्वारा वैसे पापों का होना नितांत असंभाव्य है।

अस्तु, हम फिर विष्णुसहस्रनाम की ओर आते हैं। जब मेरा अप्रतिरथ-विषयक संशय निवृत्त हो गया तो मुझे यह सूझा कि इस स्तोत्र में गुप्त इतिहास संबंधी और भी सामग्री होनी चाहिए। आदि में हमने जो श्लोकार्ध उद्धृत किया है (*अनिरुद्धोऽप्रतिरथ : प्रद्युम्नोऽमितविक्रमः*) उसमें का *अमितविक्रम* पद कुछ परिचित सा जान पड़ा। इससे गुप्त सुवर्णमुद्राओं पर के अभिलेखों में आने वाले *अजितविक्रम* आदि पदों की स्मृति उद्बुद्ध हो उठी। इस दृष्टि से मैंने स्तोत्र को फिर कई बार पढ़ा और मुझे बहुत सी उपयोगी सामग्री मिली। विशेष कर कई गुप्त राजाओं के नामों और उपनामों के विषय में मुझे नाना शंका हुआ करती थी, उन सबका विष्णुसहस्रनाम से निराकरण हो गया। उनका कुछ ब्योरा दे देना यहाँ अनुपयुक्त न होगा।

गुप्त—सबसे पहिले गुप्तवंशीय आदिराज गुप्त को ही लें। इस नाम पर बहुत कुछ ऊहोपाह होता रहता है। कई इसे *गुप्त* ही कहते हैं तो कई इसे *श्रीगुप्त* सिद्ध करते हैं। *श्रीगुप्त* के पक्ष वालों की युक्ति यह है कि *गुप्त* पद पुरुषनाम का उत्तर पद ही हो सकता है, स्वतंत्र रूप से पुरुषनाम नहीं हो सकता। दूसरे पक्ष-वालों ने इधर उधर से एक दो उदाहरण ऐसे ढूँढ़ निकाले हैं जिनसे गुप्त पद स्वयं पूर्ण पुरुष-नाम माना जा सकता है। है यही मत सही, परंतु इसकी पुष्टि में जैसा प्रमाण विष्णुसहस्रनाम से मिलता है वैसा कदाचित् और कहीं से भी न मिल सकेगा—

१—यहाँ रामगुप्त की कहानी की ओर संकेत है।

गुह्यो गभीरो गहनो गुप्तश्चक्रगदाधरः । (श्लोक ५८)

गुप्त पूरा नाम है या अधूरा, इस तर्क के अतिरिक्त कई विद्वानों ने इससे और कई प्रकार के परिणाम निकाले हैं—गुप्तवंशी राजाओं की जाति क्या थी, समाज में उनका क्या स्थान था, उनका मूल क्या था, इत्यादि । दि कैंब्रिज शॉर्टर हिस्ट्री ऑव् इंडिया[१०] के रचयिताओं ने तो यहाँ तक कह डाला है कि चाहे जो भी हो, गुप्त नाम से किसी नीच जाति का बोध होता है। कैसा अंधेर है !

ऊपर उद्धृत श्लोकार्ध में हमने देखा है कि *गुप्त* स्वयं भगवान् विष्णु का एक नाम है। और इसका जो अर्थ होना चाहिए वह श्लोकगत *गुह्य*, *गभीर* और *गहन* नामों के साहचर्य से स्पष्ट ही है। इन चार नामों में ईश्वर की जिस गूढ़ रहस्यमयी प्रकृति की ओर संकेत है उसका वर्णन उपनिषदों में इन शब्दों में मिलता है—*आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्* ।

अब यह सिद्ध है कि गुप्त वंश के वंशकर्त्ता का नाम गुप्त था। इससे जाति आदि के विषय में अनुमान लगाना अन्याय्य है। ऐसे अनुमान तो तभी उपयुक्त कहे जा सकते हैं जब गुप्त पद पुरुषनाम का उत्तर पद हो। और यतः उत्तरवर्ती गुप्तवंशीय राजाओं ने अपने नामों के पीछे उत्तर पद के रूप में अपने वंशकर्ता गुप्त का नाम जोड़ा है, अतः इस गुप्त शब्द को उस गुप्त शब्द से भिन्न समझना चाहिए जो वैश्य जाति का द्योतक माना जाता है और जिसका पर्याय *पालित* भी कभी कभी प्रयुक्त होता है। स्मृतियों से यह सिद्ध ही है कि ब्राह्मण अपने नामों के पीछे *शर्मा*, क्षत्रिय *वर्मा* और वैश्य *गुप्त*, *पालित* आदि शब्दों का प्रयोग किया करते थे, और कई अंशों में अब भी करते हैं। इस प्रकार विष्णुवाचक गुप्त शब्द और जातिव्यंजक गुप्त शब्द पृथक् पृथक् हैं। मेरे विचार में यह भिन्नता बड़े महत्त्व की है और गुप्तवंशी राजाओं की जाति आदि के विषय में विमर्श करते समय इसका अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

हमने अभी कहा है कि उत्तरवर्ती गुप्तवंशीय राजाओं ने अपने नामों के पीछे उत्तर पद के रूप में अपने वशंकर्ता *गुप्त* का नाम जोड़ा है। यह प्रथा गुप्त के पौत्र चंद्रगुप्त प्रथम से चली हुई मानी जाती है। गुप्त के पुत्र घटोत्कच को सर्वत्र

१०—सन् १९३४, पृ० ८८ ।

घटोत्कच ही कहा गया है, उसे किसी अभिलेख में घटोत्कच गुप्त नहीं कहा गया"। किंच, घटोत्कच नाम भी दूसरे नामों की अपेक्षा कुछ विलक्षण-सा जान पड़ता है। यह बात अब सभी मानते हैं कि गुप्तवंशियों की जो वास्तविक समृद्धि हुई, वह चंद्र से आरंभ हुई थी जिसे हम चंद्रगुप्त प्रथम कहते हैं। जहाँ इसके पिता घटोत्कच और पितामह गुप्त को केवल महाराज की पदवी दी गई है वहाँ चंद्रगुप्त प्रथम को तथा उसके उत्तरवर्ती नरेशों को महाराजाधिराज का पद दिया गया है। दूसरे शब्दों में, पहिले जो साधारण सा राज्य था, चंद्रगुप्त प्रथम के समय से वह एक विशाल साम्राज्य के रूप में परिणत हो गया। तब उस बढ़ती हुई प्रभुशक्ति के अनुरूप सारे राज्यतंत्र में एक परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव हुआ। कदाचित् इसी प्रक्रिया में यह भी उचित समझा गया कि सम्राट् का नाम भी प्रभावशाली एवं किसी विशेष नियम के अनुकूल हो। जान पड़ता है कि गुप्त घराने में शुरू से ही विष्णु की, कुल-देवता के रूप में, पूजा होती आई थी और गुप्त राज्य की जो दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति हुई उसका मूल कारण भगवान् विष्णु की कृपा ही समझी गई थी। इस विचार से गुप्त नाम को विशेष महत्ता दी गई और तब से सम्राटों के नाम गुप्तांत रखने का निश्चय किया गया। इससे दो कार्य सिद्ध हुए—एक तो इष्टदेव गुप्त अर्थात् विष्णु के प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन हुआ, जिसकी कृपा से उनका अभ्युदय हुआ था; दूसरे अपने वंशज गुप्त का नाम उज्ज्वल हुआ और उसके प्रति सत्कार का प्रदर्शन, जिसने उस साम्राज्य का मानो बीजारोपण किया था जो चंद्रगुप्त प्रथम के समय में फलने फूलने लगा था। यह है मेरी समझ में घटोत्कच के नाम का अगुप्तांत रह जाने का कारण। घटो-गुप्त ने राज्य की नींव डाली और उसके पोते ने उसे चार चाँद लगा दिए। घटोत्कच बेचारा न तीन में न तेरह में। रही उसके नाम की विलक्षणता, उसपर विष्णु-सहस्रनाम से अवश्य कुछ प्रकाश पड़ता है। घटोत्कच में दो शब्द हैं—घट और

११—श्री राखालदास बनर्जी ने अपनी पुस्तक एज ऑव दि इंपीरियल गुप्ताज में पृष्ठ ९ पर इसे जो घटोत्कचगुप्त कहा है वह भ्रममूलक है। गुप्त के पुत्र घटोत्कच का नाम गुप्तांत नहीं था। हाँ, इसी वंश के पीछे के दो वंशजों का नाम घटोत्कचगुप्त अवश्य था परंतु वे सम्राट् या राजा नहीं थे। द्रष्ट० एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २६, पृष्ठ ११६।

उत्कच। इनमें का पहिला कुम्भ का पर्यायवाची है, और कुम्भ विष्णु का नाम भी है जो स्तोत्र में आता है—

अर्चिष्मान् अर्चितः कुम्भो विशुद्धात्मा विशोधनः। (श्लोक ६८)

समुद्र—समुद्रगुप्त का नाम वास्तव में समुद्र मात्र है और पुरुषनाम के रूप में समुद्र शब्द भी अप्रसिद्ध सा है। समुद्रगुप्त के नाम की व्याख्या में कई प्रकार की कल्पनाएँ की गई हैं।[१२] परंतु विष्णुसहस्रनाम से यह गुत्थी भी आसानी से सुलझ जाती है। *अपान्निधि* और *अम्भोनिधि* जो समुद्र के पर्याय हैं, विष्णु के ही नाम हैं (श्लोक ३५ और ५५)। इसी प्रकार चन्द्र, *कुमार*, स्कन्द प्रभृति को भी, जो गुप्त नरेशों के नाम हैं और जो आपाततः चंद्रमा *कार्तिकेय* आदि के वाचक हैं, प्रकृत में विष्णु के ही नाम समझना चाहिए। विष्णु के हजार नामों में *सोम*, *गुह*, स्कन्द आदि नामों का समावेश है ही (श्लोक ५४, ४१ और ३६), पुरु अथवा पुरू नाम[१३] भी विष्णु के पुरुसत्तम[१४] नाम पर रखा हुआ जान पड़ता है (श्लोक ५४)। नामकरण की यह विष्णुपरक प्रवृत्ति गुप्त महादेवियों अर्थात् पटरानियों के नामों में भी इसी प्रकार मिल सकती है। *कुमारदेवी* और चन्द्र*देवी* नाम तो अब स्पष्ट ही हैं। *ध्रुवदेवी*, *अनन्तदेवी*, और *मित्रदेवी* में भी विष्णु के *ध्रुव*, *अनन्त* और *सूर्य* नामों की छाया प्रतीत होती है (श्लोक

१२—श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने *समुद्रगुप्त* को नाम न मानकर उपाधि बताया है और इसकी व्याख्या की है 'सागर से परिरक्षित' (देखिए उनकी हाल ही में प्रकाशित पुस्तक 'द गुप्ता एंपायर', मुंबई १९४७, पृष्ठ १७)। इस व्याख्या के अनुसार *गुप्त* पद *समुद्रगुप्त* का अभेद्य अंश है।

१३—*पुरुगुप्त* अथवा *पुरूगुप्त*। कई विद्वान् इसे भ्रम से *पुरगुप्त* समझते रहे हैं।

१४—अंग्रेजी के लेख में भी मैंने *पुरुसत्तम* ही लिखा था, परंतु छपा है वहाँ *पुरुषोत्तम*। जान पड़ता है यह परिवर्तन संपादक ने किया है। हो सकता है कि संपादक के पास स्तोत्र का जो संस्करण है उसमें वैसा ही पाठ हो। परंतु यथार्थ पाठ *पुरुसत्तम* ही है। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

सोमपोऽमृतपः सोमः पुरुजित्पुरुसत्तमः।
विनयो जयः सत्यसन्धो दाशार्हः सात्वतां पतिः॥

पाठ *पुरुसत्तम* ही प्रामाणिक है, यह श्री शंकराचार्य कृत व्याख्या तथा महाभारत के अन्यान्य संस्करणों से सिद्ध है।

२

६, ७० और ६४)। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि विष्णु के नामों में कई ऐसे हैं जो अधिकतर सूर्यवाची हैं—जैसे *आदित्य, अर्क, भानु, रवि, सविता, सूर्य,* इत्यादि। इनमें का *आदित्य*, गुप्त उपनामों में अति प्रसिद्ध है।

क्रम—उपनामों में चंद्रगुप्त द्वितीय का उपनाम *विक्रमादित्य* तो सब जानते ही हैं, परंतु स्कंदगुप्त और कुमारगुप्त द्वितीय का जो *क्रमादित्य* उपनाम है वह इतना प्रसिद्ध नहीं। किंच *विक्रम, पराक्रम* आदि शब्द तो सुप्रचलित हैं, परंतु केवल *क्रम* शब्द का प्रयोग कम ही देखने में आता है। यहाँ भी विष्णुसहस्रनाम हमें यह बताता है कि *क्रम* शब्द भी *विक्रम* आदि की ही कोटि का है, और जैसे *विक्रम* विष्णु का नाम है वैसे ही *क्रम* भी उसी का नाम है—

ईश्वरो विक्रमी धन्वी मेधावी विक्रमः क्रमः। (*श्लोक* ९)

कुमारगुप्त प्रथम की मुद्राओं पर उसके कई उपनाम मिलते हैं, जैसे—*महेन्द्र, अजितमहेन्द्र, महेन्द्रसिंह, सिंहमहेन्द्र, महेन्द्रकुमार* इत्यादि। क्या यह कौतुकास्पद नहीं कि इनमें जितने भी शब्द आते हैं वे सभी विष्णु के ही नामांतर हैं?—*महेन्द्र, अजित, सिंह* और *कुमार*! पहिले तीन तो अविकल रूप में ही मिलते हैं (श्लोक २९, ५९, और २२), और अंतिम, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, स्कन्द, गुह, आदि के रूप में।

समुद्रगुप्त के उपनामों में जो *पराक्रम, पराक्रमाङ्क, कृतान्तपरशु* आदि उपाधियाँ मिलती हैं उनमें भी विष्णु की *सत्यपराक्रम, खण्डपरशु* आदि संज्ञाएँ प्रतिध्वनित जान पड़ती है (श्लोक २३, ३१, और ६१)।

चक्रविक्रम—यह उपसंज्ञा या उपाधि चंद्रगुप्त द्वितीय की है और जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, यह हाल ही में उपलब्ध सुवर्णमुद्राओं में से एक प्रकार की मुद्रा पर मिलती है। इसमें *विक्रम* पद होने से निश्चित ही यह चंद्रगुप्त द्वितीय की कही जा सकती है। परंतु इसका पूर्वपद *चक्र*, और इसके संयोग से *चक्रविक्रम* उपनाम का बनना आश्चर्यकर है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस मुद्रा पर *चक्रविक्रम* के अतिरिक्त और कोई अभिलेख नहीं है। मूर्तियाँ हैं, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं। *चक्रविक्रम* पदवी का स्पष्टीकरण भी विष्णुसहस्रनाम में मिलता है, और वह भी बहुत सुंदरता से —

अरौद्रः कुण्डली चक्री विक्रम्यूर्जितशासनः। (*श्लोक* ९७)

साथ साथ पड़े हुए *चक्री* और *विक्रमी* से किस प्रकार *चक्रविक्रम* पद का दोहन किया गया है! इस प्रकार का दोहन हम ऊपर *देवश्री* के संबंध में भी देख आए हैं।

कुमारगुप्त प्रथम की *अजितमहेन्द्र* और *सिंहमहेन्द्र* उपाधियों के समान चंद्रगुप्त द्वितीय की भी दो उपाधियाँ थीं—*अजितविक्रम* और *सिंहविक्रम*। इसमें की पहिली हमें विष्णु के *अमितविक्रम* नाम की याद दिलाती है, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

स्कंदगुप्त की धनुर्धारी प्रकार की मुद्राओं पर उसे *सुधन्वा* (अभिलेखों में *सुधन्वि* अथवा *सुधन्वी* पढ़ा गया है) कहा गया है। यहाँ भी विष्णु के *धन्वी* और *सुधन्वा* नामों का अनुकरण किया जान पड़ता है।

अंत में हम फिर एक बार *अप्रतिरथ* पर दृष्टि डालते हैं जिससे हमने चर्चा आरंभ की थी। अभिलेखों में तो यह उपमा समुद्रगुप्त और उसके पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय दोनों को दी गई है, परंतु जहाँ तक मुद्राओं का संबंध है, यह अभी तक समुद्रगुप्त ही को मिली है। उसकी धनुर्धारी प्रकार की मुद्राओं की पिछली ओर केवल *अप्रतिरथ* लिखा है, और सामने की ओर एक तो है नाम *समुद्र* (अविभक्तिक) जो राजमूर्ति की भुजा के नीचे लिखा है और जिससे मुद्रा की पहिचान होती है कि यह समुद्रगुप्त की ही है, दूसरे वृत्तबद्ध यह अभिलेख—*अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं सुचरितैर्दिवं जयति*। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि *जयति* क्रियापद का कर्ता केवल *अप्रतिरथः* ही है। और इस अवस्था में वह संज्ञापद है, विशेषण नहीं। पास पड़ा *समुद्र* शब्द वृत्तगत वाक्य से संबद्ध नहीं। एक तो वह वृत्त के बहिर्भूत है, दूसरे अविभक्तिक है और तीसरे उसकी सार्थकता मुद्रापरिचायक चिह्न तक सीमित है। कहने का अभिप्राय यह है कि यहाँ समुद्रगुप्त में अप्रतिरथ रूप विष्णु का अध्यारोप किया गया है। इस सारूप्य को ध्यान में रखते हुए, समुद्रगुप्त के वर्णन में अभिलेखों में लिखे *पृथिव्यामप्रतिरथ* की व्याख्या यदि ऐसी की जाय कि 'जो भूमि पर विचरने वाला साक्षात् अप्रतिरथ है' तो कोई आपत्ति न होगी। यहाँ मैं इतना और कह दूँ कि चंद्रगुप्त द्वितीय की पुत्री, वाकाटक सम्राट् रुद्रसेन की अग्रमहिषी प्रभावती गुप्ता अपने ताम्रशासनों में केवल अपने पिता को ही *पृथिव्यामप्रतिरथ* कहती है।

समुद्रगुप्त की इलाहाबाद वाली प्रशस्ति में ध्यान से देखा जाय तो पता लगेगा कि कवि ने बड़ी चतुराई से अपने उपजीव्य सम्राट् का जहाँ तहाँ उसे विष्णु का अवतार मानकर वर्णन किया है। एक दो उदाहरण तो हम देख ही चुके हैं, कुछ और भी देख लीजिए—*पराक्रमाङ्कस्य* (पंक्ति १७); *अचिन्त्यस्य* (पंक्ति २५)।

ध्यान रहे कि अचिन्त्य भी विष्णु का एक नाम है (श्लोक २५)। किंच, समुद्रगुप्त के वर्णन में जो *साध्वसाधूदयप्रलयहेतुपुरुषस्य* कहा गया है उसमें तो स्वयं भगवान् के इस वाक्य को ही पर्यायांतर से दुहराया गया है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ४, श्लोक ८)

अलंमतिविस्तरेण! सरसरी तौर पर मेरे ध्यान में जो आया सो मैंने लिख दिया है। मेरा विश्वास है कि इतिहास के मार्मिक विद्वान् विष्णुसहस्रनाम के सम्यक् परीक्षण से गुप्त इतिहास पर प्रकाश डालने वाली और भी बहुत सी उपयुक्त सामग्री ढूँढ़ निकालेंगे।

विष्णुसहस्रनाम की प्राचीनता को देखते हुए कोई इतिहास-प्रेमी इसके प्रति मंदादर नहीं होगा। इसकी प्राचीनता इसी से सिद्ध है कि यह महाभारत का एक अंग है। ऊपर की चर्चा से यह अवश्य ही स्पष्ट हो गया होगा कि गुप्त घराने में इस स्तोत्र का समुचित आदर था। कदाचित् गुप्त परिवार के सभी स्त्री-पुरुष इसका प्रतिदिन पाठ करते रहे होंगे। गुप्त-साम्राज्य की उन्नति के साथ साथ इसकी लोकप्रियता भी बढ़ती रही होगी। यह तो हम जानते ही हैं कि चंद्रगुप्त द्वितीय के समय से भागवत संप्रदाय का बड़ा प्रचार और विस्तार हुआ। चंद्रगुप्त द्वितीय को अभिलेखों में *परमभागवत* कहा है। किंतु यह न समझना चाहिए कि भागवत-धर्म गुप्तों में चंद्रगुप्त द्वितीय से ही चला है। वास्तव में इसकी सत्ता तो आरंभ से ही थी—ऊपर की चर्चा से हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं। चंद्रगुप्त द्वितीय के समय में आकर भागवत धर्म ने एक विराट् रूप धारण किया और इसका श्रेय बहुत कुछ चंद्रगुप्त द्वितीय को ही है।

———

राम-वनवास का भूचित्र
(अयोध्या से पंचवटी तक)
अयोध्या
सरयू
तमसा
वेदश्रुति
गोमती
स्यंदिका (सई)
बेला
गंगा
यमुना
शृंगवेरपुर (सिंगरौर)
प्रयाग
चित्रकूट
(कामद गिरि)
अत्रिआश्रम
शरभंग आश्रम
शरभंग
सुतीक्ष्ण आश्रम
अगस्त्य भ्राता
अगस्त्य-आश्रम
मैहर
पंचवटी
उ
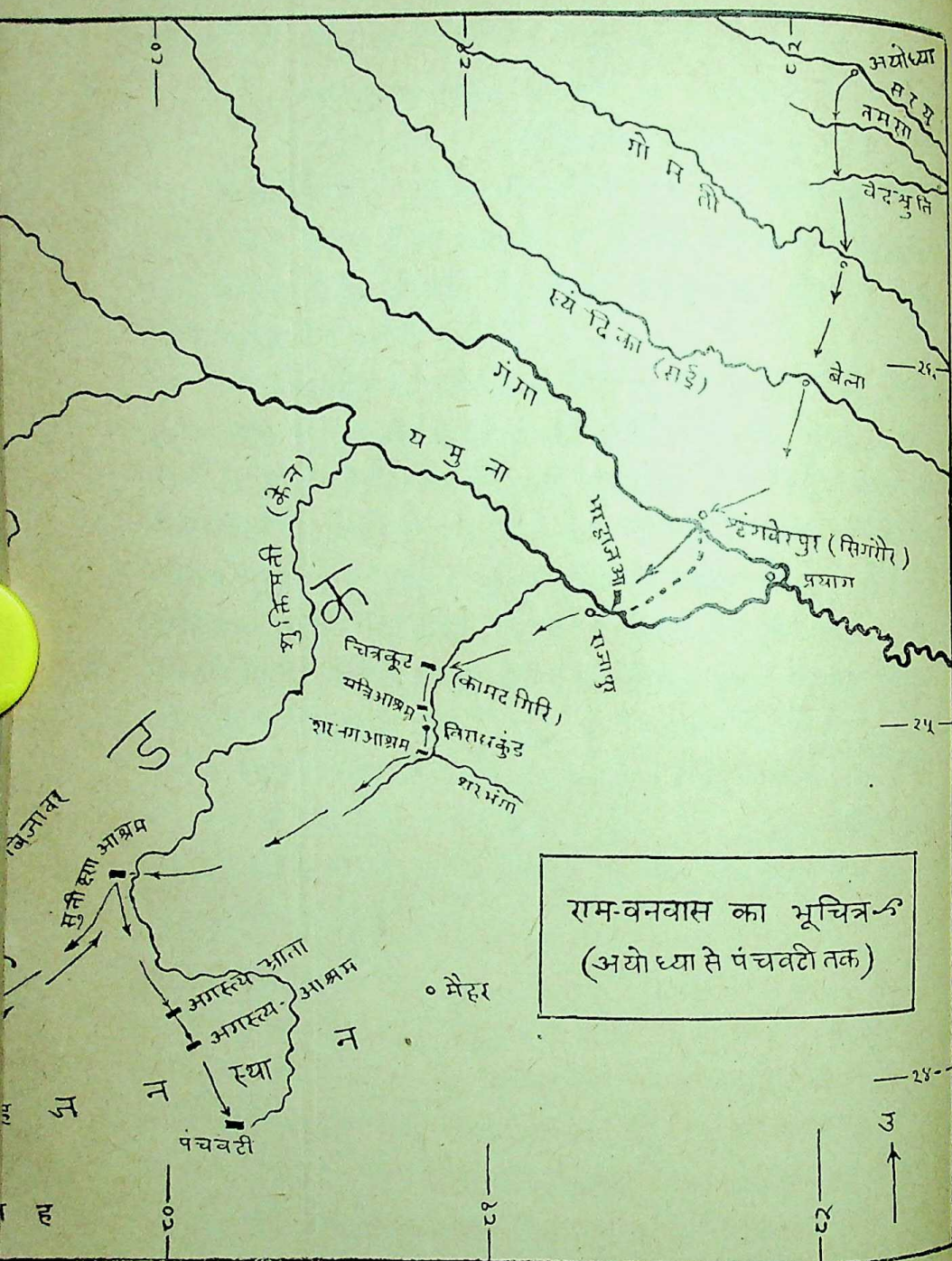
राम-वनवास का भूगोल[1]

(अयोध्या से पंचवटी तक)

श्री राय कृष्णदास

१—राम-वनवास के पहले दो पड़ावों की, जहाँ तक वे रथ पर आए, भौमिक स्थिति असंदिग्ध है। अयोध्या से चलकर वे तमसा (पूरबी टोंस) के तट पर आकर टिक गए, जो वहाँ से लगभग १२ मील है। अयोध्या से उनके निकलते निकलते दिन काफी बीत चुका था और पुरवासियों की एक भीड़ उनके साथ थी, अतः इसके आगे वे न जा सकते थे। यहाँ से वे रातोंरात गुपचुप आगे बढ़े कि अयोध्यावाली भीड़ जो उस समय सोई हुई थी, उनका साथ न पकड़ सके। उनका रथ निरंतर चलता गया। मार्ग में उन्होंने वेदश्रुति (=बिसुई; टोंस से लगभग १० मील), गोमती (वेदश्रुति से १५ मील) तथा स्यंदिका (=सई; गोमती से २० मील) नदियाँ पार कीं। यह स्यंदिका (वर्तमान बेला प्रांत, जिला परताबगढ़) कोसल जनपद की प्राकृतिक दक्षिणी सीमा थी। वहाँ गद्गद हृदय से राम ने

---

१ क—राम-वनवास का संपूर्ण भूगोल तीन लेखों में समाप्त हुआ है। अयोध्या से लंका तक के विस्तृत मार्ग को विषय-विमर्श की सुविधा के लिये तीन खंडों में विभक्त किया गया है—(१) अयोध्या से पंचवटी तक, (२) पंचवटी से ऋष्यमूक तक, (३) ऋष्यमूक से लंका तक। प्रथम खंड का भूगोल प्रस्तुत लेख का विषय है; द्वितीय के लिये द्रष्टव्य—ना० प्र० पत्रिका, भाग ५२ अंक ४। तृतीय खंड का भूगोल यथा समय पत्रिका में प्रकाशित होगा।

ख—वाल्मीकि रामायण की वाचनाओं की दो प्रमुख धाराएँ देश में प्रवाहित हैं—एक उत्तर भारत की, दूसरी दक्षिण भारत की। इन दोनों की अवांतर वाचनाएँ कई हैं। प्रस्तुत लेख में उत्तर भारतवाली की प्रतिनिधि बंगाल वाचना ली गई है और दक्षिण भारतवाली की महाराष्ट्र वाचना। बंगाल वाचना के लिये गोरेसियो नामक इताली विद्वान् द्वारा लगभग सौ वर्ष पूर्व प्रकाशित संस्करण का उपयोग किया गया है तथा महाराष्ट्र वाचना के लिये निर्णय-सागर प्रेस द्वारा प्रकाशित संस्करण का।

संकेत—बं० रा० = बंगाल रामायण ; मुं० रा० = मुंबई रामायण।

कोसल से बिदा ली और बिना रुके ही अपराह्न में शृंगवेरपुर (=सिंगरौर, जिला इलाहाबाद) पहुँचे जो बेला से लगभग ३५ मील दक्खिन, प्रयाग के उस पार गंगा के उन्नत उत्तरी कगार पर स्थित था। आज का सिंगरौर इसी के पास बसा था जिसे गंगा एक प्रकार से बहा ले गई हैं। प्राचीन बस्तियों के अवशेष इसके आस-पास आज भी दिखाई देते हैं।

राम ने उस दिन रात्रिशेष से दिन के उत्तरार्ध तक लगभग ८० मील तय किए। यतः यहाँ तक रथमार्ग था, अतः घोड़ों की डाक का प्रबंध रहा होगा और स्थान स्थान पर (यथा वेदश्रुति, गोमती और स्यंदिका पर) घोड़े बदले गए रहे होंगे।

२—'शृंगवेरपुर' पहुँच कर राम उसमें प्रविष्ट नहीं हुए। इसी से वाल्मीकि ने उनका 'शृंगवेरपुरं प्रति' [२] जाना लिखा है। वनवास वाले बरसों में उन्होंने कभी नगर-प्रवेश नहीं किया; शृंगवेरपुर की भाँति किष्किंधापुरी और लंकापुरी के भी बाहर ही रहे। शृंगवेरपुर के स्वामी निषादराज गुह उनके सखा थे, जिनके स्नेह को ही उन्होंने आतिथ्य में ग्रहण किया। दूसरे दिन सुमंत्र को अयोध्या लौटाकर तथा अपने सखा गुह से बिदा होकर वे दिन के उत्तरार्ध में गंगा पार हुए। यहाँ से प्रयाग वन आरंभ होता था। कुछ दूर, प्रायः छः सात मील, जाकर दिन बीतता देख वे एक वृक्ष तले विश्रांत हुए[३] और प्रातःकाल भरद्वाज-आश्रम के लिये चल पड़े जो उसी वन में गंगा-यमुना संगम के निकट था। अपराह्न में वे भरद्वाज के आश्रम में पहुँचे।[४] यहीं से राम-वनवास के भूगोल का उलझा अंश आरंभ होता है।

३—आजकल भरद्वाज-आश्रम प्रयाग में आनंद-भवन—स्वराज्य-भवन, के सामने माना जाता है। अकबर के समय तक गंगा उसके नीचे बहती थीं, किंतु अकबर ने अपना किला बनाने के लिये बाँध बाँध कर गंगा की धार मीलों पूरब हटा दी है। यह भरद्वाज-आश्रम शृंगवेरपुर से कोई बाईस तेईस मील पर है।

पहले दिन कोई छः सात मील पर ठहर कर दूसरे दिन सोलह-सत्रह मील तय करके राम का तीसरे पहर भरद्वाज-आश्रम में पहुँच जाना उक्त आश्रम की

२—मुं० रा०, २।५०।२६

३—बं० रा०, मुं० रा०, २।५३।१

४—वही, २।५४।८

दूरी के साथ ठीक ठीक मेल खाता है। फिर भी, उस स्थान को भरद्वाज-आश्रम मानने में एक बड़ी भारी अड़चन हैं। तत्रभवान् डा० काटजू ने १९४५ में समाचार-पत्रों द्वारा पहले-पहल इस ओर ध्यान आकृष्ट किया। उन्हीं के शब्दों में—

"...रामायण के अनुसार भरद्वाज के आश्रम और संगम से चित्रकूट बीस मील दूर था। यह बड़ी गंभीर बात है।......आजकल सड़क सड़क जाइए तो प्रयाग से चित्रकूट सत्तर मील से ऊपर है और हंस-पथ से जाइए तो भी साठ मील से कम न पड़ेगा। चित्रकूट एक पहाड़ है, फलतः एक अचल ठिकाना है। वहाँ रामचंद्र जी का स्थान कामदनाथ जी के नाम से प्रसिद्ध है और उसके निकट प्रयाग की ओर कोई दूसरा पर्वत नहीं है जो चित्रकूट माना जाय।"[५]

वाल्मीकि ने चित्रकूट का और प्रयाग से वहाँ के मार्ग का जैसा स्पष्ट, वास्तविक और ब्योरेवार वर्णन किया है[६] उसका भी उल्लेख तत्र भवान् ने किया है तथा उन्होंने यह भी लक्ष्य कराया है कि उक्त बीस मील की दूरी वाल्मीकि ने एक नहीं, दो दो बार दी है। एक बार जब भरद्वाज ने उसे राम को बताया[७], दूसरी बार जब भरत को।[८] विशेषता यह है कि भरत को बताई गई दूरी योजनों में है—अढाई योजन। अर्थात् इस संबंध में वाल्मीकि की जानकारी बिलकुल पक्की थी।

४—ऐसी दशा में इस समस्या का सीधा हल यह है कि उन दिनों गंगा शृंगवेरपुर के पास से धनुषाकार पश्चिम को घूम गई थीं और राजापुर के आसपास यमुना में मिली थीं क्योंकि वहीं से चित्रकूट की दूरी बाईस मील है। इधर शृंगवेरपुर भी वहाँ से वही बाईस तेईस मील पड़ता है, जितना आधुनिक प्रयाग से।

यह बात लक्ष्य करने की है कि वाल्मीकि ने गंगा को यमुना से मिलने के लिये पश्चिम घूमी हुई अथवा यमुना को गंगा के वेग से पश्चिम घूम गई लिखा है।[९]

५—"भारत", सितंबर २,'४५

६—मुं० रा०, २।९४।५-१०

७—वही, २।५४।२८

८—वही, २।९२।१०

९—गंगायमुनयोःसंधिमादाय मनुजर्षभ।
कालिन्दीमनुगच्छेतां नदीं पश्चान्मुखाश्रिताम्॥—वही, २।५५।४

इसके उक्त दोनों अर्थ होते हैं। किसी टीकाकार ने एक माना है किसी ने दूसरा। किंतु आगे के श्लोक से यमुना का कुछ दूर पश्चिम बह जाना ही व्यक्त होता है।

परिणामतः दोनों स्थितियाँ एक हैं जो राजापुर में ही संभव हैं (द्रष्टव्य मानचित्र)। यह संभावना रामायण के इस स्पष्ट उल्लेख से सर्वथा प्रमाणित हो जाती है कि गंगा के मिलने से परिपूर्ण होकर यमुना समुद्र को जाती हैं।[10] आज सागरंगमा पूर्ववाहिनी यमुना पश्चिम-वाहिनी गंगा में नहीं मिलती, आज तो पूरब-दक्खिन जाती हुई गंगा में यमुना, जो इलाहाबाद पहुँचकर संगम-स्थल पर नितांत मंथर हो गई हैं, मिलती हैं और गंगा के आग्नेयाभिमुख प्रवाह में घुल जाती हैं।

यद्यपि आज भी संगम के निकट गंगा पश्चिम-वाहिनी कही जाती है किंतु वस्तुतः यह कथनमात्र है—उन दिनों का नाम-शेष।

५—नदियों का तथा उनके संगम का इस प्रकार स्थान बदलते रहना इतनी साधारण और आए-दिन-वाली घटना है कि उसे प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं। किस प्रकार गंगा-सोन का संगम अजातशत्रु के समय में (ई० पू० पाँचवीं शती) पाटलिपुत्र के नीचे था और आज वहाँ से बारह मील पच्छिम हट गया है, इसका उल्लेख तत्रभवान् ने अपने उक्त लेख में किया है। ई० पाँचवीं शती में रावी मुलतान के दक्खिन चिनाब में मिलती थी और व्यास सतलज से मिलने के बजाय रावी के नीचे जाकर चिनाब में; किंतु ई० पू० पाँचवीं छठी शती में व्यास आजकल की भाँति सतलज में ही मिलती थी।

६—इस प्रकार रामायण के अनुसार उस काल वाले प्रयागवन, भरद्वाज आश्रम एवं गंगा-यमुना संगम राजापुर के आसपास स्थिर होते हैं। इस संबंध में उक्त लेख के अंतिम अंशवाली तत्रभवान् की यह उक्ति बड़ी मार्मिक है—"जहाँ गंगा-यमुना मिलेंगी, वही स्थान संगम कहलाएगा। इस प्रकार प्रयाग और संगम एक दूसरे से मिली हुई चीजें हैं। यह न समझिए कि हमारा प्रयाग और वाल्मीकि का प्रयाग एक होना चाहिए।"[11]

१०—अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते। यात्येव यमुना पूर्णा समुद्रमुदकार्णवम्॥
—मुं० रा० २।१०५।१६

११—("भारत", सितंबर २,'४५)। इस लेख के खंडन में कई लेख निकले। एक में लीलावती सरीखी बहुत इधरवाली रचना के सहारे पाँच मील का कोस बना कर, वर्तमान सत्तर मील वाली दूरी प्रमाणित की गई है ("भारत", ३०-६-४५)। किंतु वाल्मीकि ने राम की जिन मंजिलों का ब्योरा दिया है उनमें से कोई भी अठारह-बीस मील से ऊपर की नहीं। वर्तमान प्रसंग में राम ने प्रयागवन से दिन में चल कर संध्या होते यमुना पार की और एक रात टिककर दूसरे दिन सुख से चलते हुए अपराह्न के उपरांत चित्रकूट पहुँच गए। यह समय १० मील

७—भरद्वाज ने राम का सप्रेम आदर-सत्कार किया और उनसे अनुरोध किया कि यहाँ संगम पर बसो।[12] किंतु उन्होंने उत्तर दिया कि यहाँ नित्य अयोध्या के लोग आया करेंगे, अतः यहाँ रहना ठीक नहीं। मुझे कोई ऐसा स्थान बताइए जहाँ एकांत हो और जानकी का भी मन रमे। महर्षि ने कहा कि यहाँ से दस कोस पर चित्रकूट नामक पहाड़ है जो बहुत नयनाभिराम एवं रमणीय है। महर्षि ने उसकी तुलना गंधमादन से की।

राम ने उनके आश्रम में रात बिताई। दूसरे दिन महर्षि ने उनका स्वस्त्ययन किया और बताया कि पश्चिम-वाहिनी गंगा से मिली हुई वा गंगा के वेग से पश्चिम को घूमी हुई यमुना के किनारे किनारे धारा के प्रतिकूल पश्चिमाभिमुख जाओ। आगे तुम्हें एक चलता घाट मिलेगा, वहाँ बेड़ा बनाकर यमुना पार करो, इत्यादि। कुछ दूर उनके संग जाकर वे मार्ग भी दिखा आए।

बेड़ा बना कर यमुना पार करके राम परले पार वाले किनारे किनारे कुछ

का ही प्रतिपादक है, अधिक दूरी का नहीं। अतः यह स्पष्ट है कि वाल्मीकि को दो मील वाला कोस—अर्थात् आठ मील वाला योजन—अभिप्रेत था।

इतना ही नहीं, इस प्रतिपादन के प्रतिकूल सबसे बड़ी बाधा यह है कि यदि हम उक्त १ कोस = ८ मील वाला मानदंड स्वीकार लें तो चित्रकूट मंडल में बिराध कुंड से शरभंग आश्रम की दूरी, जो वाल्मीकि ने डेढ़ योजन दी है (बं० रा० ३।८।१७-१८ ; मुं० रा० ३।४।२०-२१) और भौमिक स्थिति के अनुसार जिसका तादृश अंतर नहीं है, अड़तालीस मील जा पड़ती है, जो एक असंभव आँकड़ा है। किंतु खंडन के उत्साह में एकपक्षीय होकर ऐसी भूल कर बैठना एक सनातन नियम है।

दूसरे प्रतिपक्षी ने भरद्वाज के दो आश्रम बतलाए हैं—एक वर्तमान, दूसरा चित्रकूट से बीस मील पर ("भारत" ७-१२-'४५)। इसके प्रमाण में वाल्मीकि का एक वचन उपस्थित किया गया है जिसके अनुसार चित्रकूट से रथ द्वारा लौटते हुए भरत ने भरद्वाज से मिलने के उपरांत यमुना पार की (मुं० रा० २।११३।६, २१)। इस संबंध में इतना ही कहना अलं है कि यह श्लोक रामायण की बंग-वाचना में, जो अपेक्षाकृत कहीं प्रामाणिक है, नहीं मिलता। भरत का रथ से चित्रकूट जाना-आना मूल रामायण का अंश नहीं। रथ-मार्ग शृंगवेरपुर में समाप्त हो जाता था। उसके बाद भरत सदलबल पैदल ही गए; रथवाला प्रसंग पीछे का पल्लवन है। अतः वह प्रमाण अग्राह्य है।

१२—बं० रा०, २।५४।२२-२३ ; मुं० रा०, २।५४।२२

दूर पश्चिम गए। तब उन्हें वह वट मिला जिसकी चर्चा महर्षि ने उनसे की थी। उस नीलवट की प्रदक्षिणा एवं उससे मंगल-याचना करके सीता-राम-लक्ष्मण बिना रुके किनारे किनारे पश्चिम चलते गए। कोई कोस भर जाकर एक बालुकामयी सजल नदी की रेत में उन्होंने रात बिताई।[१३] प्रातः यमुना-स्नान करके ढाक, बेरी और जामुनों में होते हुए हरियाली, फूल-पत्ती, वन्य खग-मृग तथा मधु के छत्ते निरखते वे चित्रकूट जा पहुँचे।[१४]

८—चित्रकूट नाम से आज जिस स्थान को हम जानते हैं वह (क) अपनी रमणीयता, (ख) सांप्रत प्रयाग से भी अपनी संनिकटता, (ग) अपने संबंध में निर्विवाद अनुश्रुति तथा (घ) अपने आसपास किसी इतने रमणीय स्थल के अभाववश निश्चय वही चित्रकूट है जिसे राम ने बनवास में अपना पहला आवास बनाया था। मंदाकिनी (वर्तमान पइसुनी) किनारे एक अभिराम स्थल खोजकर उन्होंने अपनी कुटी बनाई।[१५] किंतु वहाँ वे अधिक रहने न पाए। एक महीना बीतते न बीतते, उन्हें लौटा लाने के लिये भरत पहुँचे और यद्यपि वे अकृतकार्य फिरे, फिर भी वहाँ नित्य अयोध्या-वासियों के आते रहने की आशंका उत्पन्न हो गई थी एवं हाथी घोड़ों ने जंगल को गंदा भी कर दिया था; अतः भरत के जाने पर राम ने और गहन वन में प्रविष्ट होना निश्चत किया।[१६] इसका एक और हेतु था जिसपर आगे प्रकाश डाला जायगा (१०)।

९—चित्रकूट से वे अत्रि मुनि के आश्रम में चले गए।[१७] यहाँ से दंडकारण्य का दुर्गम भाग आरंभ होता था, किंतु इन वनों में भी ऋषियों का निवास था। चित्रकूट से लेकर दक्षिण में पंपा तक उनके आश्रम थे। पंपा संभवतः ऋषि-निवास की दक्षिणी परिसीमा थी।[१८] इन आश्रमों के कारण इन वनों में ऋषियों का यातायात रहता, अतएव उन लोगों का एक मार्ग भी था। वही मार्ग राम ने ग्रहण किया था।[१९]

१३—यह नदी यमुना के उन 'भरकों' में से रही होगी जिनकी उस ओर भरमार है।

१४—बं० रा०, २।५६।७-१३ ; मुं० रा०, २।५६।१२

१५—बं०रा० २।५६।१९ ; मुं० रा०, २।५६।२०

१६—बं० रा० ३।२।४ ; मुं रा० २।११७।४

१७—बं० रा० ३।२।५ ; मुं० रा० २।११७।५

१८—बं० रा०, ३।१०।१८ ; मुं० रा० ३।११।१७

१९—बं० रा० ३।१।१७, ३।५।२१ ; मुं० रा०,२।११९।२१

अत्रि-आश्रम में वे बसे नहीं। वहाँ से आगे चलने पर दुर्गम बन की गहराई में उन्हें विराध राक्षस मिला, जिसे मारकर वे शरभंग ऋषि के आश्रम में पहुँचे।[२०] ये तीनों स्थान चित्रकूट प्रांत में मंदाकिनी किनारे आज भी बतलाए जाते हैं। चित्रकूट से लगभग १० मील दक्खिन अत्रि (=अनसूया) का आश्रम है और उससे ३ मील दक्खिन विराध-कुंड, जहाँ भगवान ने विराध को मारा था। वहाँ से ५ मील पर, दक्षिण दिशा में शरभंग का आश्रम है। संभवतः ये तीनों स्थान वास्तविक हैं, क्योंकि रामायण में इनमें से अंतिम—शरभंग आश्रम—की विराध कुंड से दूरी डेढ़ योजन दी है, जिसकी उक्त ५ मील से सन्निकटता है। साथ ही इस आश्रम में दक्षिण-पूर्व से आकर एक नदी मंदाकिनी में मिलती है जिसका नाम आज भी, मुनि के कारण, शरभंगा[२१] चला आ रहा है। यद्यपि रामायण में इसका उल्लेख नहीं है फिर भी शरभंग-आश्रम के स्थल का यह भी एक प्रमाण है। फलतः चित्रकूट और इस स्थान के मध्यवर्ती अनसूया[२२] तथा विराध-कुंड[२३] भी काल्पनिक नहीं हो सकते।

१०—शरभंग के आश्रम में भी राम न रहे। उनके इस प्रकार बढ़ते जाने के हेतु पर यहाँ विचार कर लेना आवश्यक है। रामायण के वर्तमान रूप में इस हेतु की चर्चा कुछ गौण हो गई है, फिर भी तनिक ध्यानपूर्वक देखने से वह स्पष्ट हो जाती है।

बुंदेलखंड का जो भाग युक्तप्रांत में पड़ता है उसके पूरबी अंश को तथा उसके नीचे दक्खिन में सागर-दमोह वाले भूभाग को (जो भौमिक दृष्टि से मालवे का बढ़ाव है) एवं मैहर को लपेटता हुआ एक लंबोतरा भूभाग है। इसकी प्राकृतिक परिसीमा कुछ कुछ इस प्रकार निर्दिष्ट की जा सकती है कि उत्तर-दक्खिन दंडायमान पन्ना की ऊँची गिरि-शृंखला और उसकी पूरबी गोंट केन नदी, इसकी पूरबी सीमा है। प्रायः उसकी समानांतर रेखा में चलनेवाली विंध्य की वह शाखा जो धसान नदी का पूरबी कगार बनती है, इस भूभाग की पश्चिमी सीमा है। विंध्यवाली इस भुजा की ऊँचाई प्रायः वही है जो पन्ना के पहाड़ों की—कोई पंद्रह सौ, दो हजार फुट। इन दोनों शृंखलाओं के ऊपरी अंश एक होकर एक उर्वर पठार बनाते हैं। यही पठार आसपास के सिवानों को लेकर किसी समय दंडक बन के

२०—बं० रा०, ३।७।५,१३, और ३।७।१ ; मुं० रा० ३।२।८, ३।५।१३

२१, २२, २३—द्र० बाँदा गजेटियर, पृ० १६-१७

नाम से प्रसिद्ध था—संभवतः अपने याम्योत्तर लंबेपन के कारण। रामायण में भी इसकी यही परिसीमा दी है; वहाँ पन्ना शृंखला का नाम शैवल है। यह बात लक्ष्य करने की है कि पन्ना (स्थानिक रूप—परना) शैवल, दोनों ही नाम जो इस पहाड़ ने समय समय पर पाए हैं, इसकी सघन स्निग्ध हरीतिमा के द्योतक हैं।

दंडक वन की उक्त प्राकृतिक परिसीमा के अतिरिक्त उसके निकटवर्ती चित्रकूट आदि के वन भी दंडक में परिगणित हैं। इसी कारण अपने प्राचीन साहित्य में दंडक शब्द का प्रयोग इस अर्थ में बहुवचन में भी हुआ है।

इस समूचे दंडक वन की भूमि जिन मिट्टियोंवाली है उनमें एक भाँति की काली मिट्टी होती है—काबर। यह नाम संस्कृत 'कर्बुर' शब्द से बना है। इन्हीं प्रदेशों में उन दिनों एक जाति बसती थी जो अपनी रंगत में इस मिट्टी की संतान थी और—संभवतः इसी रंग-साम्य के कारण—उस जाति का भी एक नाम कर्बुर था। हम इस जाति को इसके अधिक प्रचलित नाम—राक्षस—से भली भाँति जानते हैं।

दंडक वन का दक्खिनी छोर, दमोह-मैहर वाला अंश, इन राक्षसों का प्रधान जनपद था। इसका तत्कालीन नाम जनस्थान था। राक्षसों का एक नाम पुण्यजन भी है। संभवतः जनस्थान शब्द उसी से संबंधित है—पुण्यजन-स्थान का लघु रूप है। जनस्थान के आगे दक्षिण में क्रौंचालय तथा अंशतः किष्किंधा और मतंग वन पड़ता था जो पंपा तक जाकर समाप्त होता था। समूचा दंडकारण्य, कहीं कम कहीं अधिक, राक्षसों से गछा हुआ था जो उसमें बसे हुए ऋषियों को निरंतर मारते खाते रहते। कहीं-कहीं तो इस प्रकार प्राण गँवाने वाले अभागों की हड्डियों के ढेर लग गए थे। अतएव राम-वनवास को ऋषि-मुनियों ने अपना अहोभाग्य माना। आरंभ से ही वे राम से बिनती करने लगे कि उनको निष्कंटक कर दें। मुनियों और मुनि-शिष्यों का एक दल सुतीक्ष्ण-आश्रम से ही उनके साथ हो लिया कि उन्हें राक्षसों की नृशंसता दिखाता हुआ यह बाधा दूर करा ले। राम ऐसा करना चाहते थे,[२४] यद्यपि आरंभ से ही सीता इसकी विरोधिनी थीं।[२५] निदान, वे शरभंग के आश्रम में भी न बसे; उन्होंने सुतीक्ष्ण के आश्रम में जाना निश्चित किया।[२६]

२४—बं० रा०, ३।१०।२५; मुं० रा०, ३।६।२२-२५

२५—बं० रा०, ३।१३।२२; मुं० रा०, ३।९।२४-२५

२६—बं० रा०, ३।१०।२६; मुं० रा०, ३।६।२६

एतदर्थ शरभंग ने उन्हें मार्ग बता दिया।[२७] तदनुसार वे मंदाकिनी के प्रतिस्रोत अर्थात् उसके उद्गम की ओर गए और आगे जाने पर उन्होंने एक वेगवती नदी पार की। तब उन्हें एक उन्नत शैल पर विपुल वन दिखाई दिया। इसी वन में सुतीक्ष्ण का निवास था।[२८]

११—वर्तमान भूगोल के अनुसार उक्त वेगवती नदी केन (=शुक्तिमती) ठहरती है जो मंदाकिनी के उद्गम से कोई ३५-३६ मील की दूरी पर पड़ती है। मंदाकिनी के उद्गम से ही, कुछ कुछ उसके समानांतर बहती हुई, यह भी उसीकी भाँति यमुना में मिल जाती है। इस केन के पश्चिम ओर पन्ना के ऊँचे पहाड़ पड़ते हैं, जहाँ इधर का चित्रकूट वाला लगभग छः सौ फुट ऊँचा पहाड़ उधर एका-एक पंद्रह सौ फुट ऊँचा हो जाता है। इस भौमिक वास्तविकता से उक्त रामायणीय वर्णन सर्वथा सम्मत है।

१२—वर्तमान अजयगढ़ राज्य से कहीं पर, उदाहरण के लिये मंदाकिनी के उद्गम से कोई ५० मील दूर नोनापानी पर, केन पार करके राम जहाँ पन्ना के पहाड़ों में सुतीक्ष्ण आश्रम में पहुँचे होंगे वह स्थान आधुनिक बिजावर राज्य में, न्यूनाधिक बिजावर नगर की सीध में, कहीं रहा होगा। सुतीक्ष्ण के आश्रम में एक ही रात रह कर वे आगे बढ़े।[२९] कितने ही वन, पर्वत और नदियाँ पीछे छोड़ आने पर उन्हें एक योजन विस्तृत पंचाप्सर नामक सरोवर मिला जहाँ ऋषियों के अनेक आश्रम थे। ये आश्रम पंचाप्सर के इर्द-गिर्द रहे होंगे। इनमें कहीं महीना भर, कहीं दो महीने, कहीं चार-छः महीने और कहीं बरस दो बरस रह कर राम ने अपने वनवास के दस बरस काट दिए। तदुपरांत वे पुनः सुतीक्ष्ण के आश्रम में लौट आए[३०]; क्योंकि यद्यपि इन दस वर्षों में उन्होंने पंचाप्सर प्रदेश की राक्षस-बाधा मिटा दी थी, फिर भी अभी यह उपद्रव निर्मूल न हुआ था।

१३—पंचाप्सर सर दंडकारण्य की दक्षिणी-पश्चिमी सीमा पर था। इसके पूरब, दमोह से जनस्थान चलता था जो मैहर राज्य तक लंबायमान था। उसमें अभी राक्षसों का उपद्रव शेष था जिसकी सफाई आवश्यक थी। रामायण में

२७—बं० रा०, ३।६।११-१२; मुं० रा०, ३।५।३५-३७

२८—बं० रा०, ३।११।१-२; मुं० रा, ३।७।१-२

२९—बं० रा०, ३।१२।१, १७; मुं० रा०, ३।८।१, २०

३०—बं० रा०—३।१५।२३-२८; मुं० रा०, ३।११।२३-२८

राम द्वारा जनस्थान में चौदह हजार राक्षसों के मारे जाने की चर्चा बार बार हुई है।[३१] यद्यपि रामायण के वर्तमान रूप के अनुसार ये वध डेढ़ दंड में किए गए थे, फिर भी रामायण से ही यह स्पष्ट है कि जनस्थान के समूचे निवास-काल में (सीता-हरण के पूर्व) उन्होंने इतने राक्षस मारे।

१४—दंडक का उक्त नैर्ऋत्य छोर जिसमें पंचाप्सर सर था, वर्तमान सागर जिला है जिसकी पश्चिमी सीमा पर याम्योत्तर बहती हुई धसान इस पठार को मालवे से विभक्त करती है। यह जिला अपना नाम 'सागर' सागर नाम की उस विशाल प्राकृतिक झील से प्राप्त करता है जिसके तट पर सागर नगर बसा हुआ है। टालमी में भी इसका उल्लेख 'सागेडा'[३२] नाम से है। यही सागर रामायणीय पंचाप्सर सर है जिसके इर्द-गिर्द ऋषियों के बहुतेरे आश्रम थे। सुतीक्ष्ण-आश्रम की भौमिक स्थिति निर्धारित हो जाने पर, सागर के अतिरिक्त और कौन सी झील हो सकती है जहाँ राम कितने ही वन, पर्वत और नदियाँ पीछे छोड़ते हुए पहुँचे हों? केन के तट से सागर तक ऐसा और स्थान नहीं पड़ता जहाँ जल का इतना निचय हो।

१५—सुतीक्ष्ण-आश्रम में पुनः पहुँचकर वहाँ कुछ दिन टिकने पर राम ने मुनि से कहा कि इसी वन में कहीं अगस्त्य ऋषि रहते हैं, अब मैं कुछ दिन उनकी सेवा में रहना चाहता हूँ, मुझे उनके आश्रम का मार्ग बताइए।[३३] सुतीक्ष्ण ने बताया कि यहाँ से चार योजन दक्षिण पिप्पली के वन में अगस्त्य के भाई का आश्रम है और उससे एक योजन दक्षिण अगस्त्य-आश्रम है।[३४]

राम का अगस्त्य-आश्रम जाने का संकल्प विशेष महत्त्व रखता है। अगस्त्य (अर्थात् अगस्त्य ऋषि-वंश) दक्षिण बढ़ने वाले ऋषियों में प्रमुख थे और उन्होंने

३१—बं० रा०—३।२२।२४, ३।२३।४०, ३।२५।२६, ३।२६।१, ३।३०।११, ३।३८।६; मुं० रा०, ३।२६।३५, ३।२६।२४

३२—"Sagar is supposed to be the Sageda of Ptolemy. The name is derived from Sagar, a lake, after the large lake round which it is built."

—इंपीरियल गजेटियर ऑव इंडिया, जिल्द २२, पृ० १४८.

३३—बं० रा०, ३।१५।३२-३४; मुं० रा०, ३।११।३२-३४

३४—बं० रा०, ३।१५।३६, ४०, ४३; मुं० रा०, ३।११। ३७-३८, ४१

राक्षसों से टक्कर लेकर दक्षिण को शरण्य (बसने योग्य) बनाया था।[३५] एतदर्थ वे अस्त्रों का उपयोग भी करते रहे होंगे। रामायण की इस कथा से कि उन्होंने अपनी कुटी में से लाकर राम को दिव्यास्त्र दिए[३६], यही प्रकट होता है कि उनके यहाँ अस्त्रों का संचय रहता था। वस्तुतः राक्षसों के भारी भारी समूहों पर इक्के दुक्के आर्यों की विजय का गुर यही है कि राक्षस शस्त्रों का ही, जो हाथ में रख कर चलाए जाते थे, उपयोग जानते थे। अस्त्रों—अर्थात् ऐसे हथियारों का जो अपेक्षया अधिक यांत्रिक हैं, जैसे विभिन्न प्रकार वाले धनुष-बाण और चक्र आदि—का उपयोग उन्हें अज्ञात था।

१६—अगस्त्य-भ्राता के यहाँ होते हुए राम अगस्त्य-आश्रम में पहुँचे।[३७] अगस्त्य ने उन्हें वहीं रहने को कहा, किंतु राम ने कहा कि मुझे ऐसा स्थान बताइए जो बहुकानन हो और जहाँ जल का सुपास हो। मुनिवर ने विचार कर कहा कि यहाँ से दो योजन पर पंचवटी नामक प्रदेश है। उसके पास ही गोदावरी बहती है। आप वहाँ बसें, वहाँ हर प्रकार की सुविधा है। सामने आपको महुए का बड़ा भारी वन दिखाई दे रहा है। इसके उत्तर से जाइए, आगे आपको वट-वृक्ष मिलेगा। उसके पास ही पर्वत के निकट उपारूढ़स्थली है, वही पंचवटी है।[३८]

१७—यह पंचवटी राक्षसों की ठेठ बस्ती जनस्थान का, जिसमें उनके प्रमुख खर, दूषण एवं त्रिशिरा भी रहते थे, आग्नेय भाग थी। यही कारण था कि अगस्त्य जैसे विक्रान्त महर्षियों को छोड़ कर अन्य महर्षियों को इस ओर बढ़ने का साहस न हुआ था। राम का पंचवटी-निवास संभवतः इस गढ़ का सफाया करने के लिये ही हुआ था, क्योंकि ऐसे उच्छेद बिना पंचाप्सर सर वाला क्षेत्र कितने दिन निष्कंटक एवं सुरक्षित रह सकता था?

१८—बिजावर के आसपास, जैसे नोनापानी में, सुतीक्ष्ण-आश्रम मान कर पंचवटी पहुँचने के लिये यदि हम उक्त ४+२+१=७ योजन, अर्थात् ५६ मील दक्षिण जायँ तो हम केन नदी के उद्गम (अक्षांश २३.८° उ०, रेखांश ८०° पू०, जबलपुर में कटनी से कोई दस मील की दूरी पर) के आसपास पहुँच जाते हैं।

३५—बं० रा०, ३।१६।१२, ३।१७।१६; मुं० रा० ३।११।५४, ८१

३६—बं० रा०, ३।१८।३७-४७; मुं० रा०, ३। १२।३२-३७

३७—बं० रा०, ३।१७।१७; मुं० रा०, ३।११।७९

३८—बं० रा०, ३।१६।१४, १६,२२-२३; मुं० रा०, ३।१३।१३, १८,२१-२२

इससे रामायण वाले पंचवटी-वर्णन का अद्‌भुत समाधान होता है, क्योंकि उसमें हम पंचवटी के सन्निकट एक प्रस्रवण गिरि पाते हैं और प्रस्रवण हमारे प्राचीन साहित्य में वही वस्तु है जिसे हम आज नदी का उद्‌गम-प्रपात कहते हैं। इस प्रकार हम पंचवटी का स्थल केन के निकास के आसपास पा जाते हैं। इन प्रदेशों के स्थल-निर्णय के लिये पीपल और महुए के वनों वाले उल्लेख भी बहुत महत्व के हैं, क्योंकि उल्लिखित प्रदेश ही ऐसे विभाग हैं जहाँ आज भी पीपल और महुए के जंगलों की बहुतायत है।

पंचवटी-निवास में राम को जटायु सरीखा अनुचर प्राप्त हुआ, यह एक बड़ी बात है। वह जनस्थान में ही बसनेवाली एक अल्पसंख्यक जाति का व्यक्ति जान पड़ता है। प्रायः आदिम जातियाँ अपना उद्‌भव किसी पशु, पक्षी आदि से मानती हैं जो उनका जाति-नाम बन जाता है। यही बात गृद्ध जाति के संबंध में भी है। जटायु के भाई-भतीजे एवं परिवार का वर्णन तो मिलता ही है[३९], महाभारत में उसकी बाहों का (डैनों का नहीं) वर्णन भी मिलता है।[४०] अतएव इस विषय में किसी ननु-नच की संधि नहीं रह जाती।

१९—केन के निकट पंचवटी मानने में सबसे बड़ा अड़ंगा यह प्रतीत होता है कि अगस्त्य ने उसे गोदावरी तीर पर बताया है (१९)। परंतु यह अड़ंगा निस्सार है। गोदा[४१], गोदारि[४२] आदि शब्द अनार्य, संभवतः द्रविड़, भाषा के हैं जो नदी वा जल की धाराओं के लिये जातिवाचक संज्ञा हैं। जान पड़ता है कि यहाँ यह शब्द (रामायण में प्रयुक्त लंका[४३], मलय[४४] आदि आदिम भाषा के अन्य

३९—वं० रा०, ३।२३।६

४०—स वध्यमानो गृध्रेण रामप्रिय हितैषिणा।

खड्‌गमादाय चिच्छेद भुजौ तस्य पतत्रिणः॥

—कुंभकोणम् संस्करण। रामोपाख्यानपर्व १८, अ० १८०, श्लोक ६।

४१—जहाँ नदी दो धाराओं में फट जाती है और बीच में टापू सा पड़ जाता है उसे बुंदेलखंडी में गोदा कहते हैं, जो संभवतः इसी अनार्य शब्द का एक रूप है और अपने वास्तविक अर्थ के बहुत निकट है।

४२—गोदारि = नदी। काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह में डा० हीरालाल का 'अवधी हिंदी प्रांत में राम-रावण युद्ध' शीर्षक लेख, पृ० २५-२६।

४३—लंका = टीला या टापू, वही पृ० २७

४४—मलै (द्राविड़) = मलअ = गिर्यंक देश (देशीनाममाला, ६।१४४)।

जातिवाचक शब्दों की भाँति) इस कारण प्रयुक्त हुआ है कि संभवतः उस समय तक आर्यों ने केन का नामकरण नहीं किया था। पीछे से जब गोदावरी शब्द नदी-विशेष के अर्थ में रूढ़ हो गया तभी गड़बड़ी पैदा हुई और पंचवटी नासिक में गोदावरी-तट पर फेंक दी गई।

२०—इस प्रकार निर्णीत पंचवटी की यदि हम वहाँ से ऋष्यमूक की (जो पंचमढ़ी प्रमाणित हो चुकी है[४५]) दिशा एवं दूरी द्वारा जाँच करें तो यह उसमें भी खरी उतरती है, जो इसके लिये एक और प्रमाण हो जाता है। पंचवटी से निकल कर राम को ऋष्यमूक के लिये निरंतर पश्चिम-दक्षिण जाना पड़ता है[४६] जो केन के उद्‌गम से ठीक पंचमढ़ी की दिशा में है। साथ ही इन स्थानों के बीच की दूरी कोई १४५ मील है जो रामचंद्र के लिये ७ दिनों का मार्ग था; क्योंकि जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, उनकी एक दिन वाली मंजिल गोल आँकड़ों में बीस मील की होती है। इस मार्ग में उनका एक रात टिकाव रामायण में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। इस उल्लेख को जब हम उसी प्रसंग वाले इस ब्योरे के साथ पढ़ते हैं कि वे पर्वत पर पर्वत और वन पर वन पार करके ऋष्यमूक के पार्श्ववर्ती मतंग-आश्रम में पहुँचे[४७] तो हम असंदिग्ध हो जाते हैं कि यह मार्ग चार-पाँच पड़ाव का अवश्य रहा होगा, जो उक्त दूरी के साथ ठीक ठीक जुड़ जाता है।

———

पुनश्च—पृष्ठ १६ पंक्ति ३ में '...समुद्र को जाती है' के अनंतर पूर्णविराम न होकर इतना और पठनीय है—'और भागीरथी गंगा यमुना में मिलती हैं'।[४८]

४५—ना० प्र० पत्रिका ५२।४ में 'ऋष्यमूक किष्किधा की भौगोलिक अवस्थिति' शीर्षक लेख।

४६—मुं० रा०, ३।६८।१, २, ४

४७—वही, ३।७३।२-११

४८—यत्र भागीरथी गङ्गा यमुनाभिप्रवर्तते।
जग्मुस्तं देशमुद्दिश्य विगाह्य सुमहद्वनम्॥
—बं० रा० (वॉन की प्रति), २।४३।२

मंडोर

[श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ]

मंडोर (अथवा मांडव्यपुर) मारवाड़ की प्राचीन राजधानी था। यह जोधपुर नगर से ५ मील उत्तर की ओर एक पहाड़ी सिलसिले पर बसा हुआ था जो भौमसेन (भोगिशैल) के नाम से प्रसिद्ध है।

यद्यपि मंडोर नगर इस समय बिल्कुल उजड़ चुका है तथापि उक्त पहाड़ी के तल में इस समय भी मंडोर नाम का एक गाँव बसा हुआ है। पुराना मंडोर दक्षिण में इस गाँव से लेकर उत्तर में जोधपुर की रानियों की छतरियों तक और पूर्व में नागकुंड से लेकर पश्चिम में एक मील की दूरी तक फैला हुआ था।

इस प्राचीन राजधानी के भग्नावशेषों में दो विशाल स्तंभ सबसे प्राचीन हैं। ये वास्तव में किसी द्वार के स्तंभ रहे होंगे। परंतु कर्नल टाड के वर्णन से प्रकट होता है कि उसने इन्हें तोरण के रूप में देखा था। इनकी लंबाई १२-१३ फुट, चौड़ाई २ फुट और मोटाई १० इंच के लगभग है। तोरण के स्तंभ प्रायः चौकोर या गोल देखने में आते हैं और उनपर चारों ओर खुदाई की हुई मिलती है, परंतु इन स्तंभों पर केवल एक ही ओर खुदाई का काम किया हुआ है।

ये स्तंभ चौथी शताब्दी के प्रतीत होते हैं। इनमें प्रत्येक पर छोटे बड़े ५-५ खंड बने हुए हैं। इन खंडों में से केवल एक को छोड़कर शेष सबमें श्रीमद्भागवत-वर्णित श्री कृष्णचंद्र की कुछ लीलाएँ खुदी हुई हैं। यद्यपि इन स्तंभों पर समय ने अपना अत्यधिक प्रभाव डाला है, तथापि इनका जो कुछ भी अंश बच रहा है वह तक्षणकार की कला का सुंदर नमूना है।

पहले स्तंभ (द्रष्टव्य—चित्र सं० १) के ऊपरी खंड में गोवर्धनधारी कृष्ण बने हैं जो अपनी हथेली पर गोवर्धन पर्वत उठाए हुए हैं। श्रीकृष्ण के वाम भाग में बलराम तथा एक ग्वाला और तीन ग्वालिनें हैं। गोवर्धन पर्वत की छोटी बड़ी सात चोटियाँ दिखाई गई हैं। पर्वत पर एक सिंह और सिंहिनी (?) तथा फन काढ़े हुए दो सर्प भी बने हैं। दूसरे खंड में गाएँ बनी हैं जिनको श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत की छाया में इंद्र के कोप से बचाया था। तीसरे खंड में आठ पंक्तियों का एक लेख था

मंडोर

चित्र सं० १
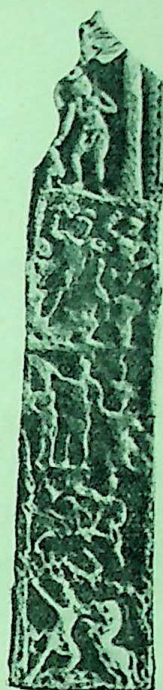
चित्र सं० २
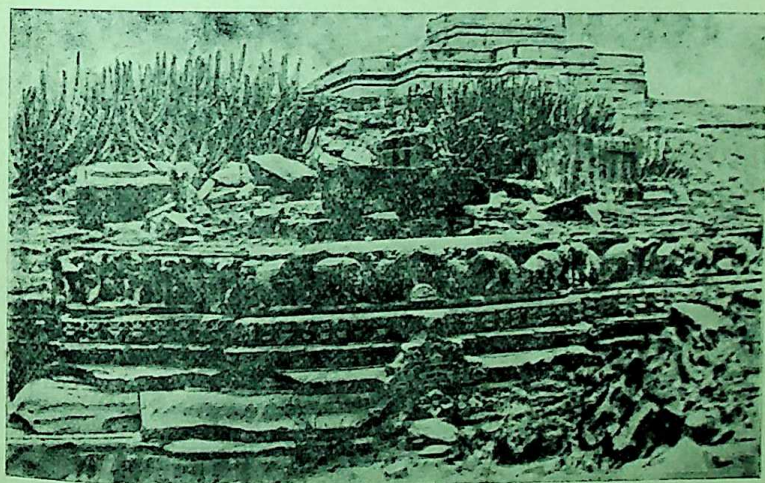
चित्र सं० ३

जो अनुमान से चौथी शताब्दी के मध्य का रहा होगा। परंतु इस समय उसमें से केवल एक अक्षर 'नं' (?) को छोड़कर शेष समूचा लेख नष्ट हो चुका है।

इस स्तंभ का चौथा खंड दो खड़े भागों विभक्त है। दाहिने भाग में गाएँ हैं और बाएँ भाग में दधि-मंथन करती हुई यशोदा खड़ी हैं तथा पास ही बैठे हुए बाल कृष्ण मथानी में से मक्खन निकाल रहे हैं। पाँचवें खंड में यशोदा और श्रीकृष्ण पलंग पर लेटे हुए हैं। श्रीकृष्ण के दाहिने हाथ में एक खिलौना है जो पक्षी सा प्रतीत होता है। अपना बायाँ हाथ वे माता के स्तन पर रखे हुए हैं। यशोदा की दूसरी ओर एक गाड़ी उलटी हुई पड़ी है जो श्रीमद्भागवत में वर्णित श्रीकृष्ण की शकट-भंग लीला की द्योतक है।

दूसरे स्तंभ (द्रष्टव्य—चित्र सं० २) के पहले खंड में बलराम गर्दभरूपी धेनुकासुर को उसका पिछला बायाँ पैर पकड़ कर लटकाए हुए, एक ताल वृक्ष के नीचे खड़े हैं। इसके दूसरे खंड में श्रीकृष्ण कालियनाग के ऊपर खड़े हुए हैं। उनका बायाँ पैर कालिय के मस्तक पर और दाहिना उसके शरीर पर रखा हुआ है। उनके बाएँ पैर में कालिय की पूँछ है और दाहिने में एक पुष्पगुच्छ, जिसमें इधर उधर दो कलियाँ तथा बीच में विकसित कमल है। यहाँ पर कालिय नाग का शरीर तो सर्प का, किंतु मस्तक मनुष्य का दिखाया गया है, और गर्दन के पीछे से फन उठा हुआ है। कालिय के पास ही उसकी स्त्री नागिन बनी हुई है जो रक्षा की प्रार्थना कर रही है। श्रीकृष्ण की बाँई ओर संभवतः बलराम हैं जो श्रीकृष्ण से, नाग-पाश से छूटकर बाहर आने को कह रहे हैं। श्रीकृष्ण की दाहिनी ओर नालसहित विकसित कमल है। इसके द्वारा श्रीकृष्ण का जलाशय में होना सूचित किया गया है।

इस स्तंभ के तीसरे खंड में ग्वाल-वेशधारी प्रलंबासुर के कंधे पर बैठे हुए बल-राम उसके मस्तक पर मुष्टिक प्रहार कर रहे हैं। उनकी दाहिनी ओर श्रीकृष्ण के कंधे पर बैठा हुआ श्रीदामा, और भद्रसेन के कंधे पर चढ़ा हुआ वृषभ नाम का ग्वाला बना है। चौथे खंड में श्रीकृष्ण, बैल का रूप धरकर आए हुए केशी दैत्य के मुँह में अपना बायाँ हाथ घुसेड़ कर उसका दम घोंट रहे हैं।

मंडोर नामक आधुनिक ग्राम और भोगिशैल की पहाड़ी पर स्थित प्राचीन किले के बीच एक बगीचा है, जिसमें खुदाई करने से मिट्टी के कई बड़े बड़े घड़े निकले थे। इन घड़ों के किनारों पर गुप्तकाल की लिपि में 'विखहय' लिखा है। यह

संभवतः कुम्हार का नाम होगा, जो गीली मिट्टी में तिनके से खोद दिया गया होगा। इसी के साथ एक पुरुष की टूटी हुई पाषाण-मूर्ति निकली है जिसका केवल कमर से ऊपर का ही भाग अवशिष्ट है। इसकी ऊँचाई एक फुट दस इंच और चौड़ाई एक फुट सात इंच है। इसके सिर पर न्यायाधीश की आधुनिक टोपी (विग) के समान शिरोवेष्टन है। गले में एक कंठा और हाथों में भुजबंध और कड़े हैं। बायाँ हाथ आगे से टूटा हुआ है और दाहिने में एक पुष्प है। ये दोनों वस्तुएँ भी गुप्तकालीन हैं।

इसी स्थान से आठवीं शताब्दी के आसपास के चाँदी के तीस छोटे छोटे गोल सिक्के भी निकले थे। इनका तोल सात से नौ ग्रेन के बीच, विस्तार '४ इंच तथा मोटाई '०८ इंच है। इनपर अरबी अक्षरों में निम्नलिखित नाम पढ़े गए हैं--

(१) अमीर अबदुल्ला, (२) वली अब्दुल्ला, (३) मुहम्मद, (४) बनु अमराविया, (५) बनु अलविया, (६) बनु अब्दुर्रहमान और (७) मुहम्मद।

ये खलीफाओं की तरफ से सिंध के शासक थे।

यहाँ के पुराने किले की दीवारें लगभग २५ फुट चौड़ी थीं। महाराजा बखतसिंह के समय में वि० सं० १८०८ में जोधपुर की शहरपनाह को बढ़ाने के लिये यहाँ का बहुत-सा पत्थर काम में लिया गया था। फलतः जोधपुर नगर की चारदीवारी से प्रतिहार बाउक का वि० सं० ८९४ का एक लेख मिला है। यह मंडोर से ही अन्य पत्थरों के साथ यहाँ आ गया होगा। इसमें लिखा है कि बाउक के दस पीढ़ी पहले के रज्जिल नामक व्यक्ति ने अपने भाई की सहायता से मंडोर पर अधिकार कर वहाँ पर प्राकार बनवाया था। इस रज्जिल का समय छठी शताब्दी के अंत के आसपास आता है। हो सकता है उसका यह प्राकार पुराने किले की उपर्युक्त दीवार रहा हो।

इस किले के दक्षिण-पूर्व भाग में एक हिंदू मंदिर का भग्नावशेष (द्रष्टव्य-चित्र सं० ३) विद्यमान है। यह एक-पर-एक तीन चबूतरों के ऊपर बीचोबीच बना है। ये चबूतरे नीचे से ऊपर की ओर एक दूसरे से छोटे होते गए हैं और इनपर चढ़ने के लिये पश्चिम की ओर छोड़कर शेष तीन ओर से सीढ़ियाँ बनी हैं। ऊपर मंदिर के गर्भगृह का नीचेवाला कुछ भाग बचा हुआ है। यह सातवीं या आठवीं शताब्दी का प्रतीत होता है। वहीं पर मिले खुदाई के कामवाले पाषाणों से यह भी ज्ञात होता है कि इसकी मरम्मत नवीं और बारहवीं शताब्दी में की गई थी।

इस चौकोर गर्भगृह की भीतरी लंबाई-चौड़ाई ९ फुट ८ इंच और बाहरी १६ फुट है। इसकी बची हुई दीवारों की ऊँचाई लगभग ८ फुट तथा चौड़ाई ४ फुट ८ इंच है। इसमें जो बड़े बड़े पत्थर लगे हैं उनके जोड़ने में चूने या गारे का उपयोग नहीं किया गया है। वे लोहे की कीलों (पाउओं) से जोड़े गए हैं। दीवार का बाहरी भाग कई प्रकार के बेलबूटे, पत्ती, कीर्तिमुख, मनुष्यों के मस्तक आदि खोद कर सुंदर बनाया गया है।

इस दीवार में पत्थरों के पाँच स्तर हैं। इनमें ऊपर का स्तर जो अपेक्षाकृत बड़े पत्थरों का है और जिसपर त्रिभुज बने हैं, बारहवीं शताब्दी का प्रतीत होता है क्योंकि इसकी खुदाई साधारण है।

विक्रम की दसवीं शताब्दी में इस मंदिर में एक सभामंडप बनाया गया था जिसके भग्नावशेष के रूप में छः टूटे स्तंभ मंदिर के सामने पड़े हैं। इनपर खुदाई क बहुत अधिक काम किया हुआ है जिसमें गंधर्व (गायक), कीर्तिमुख और फूल-पत्तियाँ आदि बनी हैं।

इस मंदिर के तीनों चबूतरों की खुदाई के काम देखने से अनुमान होता है कि ये भी इस मंदिर के साथ बारहवीं शताब्दी में जोड़े गए होंगे। नीचे के चबूतरे को छोड़कर शेष दो की दीवारों पर चारों ओर खुदाई का काम किया हुआ है, परंतु वह प्राचीन मंदिर की दीवारों पर की खुदाई का मुकाबला नहीं कर सकता। बीचवाले चबूतरे की दीवार पर कीर्तिमुख और तिकोने बूटे बने हैं, परंतु ऊपर के चबूतरे की उत्तरी दीवार पर सेना का प्रयाण दिखलाया गया है। इसमें अश्वारूढ़ सेनानी के पीछे पैदल और रथारूढ़ सेना चल रही है। रथों को ऊँट खींच रहे हैं, जो मारवाड़ जैसे रेतीले प्रदेश के योग्य ही प्रदर्शन है। इसी के निकट कुएँ से पानी निकालने का रहट बना है। पास ही एक ऊँट खड़ा पानी पी रहा है और दूसरा उसके पीछे से पानी पीने आ रहा है। ऐसे रहट मारवाड़ में इस समय भी काम में लाए जाते हैं। इसी प्रकार युद्ध-प्रवृत्त योद्धाओं का भी एक दृश्य है और घोड़े-जुते रथ में बैठे योद्धा रण-भूमि की ओर जा रहे हैं।

यह मंदिर वास्तव में एक वैष्णव मंदिर के रूप में बनाया गया था, परंतु अंत में यह शैवों के हाथ में चला गया। वि० सं० १५१६ के लगभग राव जोधाजी द्वारा जोधपुर के बसाए जाने पर, मंडोर के मारवाड़ की राजधानी होने के गौरव के साथ ही साथ यहाँ का यह मंदिर भी नष्ट हो गया प्रतीत होता है।

यहाँ के अन्य प्राचीन स्थानों में नाहडराव पडिहार (प्रतिहार नाहड स्वामी) का स्थान है। यह ७५ गज चौकोर स्थान है और इसकी ऊँचाई १८ फुट है। इसके बीच में एक सकरी गली सी बनी है जिससे इसके दो भाग हो गए हैं। इसमें का एक भाग बंद है और दूसरा अनेक खंभोंवाला एक अँधेरा कमरा सा है। यह उपर्युक्त पडिहार-नरेश का स्थान माना जाता है।

इसके उत्तर में एक दो-मंजिला जैन मंदिर है। इसके गर्भगृह के सामने एक सभामंडप भी बना है। मंदिर के प्रवेश-द्वार के ऊपरी पत्थर पर चार तीर्थंकरों की मूर्तियाँ, और अंदर की वेदी पर ८ तीर्थंकरों की मूर्तियाँ खुदी हैं। यह मंदिर अनुमान से बारहवीं शताब्दी का प्रतीत होता है। इसके पश्चिम में कुछ और भी छोटे छोटे स्थान बने हैं, परंतु वे विशेष महत्त्व के नहीं हैं।

इस समय जहाँ मंडोर नामक गाँव बसा है, वहाँ पर एक मसजिद भी है। उसमें सुलतान फीरोजशाह (द्वितीय) के समय का एक लेख लगा है। इससे इस मसजिद का वि० सं० १३५१ में, उक्त बादशाह के मंडोर पर चढ़ाई करने के समय बनाया जाना प्रतीत होता है।

मंडोर से लगभग आध मील पूर्व, रेलवे स्टेशन के पास पहाड़ पर खुदी हुई एक छोटी सी बावली है। इसे वि० सं० ७४२ में ब्राह्मण चणक के पुत्र माधु ने बनवाया था। इस लेख में किसी राजा का नाम नहीं है। इसी के पास पहाड़ में ८½ फुट लंबे और १½ फुट चौड़े स्थान में नौ मूर्तियाँ खुदी हैं। इनमें पहली गणेश की और अन्य आठ अष्ट-मातृकाओं की हैं। ये संभवतः उक्त बावली की प्रतिष्ठा के समय खुदवाई गई थीं। इसी के पास उक्त पहाड़ी में २½ फुट × २ फुट के घेरे में आसन मारे बैठी हुई सूर्य की मूर्ति बनी है। यह भी आठवीं शताब्दी की ही प्रतीत होती है।

कहते हैं कि मंडोर पर पहले नागवंशियों का राज्य था। इसी से यहाँ पर के एक कुंड को नागकुंड, एक बरसाती नाले को नागादरी (नदी) और यहाँ के पहाड़ी सिलसिले को नाग पर्वत या भोगिशैल कहते हैं। नागों के बाद यह परमार नरेशों की राजधानी बना। इनके पश्चात् यहाँ के शासक प्रतिहार (पड़िहार) हुए। इनका शासन वि० सं० १४५१ तक रहा। तदनंतर यहाँ पर राठोड़वंशी राव चूंडा का अधिकार हुआ। वि० सं० १५१६ तक यह उनकी और उनके वंशजों की

भी राजधानी रहा। इसके बाद इसी वर्ष राव चूंडा के पौत्र राव जोधा जी ने मारवाड़ की नई राजधानी जोधपुर की स्थापना की।

नागवंशियों और परमारों के समय के तो कोई लेख आदि यहाँ से नहीं मिले हैं, परंतु प्रतिहार (पडिहार) बाउक के लेख का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। जोधपुर से २२ मील उत्तर-पश्चिम में स्थित घटियाला नामक गाँव से मिले दो लेखों में भी प्रतिहार कक्कुक का मड्डोदर (मंडोर) में एक स्तंभ बनाना लिखा है।

मंडोर से एक लेख-खंड और मिला है, इससे भी यहाँ पर प्रतिहारों का राज्य रहना पाया जाता है।

इसी प्रकार यहाँ से नाडोल के चौहान सहजपाल का भी एक टूटा हुआ लेख मिला है। इसमें एक गाँव के दान का उल्लेख है। सहजपाल का समय वि० सं० १२०३ के निकट आता है।

इनके अतिरिक्त, मंडोर के जिस बगीचे का उल्लेख पहले किया जा चुका है उसमें जोधपुर के राठोड़ नरेश राव मालदेव (वि० सं० १५८८—१६१९) से लेकर महाराजा अजितसिंह (वि० सं० १७६३—१७८१) तक के देवल (स्मारक) भी दर्शनीय हैं। इसी प्रकार यहाँ पर दो दालान भी बने हुए हैं। इनमें से एक में देवियों की और अश्वारूढ़ वीरों की तथा दूसरे में देवताओं की बड़ी बड़ी मूर्तियाँ पहाड़ काटकर बनाई गई हैं। परंतु इस समय इन मूर्तियों पर चूने का पलस्तर चढ़ा हुआ है और रंग का काम भी किया हुआ है। इनमें वीरों की मूर्तियोंवाला दालान वि०सं० १७७१ में महाराजा अजितसिंह ने और देवताओंवाला उनके पुत्र महाराजा अभयसिंह (वि० सं० १७८१—१८०६) ने बनवाया था।

———

मिश्रबंधुविनोद की भूलें

[श्री अगरचंद नाहटा]

हिंदी साहित्य के इतिहास की सबसे अधिक सामग्री एक साथ संकलित करने का श्रेय मिश्रबंधुओं को है। काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज के विवरणों एवं अन्य प्राप्त साधनों का अध्ययन एवं आलोड़न करके उन्होंने 'मिश्रबंधुविनोद' नामक ग्रंथ चार भागों में प्रकाशित किया। हिंदी साहित्य के संबंध में सबसे अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिये आज भी इसकी उपयोगिता एवं उपादेयता निर्विवाद है; क्योंकि हिंदी साहित्य के इतिहास के नाम से जितने ग्रंथ अद्यावधि प्रकाशित हुए हैं, सबका मुख्य आधार यही ग्रंथ है। हमारे अन्य इतिहास-ग्रंथों में केवल चुने हुए कवियों एवं ग्रंथों का ही निर्देश है किंतु इसमें, वे जितने भी प्राप्त हो सके, सब विस्तृत रूप में संगृहीत है; इसलिये इसका महत्त्व और भी अधिक है। यह कहना अनुचित न होगा कि मूल सामग्री के संबंध में हमारे पिछले इतिहासकारों ने स्वतंत्र शोध करने का श्रम बहुत कम उठाया और वे अन्य लेखकों पर ही अधिक निर्भर रहे। फलतः बहुत से ऐसे कवियों और ग्रंथों का उल्लेख उनमें आया ही नहीं जिनका होना परम आवश्यक था; और कितने ही ऐसे कवियों और ग्रंथों का उल्लेख कर दिया गया जिनका कोई महत्त्व नहीं। अर्थात् कई बड़े बड़े कवियों और महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का तो हमारे इतिहास-लेखकों को पता तक नहीं, और जिनके केवल दो-चार पद्य ही उपलब्ध हैं उनका निर्देश कर दिया गया है। यही नहीं, कई ऐतिहासिक अशुद्धियाँ और भद्दी भूलें जो 'शिवसिंहसरोज' और 'मिश्रबंधुविनोद' में पाई गईं, आजतक ज्यों की त्यों चली आ रही हैं; क्योंकि लेखकों ने ग्रंथों को न स्वयं देखा न उनके संबंध में कोई खोज-जाँच की। हिंदी साहित्य के लिये यह गौरवास्पद नहीं है।

हमारे साहित्य के इतिहास-ग्रंथों का प्रधान स्रोत मिश्रबंधुविनोद बहुत परिश्रम से संकलित किए जाने पर भी उसमें बहुत सी अशुद्धियाँ रह गई हैं। यद्यपि इस ग्रंथ का अच्छा आदर हुआ और इसके तीन-तीन संस्करण भी प्रकाशित हुए, किंतु बाद के संस्करणों में भी इनका संशोधन नहीं किया गया। अतः बिना जाँच के

उसे आधार मानते चलने से भूलों और भ्रांतियों की परंपरा बढ़ती चलेगी। इस कारण आज इस ग्रंथ का भलीभाँति संशोधन आवश्यक है। यह कार्य जितना उत्तरदायित्वपूर्ण है उतना ही श्रमसाध्य भी।

यहाँ इन अशुद्धियों के संबंध में यह कह देना आवश्यक है कि इनके लिये संपूर्ण रूप से मिश्रबंधुओं को ही उत्तरदायी समझना उचित नहीं, क्योंकि उन्होंने मुख्य रूप से काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित पुस्तकों के खोज-विवरणों एवं शिवसिंहसरोज का सहारा लिया है, और 'विनोद' में भूलें इन ग्रंथों से ही आई हैं। परंतु इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि इन ग्रंथों का आधार लेने के पूर्व इनकी जाँच-पड़ताल कर लेना आवश्यक था।

हिंदी साहित्य के वीरगाथा-काल पर विचार करते हुए मैंने अपने 'वीर-गाथा काल की रचनाओं पर विचार'[1] शीर्षक लेखमें मिश्रबंधुविनोद में उल्लिखित उस काल के ग्रंथों के संबंध में चर्चा की थी और इस ग्रंथ को शताधिक भूलों के संबंध में स्वतंत्र लेख में विचार करने का संकेत किया था, किंतु समय और आव-श्यक साधन के अभाव में तद्विषयक लेख पूर्ण न हो सकने के कारण प्रस्तुत लेख में केवल साधारण रूप से दृष्टि में पड़नेवाली भूलों पर ही प्रकाश डाला जा रहा है। अभी यह कार्य अपूर्ण ही है और एक व्यक्ति से पूरा होने वाला भी नहीं, अतः भिन्न-भिन्न कवियों, ग्रंथों एवं धाराओं के संबंध में विवेचना उनके संबंध में विशेष ज्ञान रखनेवाले अधिकारी विद्वानों द्वारा ही होना सर्वथा उचित है।

'विनोद' की भूलों पर विचार करने के पूर्व यहाँ कुछ आवश्यक बातों का उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है, जिनपर आगामी संस्करण में संशोधन और परिवर्तन के समय ध्यान रखा जाना उपयोगी होगा।

(१) जब प्राचीन हिंदी ग्रंथों की खोज का कार्य आरंभ हुआ था उस समय गुजराती और राजस्थानी को भी इसी भाषा के अंतर्गत मान कर, अथवा तथाविध परीक्षण के अभाव के कारण, इन भाषाओं के ग्रंथों एवं कवियों का भी विवरण संगृहीत कर लिया गया था। प्रारंभिक कार्य की दृष्टि से यह अनुचित नहीं था, किंतु आज इन दोनों भाषाओं के साहित्य की स्वतंत्र खोज हो रही है। गुजराती साहित्य के तो स्वतंत्र इतिहास-ग्रंथ प्रकाशित भी हो चुके हैं और राजस्थानी साहित्य का इतिहास भी तैयार हो रहा है। अतः अब आवश्यक है कि भाषा की दृष्टि

१—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ४७ अंक ३-४

से छाँटकर विनोद में केवल हिंदी भाषा के ही ग्रंथों का निर्देश किया जाय। यदि अन्य ग्रंथों को रखा भी जाय तो स्वतंत्र प्रकरण में।

(२) इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि कवियों की रचनाओं के उद्धरण, खोज में वे जिस काल की पाई जायँ उसी काल की भाषा के उद्धरणों के साथ दिए जायँ; केवल टिप्पणी में शुद्ध समय का संकेत कर देना पर्याप्त नहीं।[२]

(३) प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों का विवरण लेना बहुत सहज काम नहीं है और साधारण लेखकों के लिये यह संभव नहीं कि वे सभी ग्रंथों का शुद्ध विवरण ले सकें। अतः उनपर निर्भर न रहकर यह आवश्यक है कि ग्रंथ-संग्रहालयों[३] में स्वयं जाकर ग्रंथों का निरीक्षण करके इतिहास-लेखक विद्वानों द्वारा पूर्व विवरण शुद्ध किए जायँ तथा नवीन प्राप्त ग्रंथों के विवरण भी जोड़े जायँ।

(४) 'विनोद' में कौन सी बात किस आधार पर लिखी गई, इसका उल्लेख नहीं किया गया है। इस बृहद् ग्रंथ को प्रामाणिक बनाने के लिये आधारभूत निर्देश पद पद पर दिए जाने चाहिएँ जिससे आवश्यकता पड़ने पर मूल आधार की जाँच की जा सके।

इस ग्रंथ के परिशिष्ट में केवल कवियों की अनुक्रमणिका दी गई है, परंतु उसके साथ ग्रंथों की अनुक्रमणिका का होना भी अत्यंत आवश्यक है।

(३) मिश्रबंधुविनोद के चतुर्थ भाग में आधुनिक लेखकों और कवियों का परिचय दिया गया है। कुछ अधिकारी विद्वानों के कथनानुसार इस भाग

२—यथा श्री राहुल सांकृत्यायन की "हिंदी काव्यधारा" में गोरखनाथ का समय ई० ८४५ मानकर उनके नाम से उपलब्ध रचनाओं का उद्धरण दिया गया है और टिप्पणी में लिखा है कि गोरखबानी की भाषा नवीं सदी नहीं, पंद्रहवीं-सोलहवीं की है। इसी प्रकार बारहवीं शताब्दी में पृथ्वीराजरासो के वर्तमान रूप के उद्धरण देकर टिप्पणी में उसे "सोलहवीं शताब्दी से पहले का नहीं" माना गया है।

३—देश में अब हस्तलिखित पुस्तकों के अनेक संग्रहालय हैं। काशी नागरीप्रचारिणी सभा में तो अच्छा संग्रह है ही, प्रयाग म्युनिसिपल म्युजियम में चौदह हजार पुस्तकें हैं। विद्याविभाग (काँकरौली), भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, रॉयल एशियाटिक सोसायटी, गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी तथा फॉर्बस् गुजराती सभा में भी बहुत से हस्तलिखित ग्रंथ हैं। इनमें कई के सूचीपत्र भी प्रकाशित हैं। इन सबका तथा अन्य प्राप्य साधनों का समुचित उपयोग होना चाहिए।

में भी बहुत सी त्रुटियाँ हैं, परंतु आधुनिक काल के संबंध में लेखक का विशेष अध्ययन न होने के कारण प्रस्तुत लेख में केवल तीन ही भागों की त्रुटियों पर विचार किया गया है।

(६) वीरगाथा-काल की रचनाओं पर यद्यपि लेखक द्वारा पहले भी विचार किया जा चुका है[४] तथापि 'विनोद' की आलोचना के प्रसंग में जो नवीन ज्ञातव्य प्राप्त हुए, उनपर भी संक्षेप में यहाँ प्रकाश डाला गया है।

(७) अलग अलग एक-आध रचनाओं के संबंध में 'विनोद' की भूलों पर विचार पहले भी कई विद्वान् कर चुके हैं, परंतु यह संभव है कि लेखक को उन सबकी सूचना न होने के कारण उनका समुचित उल्लेख इस लेख में न हो सका हो।

अब भूलों का निर्देश और विवेचन 'विनोद' की पृष्ठ-संख्या सहित नीचे किया जाता है। इसमें भूलों की क्रम-संख्या के बाद ही पृष्ठ-संख्या दी गई है। उसके बाद के कोष्ठक में दी हुई संख्या कवि की नाम-संख्या है।

'विनोद' भाग १ (तृतीय संस्करण)

(१) पृष्ठ ९९, २००—हिंदी भाषा की उत्पत्ति का समय संवत् ७०० के लगभग माना गया है और पुंड या पुष्य[५] को जिसका समय संवत् ७७० दिया है, हिंदी का पहला कवि लिखा गया है। ये दोनों ही बातें शुद्ध नहीं हैं। लेखक के नम्र मतानुसार उस काल में अपभ्रंश भाषा ही सर्वसाधारण की सामान्य भाषा थी जिसका प्रचार प्रायः समस्त उत्तरी भारत में था। उसी भाषा से आधुनिक प्रांतीय भाषाओं का विकास हुआ है, अतः उसे ऐसी प्रत्येक प्रांतीय भाषा का प्राचीन रूप या मूल कहा जा सकता है। इस कारण जब से हिंदी का रूप अन्य भाषाओं से कुछ भिन्न रूप में विकसित देखा जाय, वही समय हिंदी की उत्पत्ति का ठीक समय माना जाना चाहिए। अतः यह आवश्यक है कि अपभ्रंश से विकसित प्रांतीय भाषाओं के प्राचीन रूपों का तुलनात्मक अध्ययन कर हिंदी का

४—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ४४, अंक ४

५—श्री राहुल सांकृत्यायन के "हिंदी काव्यधारा" ग्रंथ में हिंदी का प्रथम कवि सरहपा को तथा उसका समय वि० सं० ८१७ माना गया है। पुंड या पुष्य पहला कवि न सही, पर हिंदी का उत्पत्ति-काल इनके अनुसार भी लगभग वही आ बैठता है।

विशेषता, नवीनता तथा अन्य भाषाओं से उसकी विभिन्नता की परीक्षा करके उसकी उत्पत्ति के समय का निश्चय किया जाय।

पृष्ठ २०० पर लिखा है—"राजा मान सं० ७७० में अवंती में अच्छे संस्कृत काव्यवेत्ता थे। उनके यहाँ पुंड अथवा पुष्य वंदीजन ने दोहों में अलंकार ग्रंथ बनाया।"

पुंड या पुष्य नामक किसी हिंदी कवि की किसी भी रचना का पता आज तक नहीं चला है। ऐसी अवस्था में उसे हिंदी का पहला कवि तथा उसका समय सं० ७७० मानते चलना किसी प्रकार उचित नहीं। लेखक को जहाँ कहीं भी हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में पुष्य का नामोल्लेख मिला वहाँ वह अपभ्रंश के महाकवि पुष्पदंत को ही संकेत करता प्रतीत हुआ, जिसका वास्तविक समय कवि के निर्देशानुसार ही शक सं० ८८७ (वि० १०२२) निश्चित है। श्री हीरालाल जैन ने भी अपने 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य'[६] शीर्षक लेख में यही अनुमान किया है।

(२) १०२, २००—"सं० ८६० के लगभग किसी ब्रह्मभाट कवि ने खुमानरासा नामक ग्रंथ महाराजा खुमान की प्रशंसा में रचा।" परंतु इस ग्रंथ को जैन कवि दौलत विजय (दलपत) ने सं० १७३० और १७६० के मध्य बनाया, इस संबंध में विस्तृत रूप से विचार किया जा चुका है।[७] कुछ विद्वानों का यह मत है कि दलपत ने मूल ग्रंथ को ही परिवर्द्धित रूप दिया, पर इस कथन का भी कोई आधार नहीं है।

(३) १०२, १६६, २००—"भाग्यवश सं० १९७६ की खोज में भुवाल कवि-कृत भगवद्गीता नामक सं० १००० का रचा हुआ एक ग्रंथ मिला है जिसमें समय साफ दिया है।"

इसमें संवत् अशुद्ध पढ़ने के साथ साथ इसकी भाषा की अर्वाचीनता पर भी बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया, जो सतरहवीं शती की है। इसके विपरीत पृष्ठ २०० पर भुवाल की भगवद्गीता के संबंध में लिखा है--"इस ग्रंथ-रत्न से हिंदी भाषा के इतिहास की प्राचीनता निश्चयपूर्वक सिद्ध हुई है। कवि युक्तप्रांत का होने से

६—ना० प्र० प०, वर्ष ५०, अंक ३-४ पृ०, ११४

७—"खुमान रासो का रचनाकाल और रचयिता"—वही, वर्ष ४४, अंक ४

भाषा में राजपूतानी आदि के शब्द नहीं हैं जिससे भाषा में कुछ नवीनता का संदेह उठना संभव था। किंतु ग्रंथ में समय साफ दिया है और ध्यानपूर्वक देखने से भाषा भी असंदिग्ध है।" परंतु स्वर्गीय इतिहासज्ञ डा० हीरालाल ने अपने 'हस्त-लिखित हिंदी पुस्तकों की खोज'[८] शीर्षक लेख में बहुत पहले यह भलीभाँति सिद्ध कर दिया है कि भुवाल की भगवद्गीता का समय सं० १००० नहीं, प्रत्युत सं० १७०० है।

(४) १०२, २०१—सं० ११३७ वाले कालिंजर के राजा नंद को भी कवि माना गया है और पृष्ठ २०१ पर उसका समय सं० १०७५ लिखा है।

यह भी उल्लेख है कि उसने सुलतान महमूद को हिंदी में छंद लिखकर भेजा था। इसी प्रकार पृष्ठ १०२-२०२ पर लिखा है कि ११८४ से ११९६ तक महाराष्ट्र में कल्याणी नगर में चालुक्यवंशी सोमेश्वर नामक राजा हुआ। यह सर्वज्ञ भूप कहलाता था। इसने हिंदी में भी कविता की। वहीं पर सं० ११६० के लगभग मसऊद और कुतुबअली दो मुसलमान कवियों का उल्लेख है, यद्यपि पृष्ठ २०२ पर मसऊद का समय ११८० के लगभग लिखा है।

उपर्युक्त तीनों उल्लेखों का कोई भी आधार आज तक ज्ञात नहीं है। नंद, सोमेश्वर, मसऊद और कुतुबअली में से किसी की रचना की एक भी पंक्ति उपलब्ध नहीं है। अतः बिना प्रमाण के ही इन्हें लेकर केवल संख्या बढ़ाते चलना उचित नहीं प्रतीत होता। हाँ, भविष्य में प्रमाण मिल जाने पर इनका उल्लेख करने में कोई बाधा नहीं।

(५) १०२, २०४—संवत् ११९१ में साईंदान चारण ने समतसार ग्रंथ बनाया।

इस ग्रंथ का नाम समंतसार नहीं, प्रत्युत संमत (संवत्) सार है और इसमें भड्डरी की भाँति वर्षा-संबंधी फलाफल का निर्देश है। इसकी रचना उन्नीसवीं शताब्दी की होने के विषय में मैंने अपना अनुमान पाँच वर्ष पूर्व प्रकट किया था[९], किंतु अब पूने के भंडारकर इंस्टीट्यूट से इसकी हस्तलिखित प्रति मँगवा कर इसके संबंध में अंतिम निर्णय भी कर लिया है। इसके द्वारा रचना-काल ११९१ नहीं, १८९१ निश्चित होता है। यहाँ उक्त प्रति से आवश्यक अंश उद्धृत किए जाते हैं,

८—ना० प्र० पत्रिका, भाग ७ अंक ३, पृ० २९७-९८

९—ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ४४ अंक ४।

जिनसे स्पष्ट होगा कि 'विनोद' में भूल इसके संवत् 'अष्टादस अकाणवै' के 'एकादस अकाणवै' पढ़े जाने के कारण हुई है। जिस खोज-विवरण अथवा हस्तलिखित प्रति के आधार पर ११९१ लिखा गया उसमें लिखने की अशुद्धि रह जाना असंभव नहीं, परंतु ग्रंथ की भाषा पर भी तो विचार करना चाहिए था।

संमतसार

श्री गणेशाय नमः। अथ संमतसार लिख्यते ॥

छप्पय—कनक क्रीट मणि जटत हेमश्रुति कुण्डल सोभित।
बदन प्रभा सुभ सदन रद्दन रवि जनौ औपित।
भुज विसाल सीसभाल भाल गल मोतिन विराजत।
मनोहर चाल मुराल लालपद नूपुर बाजित।
रिद्धिसिद्धि रसाल मम दीजिए सकल मनोरथ सिद्धिबर।
गौरीनंद हरिमंद बुध्य कर उदय बोध आनंद उर ॥१॥*

× × ×

मेघमाल सासत्र को अरु जोतस की तंत।
जिन देखत आगम कथै संमतसार ये ग्रंथ ॥६॥

× × ×

इति श्री संमतसार ग्रंथे मेघमाला अनुसारेण भाषा कवि साईंदान विरचिते कार्तिकफल कथनो नाम प्रथमो उपदेस ॥१॥

× × ×

मेघमाल मथि कै रच्यौ द्वादस मास विधान।
संमतसार इस ग्रंथ को कह्यो कवि साईंदान ॥१२॥

---

* भाषा की तोड़-मरोड़ और छंदोभंग लिपिकार के कारण है। यथा इस छप्पय में, जिसका मूल रूप इस प्रकार रहा होगा—

कनक क्रीट मनिजटित हेमस्रुति कुंडल सोभित।
बदन प्रभा सुभ सदन रदन रवि जानौ ओपित ॥
भुज बिसाल ससि भाल माल गल मोतिन राजत।
मनहर चाल मराल लाल पद नूपुर बाजत ॥
रिधि सिधि रसाल मम दीजिए, सकल मनोरथ सिद्धिवर।
गौरी नंदन हरि मंद बुधि उदय बोध आनंद उर ॥

—सं०।

उतन आदपुर वाटको वसिबो सरसि सुथान।
गोत्र सिलगा जानिए गिरधर पिता बखान ॥१३॥
कविजन पिंडतईया (?) खिमा करो सब संत।
जथा सकति मोमति लघु भाख्यो भाषा ग्रंथ ॥१४॥
संमत अष्टादस अकाणवै मधुसूदन है मास।
नरहरि चौदसि वार बुध कीनौ ग्रंथ प्रकास ॥१५॥
संमतसार इस ग्रंथ कौ पढ़ै गुनै नर कोय।
अगम कथै सो ही पुरुष जगत महाजस होय ॥१६॥
संमतसार इन ग्रंथ को कियो कवि उनमान।
श्लोक गुन सत पंच नव ग्रंथाग्रंथ प्रमान ॥१७॥
इति श्री संमतसार ग्रंथ संपूर्णम् ॥

(पत्र ४३ पं० ९ अ० १८। भां० रि० इं० सं० $\frac{४४४}{१८९५-९८}$)

(६) १०२, २०४–"अकरम फैज ने १२०५ से १२६८ पर्यंत वर्नमाल नामक ग्रंथ रचा तथा वृत्तरत्नाकर का भाषानुवाद किया। यह कवि जयपुर-नरेश के यहाँ था।"

अभी तक उक्त ग्रंथों के अनुवाद तो देखने में नहीं आए, न उनके उल्लेख के आधार का ही यहाँ निर्देश है, परंतु पृ० २०४ पर कवि के आश्रयदाता जयपुर-नरेश महाराजा माधवसिंह का उल्लेख है, अतः इसका समय अठारहवीं शताब्दी स्वतः सिद्ध हो जाता है।

(७) पृ० १०३, २०७—कवि चंद और उनकी कृति पृथ्वीराजरासो के संबंध में अनेक बार विद्वानों द्वारा मत प्रकट किए जा चुके हैं,[१०] अतः यहाँ चर्चा अनावश्यक है।

(८) १०४, २०६—"महोबे का जगनिक चंद का समकालीन था। कहते हैं

१०—इस संबंध में निम्नलिखित लेख भी द्रष्टव्य हैं—
१—पृथ्वीराज रासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ—'राजस्थानी', वर्ष २ अंक २
२—पृथ्वीराज रासो की एक महत्वपूर्ण प्रति—'विशालभारत', जून १९४३
३—पृथ्वीराज रासो का रचना-काल—वही, दिसंबर १९४६

कि उसने सबसे पहले आल्हा की रचना की जो अब तक ठौर ठौर ग्रामों में गाया जाता है। पर इस समय के आल्हा में जगनिक का शायद एक शब्द भी नहीं मिलता, केवल ढंग उसका है।"

ग्राम ग्राम में गाए जाने के कारण यह सर्वथा संभव है कि उसकी भाषा आदि में अत्यधिक परिवर्तन हो गया हो, परंतु उसमें मूल का कुछ भी न रह जाय, यह एक तो असंभव प्रतीत होता है, दूसरे यदि ऐसा हुआ ही हो तो फिर उसे जगनिक की रचना या 'उसी का ढंग' कहने का आधार क्या ?

(९) १०४,२०६—केदार तथा बारदर वेणा, इन दोनों कवियों की किसी भी रचना का यहाँ निर्देश नहीं है, न उल्लेख का आधार ही बताया गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भट्ट केदार के जयचंद्रप्रकाश के रचे जाने का उल्लेख दयालदास की ख्यात में बतलाया है, परंतु वहाँ उल्लेख मात्र ही है, ग्रंथ का पता नहीं है। अतः इसके संबंध में कुछ निर्णय नहीं किया जा सकता।

बारदर वेणा का तो अभी तक कहीं उल्लेख भी नहीं मिला, नाम भी गलत मालूम होता है।❀

(१०) १०४,१६७,२१५—सं० १२०० में "मोहनलाल द्विज ने पत्तरिन नामक ग्रंथ रचा।"

इस भ्रांति का निरसन भी डा० हीरालाल ने पूर्वोल्लिखित भुवाल की रचना के प्रसंग में ही कर दिया है।[११] वास्तव में इसका समय १८०० है, 'ठारह' को 'बारह' पढ़ने से यह भूल हुई है।

(११) १०४,२१६—"कुमारपालचरित्र की रचना १३०० के लगभग हुई थी", यह उल्लेख सोमप्रभसूरि रचित कुमारपालप्रतिबोध के लिये ही जान पड़ता है, परंतु वह हिंदी में न होकर प्राकृत में है। अपभ्रंश के कुछ संदर्भ उसमें अवश्य पाए जाते हैं, पर उसका संबंध हिंदी से कम, गुजराती से अधिक है। इस ग्रंथ का रचनाकाल सं० १२४१ है और यह गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज से प्रकाशित भी है।

(१२) १०५, १६७, २२३—"संवत् १३५४ में नरपति नाल्ह ने बीसलदेव रासा बनाया।" पृ० २२३ पर इस संवत् के विषय में लिखा है—"नरपति नाल्ह ने

❀ बारदर 'बारहट' तो नहीं है ?—सं०।

११—ना० प्र० पत्रिका, भाग ७, अंक ३.

इसका समय १२२० लिखा है पर जो तिथि उन्होंने बुधवार को ग्रंथ-निर्माण की लिखी है वह १२२० शाके में पड़ती है।" परंतु नरपति नाल्ह ने १२२० कहाँ लिखा है यह अज्ञात है। कई प्रतियों में १२१२ या १२७२ अवश्य मिलता है जिनमें तिथि-गणना के हिसाब से श्री गौरीशंकर ओझा ने पिछले को ही ठीक माना है।"

इस रचना की सं० १६६९ से पहले की कोई प्रति प्राप्त नहीं है। भाषा की दृष्टि से यह सोलहवीं शताब्दी की जान पड़ती है।"

१३—१०५,२२४—"१३५५ के लगभग नल्लसिंह ने विजयपाल रासा रचा।" विजयपाल रासा की रचना सं० १३५५ में मानने का कोई आधार नहीं है, और न इसकी पूरी प्रति ही अभी तक उपलब्ध हुई है। मुंशी देवीप्रसाद की कवि-रत्न-माला (भाग १, पृ० २२) तथा "विशाल भारत" (अक्टूबर, १९४४) में "महाराज विजयपाल और उनका रायसा" शीर्षक लेख में प्रकाशित इसकी भाषा के उद्धरणों से इसका समय सतरहवीं शती के बाद का ही निश्चित होता है।

१४—१०५, २२५ (१८)—"संवत् १३५७ में शार्ङ्गधर कवि ने हमीरकाव्य, हमीररासा और शार्ङ्गधरपद्धति बनाई।"

जहाँ तक ज्ञात है शार्ङ्गधर ने हिंदी में कोई ग्रंथ नहीं रचा। श्रीरामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि इनके कुछ पद्य पिंगलसूत्र में मिले हैं, परंतु पिंगलसूत्र में के पद्य शार्ङ्गधर के नहीं, जज्जल के हैं जो श्री राहुल सांकृत्यायन की "हिंदी काव्यधारा" में प्रकाशित हुए हैं। ये पद्य हम्मीररासो के हैं, यह केवल अनुमान है। ये फुटकर प्रासंगिक पद्य के रूप में ही पाए जाते हैं।

१५—१०५, २२६ (१९)—"इसी समय अमीर खुसरो ने तत्कालीन प्रचलित हिंदी में कविता की और खड़ी बोली में भी। खड़ी बोली के प्रथम कवि खुसरो ही कहे जा सकते हैं।" खुसरो के नाम से प्रसिद्ध रचनाओं की भाषा उस काल

१२—बीसलदेव रासो का निर्णय-काल, ना० प्र० प०, भाग ४५ अंक २

१३—द्रष्टव्य–(क) बीसलदेव रासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ
—"राजस्थानी" वर्ष ३, अंक २

(ख) बीसलदेव रासो के संबंध में कुछ नवीन ज्ञातव्य
—"साहित्य संदेश", भाग ८, अंक ३

की दृष्टि से नितांत संदिग्ध है; अतः जब तक कोई प्रमाणिक प्राचीन प्रति न प्राप्त हो, तब तक उक्त कथन मान्य नहीं हो सकता।

१६—१०५, २२७—"मुल्ला दाऊद ने १३८५ में नूरकचंदा की प्रेम कहानी लिखी।" मेरे मित्र श्री रावतमल सारस्वत को इसकी जो प्रति मिली है उसके अनुसार इसका नाम 'चंदायन' तथा इसका रचना-काल हि० ७८१ है। इसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"बरस सात सै होइ एक्यासी। तिहि याह कविसर सेउ भासी॥
साहि पीरोज ढिली सुलताना। जौना साहि जीत बखाना॥
दल्यौ नयरु बसे नवरंगा। उपरि कोट तले बहे गंगा॥

हि० ७८१ का वि० वर्ष १४३१ होता है; यही उसका रचना-काल होगा, १३८५ नहीं। फीरोजशाह का समय भी पंद्रहवीं शती है।

१७—१७७, २४६ (४५)—"१५३७ में चरणदास ने ज्ञानस्वरोदय ग्रंथ बनाया।" यह भूल शिवसिंहसरोज के अनुकरण के कारण हुई है। अन्यथा 'विनोद' के ही दूसरे भाग में पृ० ६०१ पर चरणदास का जन्म १७६० और मृत्यु १८३८ में लिखित है।[१४] ज्ञानस्वरोदय में इसका समय १८१७ बतलाया गया है।

१८—११६, ३६५—"लालचंद (१६४३) ने हिंदी में पहला इतिहास-ग्रंथ बनाया।" इसमें ग्रंथ और उसके रचयिता दोनों का नाम शुद्ध नहीं है। 'विनोद' के ही पृष्ठ ३६५ पर लालदास रचित इतिहाससार (१६४३) का उल्लेख है। यथार्थ में यह महाभारत का पद्यानुवाद है और कर्ता लालदास ही हैं।

१६—११८, १६१, ४०७—"जटमल खड़ी बोली गद्य का द्वितीय लेखक है। इसने गोरा-बादल की कथा नामक ग्रंथ में उसी का प्राधान्य रखा है।" जटमल की 'गोरा बादल की कथा' वस्तुतः गद्य में नहीं, पद्य में है और उसका रचना-काल सं० १६८० नहीं, १६८६ है।[१५]

१४—हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण (नागरीप्रचारिणी सभा; पृ० ४३) में भी यही उल्लेख है।

१५—द्रष्टव्य—

(क) कविवर जटमल नाहर और उसके ग्रंथ ("हिंदुस्तानी", भाग ८, अंक २)

(ख) जटमल रचित गोराबादल कथा (ना० प्र० पत्रिका, भाग १४, अंक ४)

(ग) कुँए भाँग ("विशाल भारत", वर्ष १२, अंक ६)

२०—१३०—"भूधरदास एक प्रसिद्ध जैन कवि थे। इन्होंने साधारण ग्रंथों के अतिरिक्त पुष्पपुराण नामक एक जैन पुराण की भी रचना की।" इसमें 'पुष्पपुराण' नाम अशुद्ध है, 'पार्श्वपुराण' होना चाहिए जिसकी रचना सं० १७८६ में होने का उल्लेख 'विनोद' के द्वितीय भाग में पृ० ५६८ पर हुआ है।

२१—२१५ (१२/१) में अनन्यदास का कविता-काल १२७५ के पूर्व लिखा है परंतु पृ० २०७ पर इनके अत्तर अनन्य होने का उल्लेख है जिनका समय हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के विवरण के अनुसार सं० १७७० से १७५४ तक है। अतः यहाँ '१२७५ के पूर्व' कविता-काल लिखना निरर्थक है।

२२—२१६ (१३/१)—कवि का नाम उसकी कृति में धम्म (धर्म) ही है, धर्मसूरि नहीं।[१६]

२३—पृ० २३० (२१/४)—सिद्धसूरि रचित शिवदत्तरास १४२३ का बतलाया गया है किंतु इसकी रचना १६२३ में हुई। इसका अपर नाम 'प्रापतीयानो रास' भी है।[१७]

(२१/५)—कलिकाल रास का समय १४२६ नहीं १४८६ है।[१८]

२४—२६५ (५३/१)—अजबेश भट्ट को सं० १५७० में जोधपुर के राजा वीरभानु का आश्रित लिखा गया है, परंतु जोधपुर में इस नाम के कोई राजा हुए ही नहीं। अतः यह अशुद्ध है। पृ० ३४१ पर वीरभानुसिंह को रीवाँ-नरेश लिखा है और रचना-काल १६०० दिया है। ह० हिं० पु० विवरण के अनुसार एक ही अजबेश रीवाँ-नरेश जयसिंह तथा विश्वनाथसिंह के आश्रित, सं० १८६२ के लगभग हुए। 'विनोद' में इनके ग्रंथ का नाम नहीं दिया है, पर विवरण में 'बघेलवंश वर्णन' तथा 'बिहारी-सतसई की टीका' का निर्देश है। सं० ६६ में फिर इन्हीं का निर्देश है।

१६—इस काल के अन्य जैन कवियों के लिये द्रष्टव्य—

'वीरगाथा काल का जैन साहित्य' शीर्षक लेख (अगरचंद नाहटा; ना० प्र० प०, भाग ४०, अंक १-२)

१७—जैन गुज्जर कविओ, भाग ३ पृ०, ६७८-८०

१८—वही, पृ० ४२१

२५—३१६(९२/२)—ढोलामारू की चौपाई के कर्ता का नाम हरराज अशुद्ध है। इसका रचयिता जैन कवि कुशललाभ है। हरराज के लिये तो इसकी रचना हुई थी। हरराज को यादवराज का आश्रित लिखा है; किंतु वास्तव में जैसलमेर के राजकुमार हरराज ही, जिसके लिये इसकी रचना हुई, यादवराज (यदुवंशी) थे।

२६—३१७(७६)—अकबरी दरबारवाले टोडरमल की रचना का जो उद्धरण दिया गया है वह वास्तव में उनका नहीं, जैन विद्वान् टोडरमल (उन्नीसवीं शती-पृ० ७६६ नं० ६०६) की आत्मानुशासन-टीका के मंगलाचरण का पद्य है।

२७—३२८ (८२)—पृथ्वीराज रचित कृष्णरुक्मिणीवेलि और कृष्ण-रुक्मिणी-चरित्र को दो भिन्न रचनाएँ माना गया है, वास्तव में दोनों एक ही हैं। रचना-काल भी १६१७ नहीं, १६३८ है।

२८-३३६ (९९/१)—मुनि आनंद (सं० १५६२) रचित 'विक्रमवापर चरित्र' का उल्लेख है, परंतु ग्रंथ के नाम में 'वापर' की जगह 'खापर' चाहिए। इसे राजशील ने १५६३ में बनाया। मुनि आनंद का इसी संवत का '२४ जिनस्तवन' अवश्य उपलब्ध है।

२९—३४० (६३)—सहजसुंदर रचित 'रत्नसागर' ग्रंथ-नाम अशुद्ध है, वह 'रत्नसार' होना चाहिए।

३०—३४२ (१०६)—हरिराय (वल्लभी) के ग्रंथों में ढोलामारू की वार्ता का भी नाम है, पर जैसा पहले कहा जा चुका है, यह कुशललाभ की रचना है।

३१—३४५ (१२०/१)—रायमल पांडे पृ० ३४३ नं०११४ वाले ही हैं, भिन्न नहीं। केवल भ्रम से ही दो बार निर्देश हुआ है। इस प्रकार की भूलें अनेक हैं।

३२—३४६ (१२६)—रामविनोद के कर्ता का नाम रामचंद्र मिश्र और रचना-काल १६२० बताया गया है, जो अशुद्ध है। स्थान का नाम भी 'भेहरा' के स्थान पर 'सेहरा' लिखा है। यथार्थ में रामविनोद के कर्ता रामचंद्र जैन यति थे। ग्रंथ का रचना-काल १७२० है। [१९]

३३—३७३ (१८६) बनारसीदास की मोक्षपदी, ध्रुववंदना, कल्याणमंदिर भाषा, वेदनिर्णय पंचाशिका और मार्गनाविद्या (विधान) का बनारसीविलास

१९-द्रष्ट०—ना० प्र० पत्रिका, भाग ८ अंक ४ पृ० ४६५

से भिन्न रूप में उल्लेख है, परंतु वास्तव में ये सब बनारसीविलास के ही अंतर्गत हैं।

३४—३९० (१९४)—नारायण भट्ट का जन्म-काल १६२० नहीं, १५८८ वैशाख सुदी १४ है।[२०] विवरण में 'रामलीला' की जगह 'रासलीला' चाहिए।

३५—४०८ (२६३)—गुणसूरि का पूरा नाम गुणसागर सूरि है और उनका ग्रंथ 'ढोलासागर' नहीं 'ढालसागर' है।

जैन ग्रंथकारों तथा ग्रंथों के संबंध में इतनी अधिक अशुद्धियों के कारण का अन्वेषण करने पर ज्ञात हुआ कि दो चार ग्रंथों का उल्लेख तो खोज-विवरणों के आधार पर किया गया है और उनमें अशुद्धियाँ विवरण-लेखकों की भूल से हुई हैं, परंतु शेष सब का आधार श्रीपूर्णचंद्र नाहर का "प्राचीन जैन हिंदी साहित्य" तथा श्री नाथूराम प्रेमी का "हिंदी जैन साहित्य का इतिहास" हैं। इन निबंधों के लिखे जाने के समय जैन साहित्य का भलीभाँति अन्वेषण नहीं हुआ था, पर उसके बाद श्री मोहनलाल देसाई ने महत्वपूर्ण खोजें कर उनका परिणाम अपने 'जैन गुज्जर कविओ' (३ भाग) तथा 'जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास' ग्रंथों में प्रस्तुत किया है।

भाग २ (द्वि० सं०)

३६—४०८ (२६१)—"लूणसागर जैनी ने सं० १६८९ में अंजना सुरी संवाद रचा"। वस्तुतः कर्ता का पुण्यसागर और रचना का 'अंजना सुंदरी रास' है।

३७—४१६ (२९८)—केशवदास चारण के ग्रंथ का विवेकवार्ता नहीं विवेकसार निसाणी है।

३८—४२० (३०१)—हेमराज के ग्रंथों का रचना-काल १६८४ लिखा है, किंतु पंचास्तिकाय वचनिका सं० १७०९ में तथा नयचक्र वचनिका सं० १७२८ में लिखी गई। इसी हेमराज का नं० ३७८/१ में पुनः निर्देश है।

३९—४२४ (३२०)—सादेवदिच्छ सावलङ्गा का दूहा का कर्ता सदलवछ नहीं, केशव कीर्तिवर्धन है; और ग्रंथ का नाम भी 'सदयवछ सावलिंगा रास' है।

४०—४२७ (३४१)—रघुराम के ग्रंथों का रचना-काल सं० १७०१ अशुद्ध है। सभासार की प्रति में उसका रचना-काल १७५७ कवि ने स्वयं दिया है।

२०—"व्रज भारती", वर्ष ४ अंक ४,५,६

४१—४५६ (३७६)—राव रतन राठोर को कवि के नाम में लिखा है, परंतु वास्तव में ग्रंथ उनके संबंध में बना है। कवि का नाम कुंभकरन सांदु है।

४२—४५७ (३७७)—हरीराय कृत छंदरत्नावली आदि का समय १७०१ लिखा है, पर छंदरत्नावली में ही सं० १७६५ स्पष्ट लिखा हुआ है।

४३—४५७ (३६८/१)—हेमराज कवि नं० ३०१ में आ चुका है तथा ग्रंथ सं० ६-७, सितपट और चौरासी बोल, एक ग्रंथ का नाम है।

४४—४६४ (४१७)—जोधपुर के अमरसिंह को चंदकृत रासो की खोज और संकलन करानेवाला लिखा है, पर ये अमरसिंह जोधपुर के नहीं, उदयपुर के राना थे।

४५—४६६ (४२३)—रामचंद्र को साको बनारसवाले लिखना अशुद्ध है। ये जैन यति थे। इनका ग्रंथ, जैसा ऊपर आ चुका है (३२), रायविनोद नहीं, रामविनोद है। रामचंद्र पद्मराग के नहीं, पद्मरंग के शिष्य थे। बनारस यहाँ स्थान का नाम नहीं, प्रत्युत वाणारस वाचक जैन यतियों का पद-विशेष है।

४६—४९१ (४३७)-सुरसुंदरी प्रबंध के कर्ता विजयहर्ष नहीं, उनके शिष्य धर्मवर्धन (धर्मसी) थे।

४७—४९९ (४४९)—धना चौपाई के कर्ता जिनचंद्रसूरि नहीं, उनके आज्ञानुवर्ती कमलहर्ष थे।

४८—५०० (४५४)—मौनी जी नं० ४५२ वाले जनअनाथ ही हैं। विचारमाला टीका नहीं, प्रत्युत मूल ही है जो गद्य में है और जिसकी रचना १७२६ में हुई।

४९—५०५ (४७४/२)—भगवतीदास ने ६७ स्फुट छंद नहीं, प्रत्युत ६७ ग्रंथ बनाए हैं।

५०—५११ (५०३/१)—जिनहर्ष सूरि नं० ४४८/१ वाले जिनहर्ष ही हैं। ये सूरि नहीं थे।

५१—५१३ (५१३)—'हरखचंद साधु' नाम अशुद्ध है। ये ४४८/१ तथा ५०३/१ वाले जिनहर्ष ही हैं।

५२—५१७ (५३३/१)—सौभाग्यविजय आगरा-निवासी नहीं, भ्रमणशील

जैन साधु थे। जैन साधु कहीं के 'वासी' नहीं होते। भ्रमण में वे आगरे गए होंगे। तीर्थमाला में जैन तीर्थों का विवरण आगरे से प्रारंभ किया गया है।

५३-५२२ (५३३/२)—केवलराम रचित वाणी विलास का रचना-काल १७५६ के स्थान पर १८७५ होना चाहिए।[२१]

५४-५३२ (५४६)- आलम के संबंध में द्रष्टव्य-'आलम और उनका समय' शीर्षक लेख'।[२२]

५५—५५५ (५५५)—सूरत मिश्र की अमर-चंद्रिका जोधपुर के महाराजा अमरसिंह के नाम से नहीं, ओसवाल अमरचंद के लिये लिखी गई थी।

५६—६०० (६५२)—कृष्ण कवि की बिहारी-सतसई टीका का समय १७८५ के लगभग लिखा गया है, किंतु दिए गए उद्धरण में सं० १७८२ कार्तिक बदी १४ स्पष्ट दिया है।

५७—६२१ (७०४)—करणीदान के ग्रंथ का नाम विरदसीणसागर लिखा है, उसका यथार्थ नाम 'विड़द सिणगार' है।

५८—६९० (७६१)—बीरभानु को राजरूपक का कर्ता बताया गया है, पर इसके रचयिता का नाम रतनू चारण वीरभाण है। यह ग्रंथ काशी नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित हो चुका है।

५९—७६३ (८६५)—करनीदान के ग्रंथ का नाम 'पान वीरमदेन की बात' में 'पान' शब्द अशुद्ध है, 'पन्ना' होना चाहिए।* विवरण में रचयिता को स्त्री भ्रम से लिखा है, करनीदान तो पुरुष नाम है। ग्रंथ बीरमदे के संबंध में होने से उसी के नाम के कारण यह भ्रम हुआ है।

६०— ७७२ (९३८/१)—मानसिंह के संबंध में द्रष्टव्य—'बिहारी सतसई के के टीकाकार मानसिंह कबि कौन थे' शीर्षक लेख।[२३]

६१—७७६ (९५०/१)—लालचंद के ग्रंथ का नाम वारांगना-चरित्र लिखा है, वरांग-चरित्र होना चाहिए।

२१—फॉर्बस सभा हस्तलिखित ग्रंथ-नामावली, भाग १, पृ० १२

२२—ना० प्र० पत्रिका, भाग ५०, अंक १-२

* अनेक हस्तलिखीत ग्रंथों में 'पन्ना' को ही 'पांन' या 'पान' लिखा हुआ मिलता है। —सं०।

२३—ना०प्र०प०, वर्ष ४६, अंक १

६२—८३२ (१०६६/२)—क्षमाकल्याण रचित जीवविचारवृत्ति हिंदी में नहीं, संस्कृत में है।

६३—८३७ (१०९६/२)—कुशलचंद्रमणि का कुशलचंद्रगणि होना चाहिए। संभवतः यह अशुद्धि मुद्रण दोष-जन्य है। इस प्रकार की अनेक भूलें हैं।

भाग ३ (वि० १९८५)

६४—९५१ (१३२२)—कलस कवि का नाम नं० ५३५/१ में आ चुका है और और यहाँ भी समय सं० १७५९ लिखा है। तब इसे अज्ञातकालिक प्रकरण में रखने की क्या आवश्यकता हुई ?

६५—९६८ (१४१३)—गोपालसिंह कवि का नाम अपूर्ण है। तुलसी शब्दार्थ प्रकाश के कर्ता जयगोपालसिंह का पहले दो बार उल्लेख हो चुका है।

६६—९७७ (१४८६)—'दाक' नाम अशुद्ध है, 'डक्क' या 'डाक' होना चाहिए।

६७—९७९ (१५१४)—नकुल मूल संस्कृत ग्रंथ का कर्ता है।

६८—९८४ (१५४७)—ग्रंथ का नाम 'सिसमोध' अशुद्ध है, 'शिशुबोध' होगा।*

६९—९९३ (१६१६)—भीखजन की बावनी की श्लोक-संख्या ५०० संभव नहीं है, ५२ से ही कुछ न्यूनाधिक होगा।

७०—१०११ (१७६९)—ग्रंथकार हरराज नहीं, कुशललाभ है (२५, ३०)। ढोलामारू वानो और चौपही दो पृथक् ग्रंथ नहीं, प्रत्युत एक ही हैं। शुद्ध नाम 'ढोलामारू की चौपाई' है। रचना-काल १६१७ है। इस ग्रंथ का निर्देश नं० ७२/१ में भी हो चुका है।

७१—१०१२ (१७७८)—हेमकवि चारण नहीं, जैन यति थे। इनका समय उन्नीसवीं शताब्दी है।

७२—११४० (२०२३)—अजबेश का उल्लेख का पहले भी २८३१/१ में हो चुका है। वहाँ कविता-काल १८९२ दिया है किंतु यहाँ १९१०; पता नहीं कौन सा ठीक है।

७३—११५२ (३११६/१)—नाथूलाल दोसी के ग्रंथों के नाम के अनंतर 'जैन संप्रदाय की स्त्री थीं' लिखने का क्या तात्पर्य ? क्या नाथूलाल दोसी स्त्री का नाम है?

---

* हस्तलिखित पुस्तक में 'शिशुबोध' को 'सिसमोध' लिखा होना संभव है।—सं०

प्रागैतिहासिक लाट देश

(श्री कृष्णटोपणलाल शर्मा जेतली)

सिंधु प्रांत में लाड़काना नाम का एक प्रसिद्ध नगर है। सिंधी भाषा में इसका उच्चारण 'लाड़काणो' है। सिंधु में इसके विषय में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। जैसे—

१—"सूँह त शिकारपुरि'जी लोद'त लाड़काणे जी।" अर्थात् यदि स्त्री-सौंदर्य देखना हो तो शिकारपुर में जाना चाहिए और लोद (= लटक-मटक, हाव-भाव) देखने की इच्छा हो तो लाड़काने जाना पड़ेगा।

२—"हुजेई गंढि में नाणो त घुमु लाड़काणो"। अर्थात् गाँठ में पैसा हो तो फिर लाड़काने की सैर करनी चाहिए। इत्यादि।

हमारे सिंधी के उस्ताद स्वर्गीय प्रोफेसर जेठमल परशुराम गुलराजाणी के कथनानुसार किसी समय में लाड़काने की स्त्रियाँ अपने प्राकृतिक सौंदर्य, शृंगार तथा हाव-भाव आदि के लिये बहुत प्रसिद्ध थीं, इसी कारण उनके विषय में उपर्युक्त कहावतें चल पड़ीं।

लाड़काना नाम तथा इस नामवाले उक्त नगर के विषय में इस प्रकार की बातें सुनने और विचार करने से लेखक के मन में समय समय पर अनेक कल्पनाएँ उठती रहीं और यह धारणा दृढ़ होती गई कि हो न हो, यह लाड़काना ही वास्तविक लाट देश है। परंतु पुरातत्त्व संबंधी ग्रंथों में खोज करने पर एतद्विषयक कोई दृढ़ प्रमाण नहीं मिला। हाँ, अनुसंधान के लिये सूत्र अवश्य मिल गया।

१—शिकारपुर लाड़काना के उत्तर में प्रसिद्ध नगर है। किसी समय लाड़काना प्रदेश का नाम चांडिको था, तब शिकारपुर इसके अंतर्गत था। सिंधी में चांडिको का अर्थ होगा 'चंद्रमा का' (चंडु = चंद्र + इको, तद्धित प्रत्यय)। संभव है चंद्र वंश से इसका संबंध हो।

२—सिंधी भाषा में ग, ज, द, और ब का अपने स्थान के अतिरिक्त कंठ और उरःस्थान से भी उच्चारण होता है; उन ध्वनियों को सूचित करने के लिये उक्त वर्णों के नीचे आड़ी रेखा खींच दी जाती है।

'लाड़काणो' शब्द का रहस्य

सिंधु के भूगोलवेत्ताओं का कहना है कि पुराकाल में यहाँ लाड़क' नाम की एक जाति रहती थी जिसके कारण इस प्रदेश का नाम 'लाड़काणो' पड़ा।

सिंधी में 'अणो' प्रत्यय संबंधबोधक है। जैसे अबाणो=दादों-परदादों का; घराणो=अच्छे घर का (उच्च कुल का); इत्यादि। इस प्रकार 'लाड़काणो' का अर्थ होगा (लाड़क+अणो)--'लाड़क जाति का'। लाड़क शब्द लड़ (=विलासे) धातु में स्वार्थे क प्रत्यय जोड़ने से बनता है। किसी युग में यहाँ के निवासी हाव-भाव में प्रवीण एवं सौंदर्य के उपासक रहे होंगे, इसीलिये उनका नाम लाड़क पड़ गया होगा। इस शब्द की उक्त व्युत्पत्ति से भी यही सूचित होता है और उपर्युक्त सिंधी कहावतों की सार्थकता भी इसी बात में है।

यह लाड़क जाति किस काल में यहाँ निवास करती थी, इस विषय का इतिहास में कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसलिये मेरा अनुमान है कि यह कोई प्रागैतिहासिक जाति होगी। प्रसिद्ध 'मुअनि जो दड़ो' (मोहें जो दड़ो) स्थान लाड़काने के पास ही का एक खँडहर है। उसमें से प्राप्त सामग्री से यह सिद्ध है कि वह अपने युग में कितना उन्नत और विलासादि की सामग्री से संपन्न था तथा यहाँ के निवासी कितने सुखी एवं ललितकला-प्रेमी थे। बहुत संभव है, इसी कारण से यहाँ के निवासियों को ही 'लाड़क' संज्ञा मिली हो।

महाभारत में जहाँ यौधेय, क्षुद्रक, उशीनर, केकय, मद्रक, द्रविड़ आदि सिंधु-पंजाब तथा उसकी सीमावर्ती जातियों का वर्णन आया है वहाँ 'ललित्थ' जाति का भी निर्देश किया गया है।[४] हमारे विचार से लाड़क जाति के साथ इसका संबंध होना चाहिए। कारण, 'लड़्' और 'लल्' धातुएँ एक ही अर्थ की बोधक हैं।

३—हो क़ोम *लाड़कनि* जो हितिड़े कदीमु थाणो।
थियो पोइ नामु हिन ते लाड़क ताँ लाड़काणो॥
—(सिंधी भाषा में) 'ऐट्लस् ज्यॉग्रफी अइ तवारीख, जिला लाड़काणो'।

४—यौधेयाश्च *ललित्थाश्च* क्षुद्रकाश्चाप्युशीनराः।—महाभारत, कर्णपर्व, २।५०

लाट और लाड़काना

संस्कृत साहित्य में लाटानुप्रास प्रसिद्ध है। लाट जनों को प्रिय होने के कारण इसका यह नाम पड़ा।[५] 'लाट' शब्द का अर्थ है सुरसिक। ये लोग गद्य-पद्य भी बड़ी लटक-मटक के साथ पढ़ते हैं। उस समय सहृदय जनों को मोहनेवाली इनकी मुख-मुद्रा भी अपूर्व सौंदर्य को धारण कर लेती है।[६] यहाँ की स्त्रियाँ जब नहा-धोकर शरीर में इत्र आदि मलकर कलापूर्ण ढंग से केशपाशों को बाँधकर एक दूसरे के सम्मुख आती हैं तब इनकी परस्पर में स्पर्धा होने लगती है।[७]

ये सब ऐसे प्रमाण हैं जिनकी सहायता से उस प्रदेश की पहचान हो सकती है। परंतु वर्त्तमान साहित्य में जो गुजरात के *भड़ोच* प्रदेश को *लाटदेश* होने की प्रसिद्धि प्राप्त है[८], उस विषय के प्रमाणों की सार्थकता मुझे वहाँ (भड़ोच में) देखने को नहीं मिली। पाकिस्तान होने के बाद आबूरोड से मुंबई तक कई बार आते-जाते मैंने लाटों की उपर्युक्त विशेषता को भी लक्ष में रखा था, परंतु संतोष-जनक उत्तर नहीं मिला। वह रसना-माधुर्य, वह भाषण में लटक-मटक, वह हाव-भाव इनमें कहाँ है जो अब भी (पाकिस्तान होने से पूर्व) हमें लाड़काना प्रदेश में मिलता है? इस विषय को स्पष्ट करने के लिये नीचे सिंधी भाषा का कुछ वर्णन किया जाता है।

सिंधी भाषा

उत्तर और दक्षिण भेद से सिंधु के मुख्य दो भाग हैं। सिंधु नद के पूर्व तट पर नवाबशाह जिला के कंडियारो तालुका से तथा पश्चिम तट पर दादू जिला के सेहवान तालुका से जेकबाबाद के कश्मोर नगर तक का भूभाग उत्तर-सिंधु कहा जाता है, एवं कंडियारो तथा सेहवान से दक्षिण में कराची तक (पहले

५—"लाटजनप्रियत्वाल्लाटानुप्रासः" —साहित्यदर्पण, परि० १०

६—"पठन्ति लटभं *लाटाः* प्राकृतं संस्कृतद्विषः।
जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया ॥—काव्यमीमांसा, अ० ७

७—गाहाओ लित्त-विलित्ते कयसीमंते सोहियं गते।
अम्हं काउं भणिरे अहपेच्छइ *लाड़े* ॥ —कुवलयमाला, ८३५ (५।६)

८—के० एम्० मुंशीकृत द ग्लोरी दैट वाज गुर्जर देश, भाग १, पृष्ठ ३२

कच्छ प्रदेश तक, जो अब काठियावाड़ के साथ मिला हुआ है) दक्षिण-सिंधु कहा जाता है। वैसे तो संपूर्ण सिंधु देश की भाषा सिंधी कहलाती है, जो स्वरांत है (अर्थात् इस भाषा में अंतिम स्वर का उच्चारण स्पष्ट रूप से किया जाता है; जैसे रामु, किशिनु, गोविंदु, मोहनु, अचु, बचु, उथु, खाउ, वेहु आदि; भरत मुनि कहते हैं कि सिंधी भाषा उकारबहुला है[९]), परंतु अंतिम स्वर का स्पष्ट और विवृत उच्चारण जैसा उत्तर-सिंधु में होता है, वैसा दक्षिण-सिंधु में नहीं।[१०] यहाँ वह स्वर संवृत हो जाता है। यह बात नीचे की तालिका से स्पष्ट होगी—

९—"हिमवत्सिन्धुसौवीरान्ये च देशा समाश्रिताः।
उकारबहुलां तज्ज्ञस्तत्र भाषां प्रयोजयेत्॥"—भारत नाट्यशास्त्र, अ० १७, श्लोक ६

१०—The northern or Siraiki (Sireli) dialect has remained far more original and has preserved the purity of pronunciation with more tenaciousness than the southern one.

—ट्रंप-कृत 'सिंधी ग्रामर', भूमिका पृ० २

Siraiki (Sireli) Sindhi differs from the standard Sindhi having a more clearly articulated pronunciation and a slightly different vocabulary.

—लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया,
जिल्द ८, भाग १, पृ० १४०

११—दक्षिण-सिंधु में, बदीन ताल्लुका के अतिरिक्त हैदराबाद जिला और कंडियारो तक का नवाबशाह जिला मध्य-सिंधु कहलाता है, और शेष भाग लाड़ नाम से प्रसिद्ध है।

एक दो वाक्यों के भी उदाहरण लीजिए।

लाड़काणो और शिकारपुर की माता रोते हुए बच्चे को गोदी में लेकर विह्वल स्वर में कहेगी—

"लाल ! मुहिंजा मिठिरा ! छाजे करे पियों रुहँ...?"; तो दक्षिण सिंधु की माता कहेगी—

"पुट ! छो थो रुई ?"(=पुत्र ! क्यों रोते हो ?)। लाड़काना प्रदेश की बहिन भाई से कहेगी—

"भायरा ! दिसण में बि कान पियो अचें, आउ; हितिड़े वेहुनी··ई"(=भाई ! देखने में भी नहीं आते हो, आओ; यहाँ बैठो)।

इस प्रकार यहाँ प्रत्येक स्वर का स्पष्ट उच्चारण और स्वर-माधुर्य एवं बोलने में उत्कंठा इत्यादि विशेषताएँ देखते ही बनती हैं। सामान्य भाषण के अवसर पर भी यहाँ के लोगों में भायरा ! लाल ! दिलि ! मनठार ! दिलिबर ! पुन्हल ! आदि माधुर्यपूर्ण प्रेमसूचक शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग होता है। इस प्रकार यहाँ के भाषण में लचक और स्वर-माधुर्य देखकर हम निःसंदेह कह सकते हैं कि 'पठन्ति लटभं लाटाः'—इस वाक्य की सार्थकता तथा कुवलयानंद-कथित लाड़ देश की स्त्रियों की सौंदर्य-विषयक प्रतिस्पर्धा की अन्वर्थता इसी प्रदेश में सिद्ध होती है।

उपसंहार

मैं यह नहीं कहता कि सिंधु प्रांत का वर्तमान लाड़काना प्रदेश ही उपर्युक्त ग्रंथकारों (राजशेखर, कुवलयानंद आदि) का विवक्षित लाट देश है; क्योंकि उनके समय तक भारतवर्ष के भूगोल में बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका था। मेरा वक्तव्य केवल इतना ही है कि इन विद्वानों ने प्रागैतिहासिक लाट देश (लाड़काणो) के विषय में परंपरागत जो भी किंवदंतियाँ सुनी होंगी उन्हें गुजरात प्रांत के लाट देश (भड़ोच) के साथ जोड़ दिया होगा, क्योंकि उस समय यही लाट देश प्रसिद्ध हो चुका था। आज इतिहास की पुनरावृत्ति हो रही है। जो बात हम केवल पढ़ते और सुनते थे उसे अब प्रत्यक्ष देख रहे हैं। मनुष्य राष्ट्र-विप्लव के समय किस प्रकार एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर चले जाते हैं और साथ में अपने रस्म-रिवाज तथा आचार-विचार भी ले जाते हैं—इतना ही नहीं बल्कि अपने

देश आदि के प्रिय नाम तक भी अधिकृत स्थानों को प्रदान कर देते हैं, जैसे इन दिनों सिंधु के निर्वासित अपनी नई बस्ती कल्याण कैंप (मुंबई) तथा कांडला बंदर (कच्छ प्रदेश) को 'नव सिंधु' नाम दे रहे हैं—यह आज एक स्वाभाविक बात प्रतीत होती है। इतिहासज्ञों की दृष्टि में वर्त्तमान गुजरात का 'गुर्जर' नाम भी अपना नहीं है। यहाँ के निवासियों के पूर्वज भी किसी समय में राष्ट्र-विप्लव के कारण पंजाब के गुर्जर प्रदेश से आकर यहाँ बसे थे और अपना प्रिय नाम इसको दिया था।

इसी प्रकार, यह सर्वथा संभव है कि उपर्युक्त विशिष्ट कारणों से किसी काल में वास्तविक लाट देश (लाड़काणो) के निवासी अपना देश छोड़कर दक्षिण सिंधु के हैदराबाद जिले के बदीन तालुका और कराची जिले में आ रहे और उन्होंने उसको लाट (लाड़) नाम दे दिया। अधिक काल बीतने पर आसपास के जल-वायु के प्रभाव से उनकी भाषा में वह पहले जैसी लचक और स्वरमाधुर्य नहीं रह गया। इस कारण उत्तर सिंधु के लोग लाड़ी सिंधी को कच्ची (अपरिपक्व) मानते हैं और उनके बोलनेवालों का उपहास करते हैं। फिर कालांतर में यहाँ से कोई जन-समुदाय उठा और उसने वर्तमान गुजरात के किसी एक प्रदेश में आकर डेरा जमाया तथा उसे अपने प्रिय लाट (लाड़) नाम से भूषित किया। परंतु जो प्रमाण लाट देश को पहचानने में साधक हैं वे हमें सिंध-प्रांत के लाड़काणो के विषय में ही उपयुक्त प्रतीत होते हैं।

चयन

शब्दों का देश

भारत सरकार के सूचना विभाग से प्रकाशित होनेवाले पाक्षिक पत्र 'आजकल' में श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल का 'शब्दों का देश' शीर्षक एक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी लेख प्रकाशित हुआ है जो यहाँ अविकल रूप में उद्धृत किया जाता है—

भारत के लंबे इतिहास में अनगिनत शब्द जन्मे, कुछ चमके, गिरते-पड़ते अस्त हुए, और कितने ही सदा के लिये आकाश में भर गए जो आज भी पनपते हैं। शब्द अतीत जातीय जीवन के प्रतीक बनकर रह जाते हैं। शताब्दियों की भारी हलचलें अपने पीछे शब्द के दमकते हुए रत्न छोड़ जाती हैं। शब्दों का भाग्य कभी जागता है, कभी सो जाता है। शब्द राष्ट्र के बढ़ते-घटते मानस-चैतन्य की साक्षी भरते रहते हैं। शब्द के पीछे जो अर्थ रहता है वह नित्य है, पर युगविशेष में भारी प्रयत्न से हो अर्थ का साक्षात्कार किया जाता है। सशक्त प्रयत्न के विना अर्थ की प्राप्ति असंभव है। जब अर्थ जीवन में बसता है, तभी जीवन ऊपर उठता है। सत्य, तप, यज्ञ, धर्म, कर्म ये और इनके सदृश अनेक शब्द समय समय पर उत्पन्न हुए। अनेक मनुष्यों की साधना से इन शब्दों का तेजस्वी अर्थ जनता के जीवन में प्रत्यक्ष हो उठा और उस काल के लिये वह अर्थ देश के वातावरण में भर गया। अर्थ की महिमा से शब्द को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और वे शब्द अपने-अपने युग के प्रतिनिधि बनकर उस काल की गाथा हमें सुनाते हैं। मानवी विचार शब्दों में साकार होते हैं और शब्द की कृपा से ही वे हमारे लिये त्रिकाल में सुलभ बने रहते हैं।

भारत के जातीय जीवन में शब्दों का अनंत विस्तार है। शब्द-विस्तार की दृष्टि से यह देश संसार के अनेक देशों में अगुआ है। भारत में शब्दों की विशेष बढ़ती के कई स्पष्ट कारण हैं। कम से कम चार सहस्र वर्षों तक यहाँ जातीय जीवन के उतार-चढ़ाव की हलचलों में बराबर शब्द बनते रहे। काश्मीर से कन्याकुमारी तक फैला हुआ लंबा चौड़ा भू-प्रदेश भी शब्द-विस्तार का कारण है।

इस विस्तार में अनेक प्रकार की विचित्रताएँ हैं। प्रकृति, जन, भाषा, रहन-सहन के भेद अनेक शब्दों के बनने और आपस में घुल-मिल जाने के कारण बन जाते हैं। शबर, मुंडा, कोल, भिल्ल, संथाल आदि निषाद जातियों की मातृभूमि होने के कारण भारतीय भाषाओं को उनसे प्राप्त होनेवाले अनेक शब्दों का लाभ हुआ। फल-फूल, वनस्पति, औषधि, वृक्ष, नदी, पर्वतों के नामों की व्युत्पत्ति की जब पूरी छानबीन होगी तब भौतिक जीवन से संबंध रखनेवाले कितने ही शब्द 'निषाद' भाषाओं से अपनाए हुए मिलेंगे। आर्य जाति की भाषा तो इस देश की राष्ट्रीय भाषा संस्कृत ही है। उसकी दो सहस्र के लगभग धातुओं, अनेक प्रत्ययों, व्याकरण के ठाठ और मुहावरों की सहायता से हमारे विचारों को प्रकट करनेवाली भाषा का ताना-बाना बुना हुआ है। इसी में बहुसंख्यक बोलियों के शब्द, देश्य प्राकृतों की धातुएँ और उनसे बननेवाले शब्द मिलते रहे हैं। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष का जो बहुरंगी इतिहास है उसमें संसार की अन्य अनेक जातियों ने भाग लिया है। संसार में शायद ही जातियों की उथल-पुथल की कोई बड़ी आँधी ऐसी उठी हो जिसका प्रभाव भारतवर्ष पर न पड़ा हो। शक, कुषाण, हूण, मंगोल, मुसलमान, इन जातियों ने भारत में प्रवेश किया और वे अपनी भाषाओं के साथ यहाँ के जनसमुदाय में मिल गईं। इनमें भाषा पर सबसे अधिक प्रभाव मुसलमानों के आने से पड़ा।

लगभग १००० ई० से १२०० तक मुसलमानों का पहला समागम हुआ और पीछे तो उनके छोटे-बड़े राज्य देश के कितने ही भागों में स्थापित हो गए और मुसलमानों के साथ यहाँ के रहनेवालों के दुःख सुख मिलकर दोनों जातीय जीवन की इकाई में बँध गए। यही समय भारत में आधुनिक भाषाओं के जन्म का युग था। लगभग नवीं शताब्दी में अपभ्रंश भाषा का विस्तार हो चुका था और बारहवीं शताब्दी के लगभग अपभ्रंश भाषा से ही और विकसित होकर नई भाषा-शैली का परिवर्तन आरंभ हो गया था। यही भाषा-शैली आगे आनेवाली प्रांतीय भाषाओं की जननी थी। हिंदी, गुजराती, मराठी, राजस्थानी, पंजाबी, सिंधी, कश्मीरी, उड़िया, बंगाली, बिहारी, आसामी, पहाड़ी, नेपाली आदि प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों का यही ऐतिहासिक क्रम रहा है। मुसलमानों के आने से भारतीय भाषाओं पर दो तरह का प्रभाव हुआ। एक तो अफगानिस्तान (प्राचीन बाल्हीक

कपिशा-गंधार) और मध्य एशिया (प्राचीन कंबोज) भारतीय भाषाओं की मुख्य धारा से अलग जा पड़े। यद्यपि उन भाषाओं के व्याकरण का ठाठ और उनकी मूल शब्दावली का ढाँचा आज भी संस्कृतप्रधान है परंतु उन भाषाओं का भविष्य पूरी तरह अरबी-फारसी के हाथों में सौंप दिया गया। दूसरा प्रभाव भारत के भीतर की भाषाओं पर था अर्थात् उनमें अरबी और फारसी के शब्दों की मुँहछुट घालमेल। इस मिलावट में एक बात मार्के की हुई। वह यह कि भारतीय भाषाओं का व्याकरण का ठाठ बिलकुल अपना बना रहा, अरबी-फारसी के शब्द उनमें मिले पर अपना परिवार नहीं बढ़ा सके। भाषाशास्त्र की दृष्टि से इसे यों समझना चाहिए कि प्रत्येक भारतीय भाषा का धातुपाठ ठेठ स्वदेशी बना रहा। अरबी-फारसी की धातुएँ उनमें न मिल सकीं। हिंदी शब्द-सागर में इस समय लगभग तीन सहस्र धातुएँ हिंदी की दी हुई हैं, उनमें शायद एक दर्जन ऐसी होंगी जो अरबी-फारसी से आई हों, जैसे अंदाजन, गुजरना, खरीदना, बनना। बाकी सब धातुएँ संस्कृत, पाली, प्राकृत और देश्य भाषाओं से आई हुई हैं, उनकी लंबी परंपरा वैदिक भाषा तक पहुँचती है। पाणिनि का धातुपाठ, शाकटायन, चंद्र आदि के धातुपाठ और दूसरे प्राकृत व्याकरणों के धातुपाठ और साहित्य में प्रयुक्त भाषाओं से चुनकर संगृहीत धातुपाठों को जब हम इस दृष्टि से देखते हैं तो उनमें पठित धातुओं का स्वच्छ स्वदेशीपन देखकर प्रसन्नता होती है। प्रत्ययों के साथ मिलकर उन धातुओं से कितने ही शब्द बने हैं और आगे भी बनते रहेंगे। प्रत्येक प्रांतीय भाषा के धातुपाठ की यह निधि अपनी शुद्ध स्वदेशी पूर्व परंपरा से प्राप्त हुई है। इन धातुपाठों का अलग-अलग संग्रह, दूसरों के साथ तुलनात्मक अध्ययन और फिर प्रत्येक की व्युत्पत्तियों की खोज और पहचान भारतीय भाषाशास्त्र का पहला और अत्यावश्यक कर्तव्य है। उदाहरण के लिये वैदिक भाषा में 'इ' धातु मिलती है जिसका अर्थ 'गति' है। इसीसे उपसर्ग लगाकर प्रेत, समेत, व्यक्त, अभिप्रेत, अवेत, अन्वित, दुरित, प्रतीत आदि शब्द लौकिक संस्कृत में बनकर प्रयुक्त हुए। यह धातु भारत-यूरोपीय वर्ग की थी और यूरोपीय देशों की भाषा में भी उससे निकले हुए शब्द मिलते हैं। अंगरेजी के इटीनरेरी, इटीनरेंट शब्द मूल 'इ' धातु से निकले हैं। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में मातृभूमि के लिये एक शब्द 'अग्रेत्वरी' आया है जिसका अर्थ है

आगे जानेवाली (अग्र+इत्वरी) और ग्रिफिथ ने 'लीडर' शब्द से उसका अनुवाद किया है। अर्थात् पृथ्वी सूक्त के ऋषि ने अपनी भूमि के लिये सुंदर कल्पना की थी कि वह विश्व के अन्य देशों में अगुआ है। 'इत्वरी' शब्द भी उसी 'इ' धातु से बना जिसका अर्थ था गमनशील। यह शब्द कुछ ऐसे बना होगा। इ धातु में त प्रत्यय जोड़कर पहले इत बना जिसका अर्थ था गति या गमन। गमन या गति विशेष रूप से जिसमें हो वह हुआ 'इत्वर' या स्त्रीलिंग में इत्वरी। वैदिक काल में यह शब्द अर्थ की ध्वनि से भरा हुआ बहुत सुंदर समझा जाता था और कितनी ही बार इसका प्रयोग मिलता है। संस्कृत साहित्य में उसी अर्थ के वाचक नए-नए शब्द बन गए और वह शब्द पीछे पड़ गया। परंतु लोक के मन में, शब्द की चंचल अर्थ वाली ध्वनि बराबर बनी रही और चार हजार वर्षों तक लोक ने उसका साथ बराबर निबाहा। मेरठ या कुरु जनपद की बोली में आजतक 'ईत्वरी' शब्द जीवित है। दुहते समय उछल-कूद करनेवाली गाय को 'ईतरी गाय' कहा जाता है। ऊधमी बच्चे के लिये भी 'ईतरा बालक' प्रयोग देहातों में चालू है। इसी सुंदर शब्द की व्यंजना से हिंदी को 'इतराना' नामधातु[1] प्राप्त हुई है, जो बोलचाल की हिंदी में चालू है।

वैदिक काल और प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक जो शब्दों का विकास और इतिहास है उसका अध्ययन हिंदी भाषा और प्रांतीय भाषाओं के निरुक्त शास्त्र के लिये आवश्यक है। शब्दों की व्युत्पत्ति की छानबीन करते हुए हम अनेक भूले हुए ऐतिहासिक तथ्यों और प्रवादों की फिर से सुध लेते हैं। अथर्ववेद में तैमत, अप्सु, अलिगी-बिलगी, उरुगूला और सिनि शब्द आए हैं। निश्चयपूर्वक इन शब्दों का संबंध पश्चिमी एशिया के देशों से है। बेबिलन के प्राचीन इतिहास में बेलमर्दुक और तैमत के युद्धों की कथाएँ हैं। अप्सु का रूपांतर वहाँ अब्जु समुद्र के देवता की संज्ञा है। सिनि का रूपांतर सिन चंद्रमा देवता का नाम है। देवमर्दुक की स्त्री गुला का संबंध उरुगूला से स्पष्ट है। कब और कहाँ इन नामों का आदान-प्रदान हुआ इस प्रश्न का निश्चित उत्तर

१.—संज्ञा शब्दों से जो धातुएँ बन जाती हैं उन्हें नामधातु कहते हैं। जैसे बात से 'बतियाना'। हर एक भाषा में इस तरह की धातुएँ पाई जाती हैं।

इतिहास से हमें मिलना चाहिए। परंतु शब्दों की जाँच-पड़ताल का शास्त्र ऐसे प्रश्नों से हमारी टक्कर करा देता है। महाभारत वनपर्व (१६० । ६५, ६७) में एडूक और उसके पाठांतर जारूक का उल्लेख है। यह एक प्रकार का ऊँचा मंदिर था जो एक दूसरे से छोटी होती हुई कुर्सियों या मेधियों के रूप में बनाया जाता था। इसका एक उदाहरण बरेली जिले के अहिच्छत्रा स्थान की खुदाई में प्राप्त हुआ है। विष्णु-धर्मोत्तर पुराण में एडूक की रचना का पूरा विवरण भी मिला है। एडूक का पाठांतर जारूक बहुत महत्वपूर्ण है जिसकी ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया। किंतु यह शब्द भी पश्चिमी एशिया के साथ हमारे संबंधों की ओर संकेत करता है। प्राचीन बावेरु या बेबिलन में 'ज़िग्गुरत' नामक बड़ी ऊँची अट्टालिका रूपी इमारतें बनती थीं जिनकी रचना एडूकों से बहुत मिलती थी। संस्कृत का जारूक शब्द उसी 'ज़िग्गुरत' का रूपांतर है। फारसी में उसी से 'ज़ियारत' शब्द बना है जो किसी व्यक्तिविशेष की समाधि के लिए प्रयुक्त होता है। इस प्रकार शब्दों की ठीक पहचान की खोज में हम कभी कभी बहुत महत्वपूर्ण तथ्य तक पहुँच जाते हैं। भाषा का प्रत्येक शब्द अपना इतिहास रखता है। उसके अर्थों का और उसके बाहरी रूप का विकास और परिवर्तन होता रहता है। वेद के समय में जो महान् शब्द हमारे ज्ञानाकाश में प्रमुखतया भरे हुए थे, कालांतर में उनमें परिवर्तन आवश्यक हो गया। विकास का दुर्धर्ष नियम शब्दों के जीवन पर निश्चित प्रभाव डालता है। बुद्ध के समय में 'धम्म' और 'कम्म' इन दो शब्दों में एक नया अर्थ भर गया। वेद का ऋत शब्द किसी समय विश्व के रचनात्मक विधान या नियमों के अनुकूल मार्ग के अर्थ में चोटी का शब्द था, पर धीरे धीरे उसने अपने तेज को समेट लिया। बौद्ध काल में मग्ग (=मार्ग), यह नया शब्द प्रचलित हुआ। उस समय जब लोग मार्ग के विषय में प्रश्न पूछते थे तो वह एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने का रास्ता मात्र नहीं था, उस समय का 'मग्ग' बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग की व्यापक ध्वनि अपने भीतर छिपाए हुए था। परंतु फिर वही क्रम हुआ और मार्ग शब्द के तेजस्वी अर्थ की किरणें शनैः शनैः छिप गईं। परंतु शब्द नितांत सुंदर है और संभव है कि पुनः उसमें नए सांस्कृतिक अर्थ भरे जा सकें। प्रत्येक युग के आदर्श कुछ विशिष्ट शब्दों के सूत्रों में संगृहीत हो सकते हैं। अभी अभी जिस युग के बीच में से हम चल रहे हैं उसका सबसे शक्तिशाली अर्थ 'सत्याग्रह' शब्द में संचित है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सत्य का आग्रह—यही

नई कला गाँधी जी से देश को प्राप्त हुई। प्राचीन काल में यज्ञ करनेवालों की प्रतिज्ञा होती थी—*इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि* [मैं अनृत छोड़ कर सत्य को प्राप्त करता हूँ]। सत्याग्रह के युग में भी ऐसा ही ध्येय और प्रयत्न किया गया, परंतु इस प्रयोग की परिभाषाएँ और उद्देश्य नए थे। सत्याग्रह के अर्थों का उत्तराधिकार सर्वोदय शब्द को मिलने की संभावना है, आगे आनेवाले युग का सूत्रार्थ इसी शब्द के अधीन जान पड़ता है।

अर्थों के अतिरिक्त शब्दों के रूपों का परिवर्तन भी भाषाविज्ञान का एक महत्वपूर्ण अंग है। हिंदी तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं को संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के तीन पड़ाव पार करने पड़े हैं और इस लंबी यात्रा में उनके शब्दों की काफी घिसाई हुई है। बहुत ही थोड़े शब्द होंगे जो अपने चोले को ज्यों का त्यों रख पाए हों। गंगा की धारा में पड़े हुए खड़े पत्थर जैसे टकराते और घिसते हुए गोल-मटोल हो जाते हैं वैसे ही संस्कृत के साँचे में बँधे हुए शब्द उच्चारण की घिसाई से अपना नुकीलापन और कोर खोकर हलके-फुलके बन जाते हैं। संस्कृत का ब्राह्मण शब्द अशोक-कालीन प्राकृत में बंमन और इस समय की बोलियों में बंभन बन चुका था। खड़ी बोली का गठबंधन संस्कृत के साथ होने के कारण शब्दों का संस्कृत रूप ही पुनः चलन पाना चाहता है। मध्यकालीन संस्कृत में एक सुंदर शब्द था उद्यानिका, जिसका अर्थ था वाटिका-विहार, बाग-बगीचे में पिकनिक। हिंदी की परंपरा में यह शब्द नहीं बचा, परंतु गुजराती भाषा में उजानी शब्द (उद्यानिका-उज्जानिआ-उजानी) ठीक प्राचीन अर्थ में सुरक्षित है। संभव है हमारे बढ़ते हुए प्रकृति-प्रेम के साथ यह सार्थक शब्द पुनः पहली प्रतिष्ठा प्राप्तकर ले। रूपपरिवर्तन के उदाहरण के लिये हिंदी का एक शब्द है रौसली, जिसका अर्थ है नदी-तट की वह भूमि जो बरसात में हर साल नई जम जाती है और जिसमें बालू मिली हुई होती है। इसका संस्कृत रूप रजस्वला है। बरसात में नदियाँ मिट्टी-बालू के बहाव के कारण रजस्वला कहलाती हैं। उसी से रजस्वला-रउस्सला-रौसला-रौसली बना है। शब्दों के उदाहरण अनंत हो सकते हैं। सारे हिंदी जगत् को मिलाकर अपने प्रत्येक शब्द की छानबीन करनी होगी। हिंदी भाषा के क्रमबद्ध व्युत्पत्ति-कोष का कार्य अभी तक नहीं किया गया। सच पूछा जाय तो भारत की किसी भी प्रादेशिक भाषा या बोली के लिये निरुक्ति-कोष की रचना नहीं हुई। नेपाली बोली का टर्नर

का नेपाली कोष इस दिशा में अच्छा है परंतु उसमें भी व्युत्पत्ति का बहुत सा कार्य अभी बाकी है। अंग्रेजी भाषा में शब्द-व्युत्पत्ति का काम बहुत आगे बढ़ चुका है। जैसे कोई जौहरी अपने रत्नों को परख कर थैली में भर कर प्रसन्न होता है वैसे ही व्युत्पत्तिशास्त्र के वैज्ञानिक नियमों के अनुसार प्रत्येक शब्द को टटोल कर उसे अपना बना कर हम निश्चिंत और प्रसन्न हो सकेंगे। हिंदी भाषा की व्युत्पत्ति का कार्य हमें संसार की अन्य भाषाओं के साथ भी मिला देता है। जो शब्द संस्कृत से निकले हैं उनकी खोज करते हुए हम भारत-यूरोपीय वर्ग की अन्य भाषाओं तक जा पहुँचते हैं। उन-उन भाषाओं में भी शब्दों के और धातुओं के हमारे शब्दों से मिलते-जुलते रूप पाए जायँगे और हमें उन्हें जानना चाहिए। शायद अब तक यूरोपीय विद्वानों का काम इसी दिशा में अधिक हुआ भी है। देशी शब्दों की खोज और उनकी व्युत्पत्ति की पहचान दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है। इसके लिये प्रत्येक बड़ी बोली के शब्दों का संग्रह कोष के रूप में करना आवश्यक है। जो विद्वान् हिंदी भाषा की व्युत्पत्ति के काम में रुचि रखते हों उन्हें बोलियों की ओर सबसे पहले ध्यान देने की आवश्यकता है। अपभ्रंश भाषा के निकटतम शब्दरूप बोलियों में ही हैं पहचाने जा सकेंगे। शब्दों के अनुसंधान की तीसरी दिशा अरबी-फारसी और उनसे संबद्ध भाषाओं की जाँच-पड़ताल है। फारसी का संबंध तो अंततोगत्वा संस्कृत से ही है। फारसी का पूर्व रूप पहलवी भाषा थी जिसका ईरान में दूसरी शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक राजकीय भाषा के रूप में प्रचार था। पहलवी भाषा के संरक्षक सासानी वंश के प्रतापी राजा गुप्तों के समकालीन थे। भारत में कुछ पहलवी शब्द उस समय आ गए थे। हर्षचरित में स्तवरक नामक एक कीमती रेशमी कपड़े का नाम आया है जो ईरान में इस्तब्रक कहलाता था और वहाँ से पूर्व में भारतवर्ष लाया जाता था और पच्छिम में अरब को जाता था। कुरान के उस प्रकरण में जहाँ स्वर्गीय स्त्रियों का वर्णन है, इस्तब्रक कपड़े का उल्लेख हुआ है जिससे हूरों के शरीर अलंकृत थे और जिसे कुरान के सभी टीका-कारों ने विदेशी शब्द माना है। वह कपड़ा नहीं रहा और इसी कारण बाद के संस्कृत साहित्य और उससे निकली हुई भाषाओं में उस शब्द का कोई रूपांतर नहीं बचा। पहलवी भाषा के कोषों को देखने से हजारों शब्द ऐसे मिलते हैं जो हिंदी में ज्यों के त्यों मिलते हैं। बियाबान, पुल, साल, सिपाही, फटकार, पसंद, आगाह ऐसे ही शब्द हैं। यद्यपि यह सत्य है कि इनकी परंपरा मध्य मुसलमानी युग में अर्वाचीन

फारसी से हमें प्राप्त हुई परंतु फिर भी अपने व्युत्पत्ति-कोष का पेटा पूरा करने के लिये हमें दूर तक जाते हुए पहलवी भाषा तक पहुँचना होगा। और संभव है उससे भी आगे प्राचीन ईरानी भाषा तक जाना पड़े। फारसी तो आर्यभाषा परिवार की है, उसके साथ हमारी भाषा का संबंध निकट का है। अरबी भाषा म्लेच्छ (सेमेटिक) भाषा परिवार की एक प्रधान भाषा है जिसकी चार सगोती बहनें और हैं— अफ्रीका की अबिसिनियन भाषा, अरमाइक भाषा जो किसी समय पश्चिमी एशिया से ईरान तक की शिष्ट भाषा बनी हुई थी, इबरानी या यहूदी (हिब्रू) भाषा और इन सब से महत्वपूर्ण और प्राचीन असीरियन बेबीलोनियन या असुर-बावेरू की भाषा। अरबी भाषा के जो हजारों शब्द हिंदी में घुले-मिले हैं उनकी पुरानी आयु और रचना की पूरी जानकारी के लिये हमें इन सब भाषाओं का द्वार खटखटाना होगा, उनके पुराने कोषों की छानबीन करनी होगी, तब कहीं जाकर शब्द-व्युत्पत्ति का रूँधा हुआ मार्ग अंत तक प्रशस्त किया जा सकेगा। किताब शब्द आज हिंदी के आँगन में घरेलू कलोर की तरह रम गया है। पर उसका मूल निकास अरबी की तीन व्यंजन वाली क्-त्-ब् धातु से है जो म्लेच्छ वंश की सभी प्राचीन भाषाओं में मिलता है और उससे निकले हुए शब्द उन भाषाओं में आज भी चालू हैं। किताब शब्द के अर्थ और रूप की जानकारी हमें उन भाषाओं में भी रुचि प्रदान करती है। यह जानकर किसे प्रसन्नता न होगी कि हिंदी का औरत शब्द मूल में मिस्री भाषा का शब्द है जिसकी आयु लगभग छः सहस्र वर्ष पुरानी है और जो अरबी के मार्ग से हमारे यहाँ पहुँचकर सारे देश में फैल गया है। अरबी भाषा की सैकड़ों धातुओं से बने हुए संज्ञा शब्द हमारे नित्य प्रति के जीवन में चालू हैं और उनकी ध्वनि, रूप और अर्थ हमारे अंतःकरण में बैठे हैं। उनके प्रति भी हमारा सम्मानभाव है। जो शब्द हमारा उपकार करते हैं वे हमारे हैं। वे भी उस सरस्वती के रूप हैं जो ज्ञान की अधिदेवता हैं। अंततोगत्वा सरस्वती के मंदिर में तो सबका निर्बाध प्रवेश है। सरस्वती देवी का जो अनिर्वचनीय रूप है, उसकी जो तुरीय अवस्था है उसमें तो संसार भर के शब्द और अर्थों का एकायन या एकत्र समवाय है। केवल वैखरी भाषा के देश में शब्दों के रूप-भेद हैं। अतएव जब हम ज्ञानदेवता के मंदिर में प्रफुल्लित मन से प्रवेश करते हैं तब हमारी भावनाएँ खिलती हैं और हमारे हृदय का वरदान चारों ओर

स्वागत के दीप लेसता हुआ फैलता है। हिंदी के उत्तराधिकार को सँभालनेवालों के लिये उचित है कि वे सरस्वती के उस उदार रूप की उपासना करें जिसमें अनेक तेज एक साथ मिले हैं। सबसे अधिक शुभ्र और भास्वर तेज तो आर्यभाषा का अपना ही है और वह किसी भी अन्य तेज से परास्त होनेवाला नहीं है।

आर्यों की आदि भूमि पर पुराणों का साक्ष्य

'इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली' पत्रिका, भाग २४ अंक २ में हिंदूविश्वविद्यालय के इतिहास के प्राध्यापक डाक्टर राजबलीपांडे का 'द पुरानिक डेटा ऑन दि ओरिजिनल होम ऑव दि इंडोआर्यन्स' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें पुराणों के साक्ष्य पर यह स्थापित करने का यत्न किया गया है कि भारतीय आर्यों का मूल निवास मध्यदेश में था। उक्त अंगरेजी लेख का लेखक द्वारा संशोधित हिंदी अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

भारतीय आर्यों की आदि भूमि के संबंध में अभी तक अधिकांश विद्वानों ने निम्नलिखित मुख्य, पर अंततः अप्रमाणित, धारणाओं के आधार पर अपने-अपने मत स्थिर किए हैं[1]—

१—आरंभ में एक ही मूल आर्य जाति थी, जिसकी शाखाएँ पीछे एशिया और यूरप के भिन्न-भिन्न देशों में फैलीं। भारतीय आर्य भी इसी जाति की एक शाखा थे।

२—मूल आर्य जाति की एक ही सामान्य भाषा थी जिसकी अनेक शाखाएँ उसकी पसरती हुई विभिन्न शाखाओं के साथ भिन्न-भिन्न देशों में गईं।

३—उक्त विभिन्न भाषा-स्रोतों के उद्गम (मूल भाषा) का अनुसंधान करके आर्यों की समान आदि भूमि का पता लगाया जा सकता है।

इन धारणाओं के औचित्य के संबंध में गंभीर आक्षेप किए जा चुके हैं। मनुष्य की एक समान उत्पत्ति की नाईं एक मूल आर्य जाति के अस्तित्व पर प्रश्न उठ खड़े हुए हैं। अतः भारतीय आर्यों के प्रश्न को यूरप की उन आर्य कहलानेवाली जातियों की उत्पत्ति के प्रश्न के साथ जोड़ना आवश्यक नहीं जिनकी उन्नीसवीं शती में भाषाशास्त्र का अध्ययन आरंभ होने के पूर्व 'आर्य' संज्ञा ही नहीं थी। दूसरी धारणा

१—जी० चाइल्ड, दि आर्यन्स; आइजक टेलर, ओरिजिन ऑव दि आर्यन्स; पी० गाइल्स, कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, जिल्द १, पृ० ६६।

भी कि भाषा-साम्य जातिगत एकता का सूचक है, अमान्य हो चुकी है। तीसरी धारणा का आधार कल्पना पर अवलंबित एक ऐसी भाषाशास्त्रीय सामग्री है जिसका उपयोग भिन्न-भिन्न पक्ष के विद्वानों ने आर्यों के आदि देश को भिन्न-भिन्न जगह सिद्ध करने के लिये किया है। प्रस्तुत लेखक के नम्र विचार से भाषाशास्त्रीय एवं भाषा-वैज्ञानिक प्रमाण अत्यंत अपूर्ण एवं दुर्बल हैं, फलतः उनसे निकाले गए निष्कर्ष भी स्वभावतः सदोष होंगे। भाषाओं में विभिन्न देश-काल के व्यक्तियों, वस्तुओं एवं घटनाओं के बोधक शब्द एक ही काल में एक साथ व्यवहृत हुए पाए जाते हैं। उनके आधार पर खड़ा किया हुआ ढाँचा वास्तविकता से बहुत दूर होगा। अतः जब तक प्रत्यक्ष एवं कालक्रम-बद्ध प्रमाणों का नितांत अभाव न हो तब तक भाषा-शास्त्रीय एवं भाषावैज्ञानिक साक्ष्य को प्रधान महत्त्व नहीं दिया जा सकता। उनके प्रमाण केवल पूरक ही माने जा सकते हैं। उनमें एकांततः रचना-शक्ति नहीं होती। यह नहीं माना जा सकता कि आर्यों के प्रारंभिक इतिहास के प्रत्यक्ष-वर्णित स्रोत नहीं हैं और हमें भाषाविज्ञान के अप्रत्यक्ष और आकस्मिक प्रमाणों का उपयोग करना ही होगा।

भारतीय आर्यों का सुसंबद्ध इतिहास पुराणों में सुरक्षित हैं। उनमें आर्यों की आदि भूमि के संबंध में प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध हो सकते हैं। भारतीय परंपरा के अनुसार तो अभी तक प्रायः जिस वैदिक साहित्य के आधार पर भारतीय आर्यों का आदिकालिक इतिहास लिखा गया है उसको समझने के लिये भी पुराणों का अध्ययन आवश्यक है। इसमें रहस्य यह है कि वैदिक साहित्य के तत्त्वतः काव्यमय एवं कर्मकांड तथा दर्शन प्रधान होने के कारण उसमें जिन बातों का केवल अल्प एवं आनुषंगिक उल्लेख मिलता है उसका पूर्ण प्रसंग पुराणों में ही पाया जाता है। आर्यों की आदि भूमि के संबंध में पुराणों के स्वतंत्र अध्ययन का निष्कर्ष भाषाशास्त्रीय शोधों के परिणाम से सर्वथा भिन्न है। इस विषय पर पुराणों का साक्ष्य संक्षेप में इस प्रकार है—

मध्यदेश में भारतीय आर्यों का उदय

१—भारतीय आर्यों का हिमालय के ढालों तथा उत्तर भारत के अधिकांश

१—वायुपुराण, १।२००-१

भाग (उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर-पूर्व प्रदेशों को छोड़कर) पर उनके इतिहास के आरंभ काल से ही अधिकार था। यह संपूर्ण भूमि प्रथम ऐतिहासिक आर्य नृपति मनु का देश कहलाती थी।[३]

२—मनु के ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु सरयू-तट पर बसी हुई अयोध्या नगरी में राज करते थे जो उनके पिता की भी राजधानी रह चुकी थी। वे सूर्यवंश की प्रधान शाखा के मूल पुरुष थे।[४]

३—मनु के दौहित्र ऐल (इला के पुत्र) पुरूरवा ने गंगा-यमुना के संगम पर प्रतिष्ठान (इलाहाबाद के निकट झूँसी) में ऐल अथवा चंद्रवंश की स्थापना की।[५]

४ सौद्युम्न नामक एक अन्य आर्यकुल, जिसका भी मनु के कुल से वैवाहिक संबंध था, दक्षिण-बिहार और उड़ीसा पर राज्य करता था। सुद्युम्न के तीन पुत्र थे—गय, उत्कल और हरिताश्व। गय गया में राज करते थे जो उन्हीं का बसाया हुआ था।[६]

भारतीय आर्यों का प्रसार

सूर्यवंश का विस्तार—सबसे पहले मनु के कुल का विस्तार हुआ। उनके पुत्र-पौत्र साहसी एवं महत्वाकांक्षी थे और वे भारत के भिन्न भिन्न भागों में तथा उसके बाहर भी राज्य एवं उपनिवेश स्थापित करने में समर्थ हुए।

१—इक्ष्वाकु से चलनेवाली मनु-कुल की प्रधान शाखा अयोध्या में चलती रही।[७]

२—मनु के पुत्र नाभानेदिष्ट ने वैशाली (बसाढ़, जिला मुजफ्फरपुर, बिहार) में एक वंश की स्थापना की।[८]

३—मनु के पुत्र कारूष ने बिहार के दक्षिण-पश्चिम तथा रीवाँ राज्य के पूर्व सोन नदी के तट पर एक राज्य स्थापित किया।[९]

३—ब्रह्मांड०, ३।२०।२-३ ४—वायु०, ८५।२०-१

५—शिव०, ७।६०; विष्णु०, ६।२०

६—वायु०, ८५।१८-१९; शिव०, ६०।१४-१५

७—मत्स्य०, १२।१५ ८—वायु०, ८६।३-२२

९—पद्म०, ५।८।१२६

४—मनु के पुत्र धृष्ट के वंशजों ने पूर्वी पंजाब पर अधिकार किया।[१०]

५—मनु के पुत्र नाभाग ने यमुना नदी के दक्षिण तट पर एक वंश की स्थापना की।[११]

६—मनु-पुत्र शर्याति उत्तर गुजरात में आनर्त पर राज्य करते थे।[१२]

७—नरिष्यंत के वंशज उत्तर-पूर्व की ओर भारतवर्ष के बाहर गए।[१३]

८—इक्ष्वाकु के पुत्र निमि ने उत्तर-पूर्व बिहार में विदेह कुल की स्थापना की।[१४]

९—इक्ष्वाकु के पुत्र दंड ने दक्षिण के जंगल प्रदेश का अनुसंधान किया जिसका नाम उन्हीं के नाम पर दंडकारण्य पड़ा।[१५]

१०—इक्ष्वाकु के पचास वंशजों ने, जिनके प्रमुख शकुनि थे, उत्तरापथ (उत्तर-पश्चिम भारत) पर अधिकार किया।[१६]

११—वसति के अड़तालीस वंशजों ने दक्षिणापथ पर अधिकार किया।[१७]

१२—इक्ष्वाकु के ज्येष्ठ पुत्र विकुक्षि के बाईस वंशजों ने मेरु के उत्तर प्रदेश (सुमेरिया) पर अधिकार किया।[१८]

१३—उन्हीं के अन्य एक सौ चौदह वंशजों ने मेरु के दक्षिण देश में उपनिवेश बनाया।[१९]

चंद्रवंश का विस्तार—यह वंश अत्यंत वीर्यवान् और संततिशील था। सूर्य वंश के विस्तार के बाद ही इसका विस्तार आरंभ हुआ और अनेक स्थानों में इसने उसे अपने अधीन कर लिया।

१—पुरूरवा के पुत्र आयु के अधीन प्रधान शाखा प्रतिष्ठान में चलती रही।[२०]

१०—मत्स्य०, १२।२०-१

११—भागवत०, ९।२।१७-१८

१२—विष्णु०, ४।१।२०-३४

१३—शिव०, ७।६०।१६

१४—वायु०, ८९।१-२, ६

१५—शिव०, ७।३।३३-५, ३७

१६—वही।

१७—वही।

१८—वही।

१९—वही।

२०—वायु०, ९१।५१-२

२—पुरूरवा के एक दूसरे पुत्र अमावसु ने कान्यकुब्ज (=कन्नौज) में एक वंश की स्थापना की।[21]

३—पुरूरवा के पौत्र तथा आयु के पुत्र क्षत्रवृद्ध ने काशी में एक वंश की स्थापना की।[22]

४—नहुष के पुत्र और उत्तराधिकारी ययाति बहुत बड़े विजेता थे। उन्होंने उत्तर-पश्चिम, दक्षिण-पूर्व और दक्षिण-पश्चिम की ओर बहुत से प्रदेश जीते। भारतीय इतिहास में वे प्रथम सम्राट् हुए।[23]

५—ययाति के पाँच पुत्र थे—यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु। ययाति का राज्य इन पुत्रों में इस प्रकार बँटा था[24]—

(१) कनिष्ठ पुत्र पुरु प्रतिष्ठान में ययाति के उत्तराधिकारी हुए।

(२) यदु को चर्मण्वती (चंबल), वेत्रवती (बेतवा) और शुक्तिमती (केन) के तट का राज्य मिला।

(३) तुर्वसु को दक्षिण-पूर्व का प्रदेश मिला। पीछे उनके वंशज उत्तर-पश्चिम की ओर चले गए।

(४) द्रुह्यु को यमुना के पश्चिम और चर्मण्वती के उत्तर का देश दिया गया। पीछे उनके वंशज उत्तर-पश्चिम की ओर गए।

(५) गंगा-यमुना दोआब का उत्तरी भाग अनु को मिला।

उत्तर-पश्चिम में चंद्रवंश की उत्तरकालीन स्थिति—

१—यादव (यदुवंशी) लोग अपने राजा शशबिंदु की अधीनता में बहुत शक्तिशाली हो गए।[25] उन्होंने द्रुह्यु के वंशजों को उत्तर-पश्चिम की ओर पंजाब में ढकेल दिया।[26] पीछे अयोध्या के सम्राट् मांधाता ने द्रुह्यु-वंशियों को और उत्तर-पश्चिम ढकेला, जहाँ उनके राजा गांधार ने जाकर गांधार राज्य स्थापित किया।[27]

२१—वही। २२—वही।

२३—ब्रह्मांड०, ३।६८।१२-१३

२४—वायु०, ९३।९०; ब्रह्मांड०, ३।६८, ९२

२५—वायु०, ९५।१९ २६—वही।

२७—वही, ९९।९

२—यादवों ने प्रतिष्ठान के मूल चंद्रकुल को भी दबा लिया और पौरवों को उत्तर-पश्चिम की ओर जाने के लिये विवश किया।[२९]

३—मांधाता ने आनवों को भी, जिनका राज्य अयोध्या और द्रुह्यु राज्य के बीच था, उत्तर-पश्चिम की ओर पंजाब में जाने के लिये विवश किया।

४—आनव राजा उशीनर के पुत्र शिवि से पंजाब में शिविवंशियों का विस्तार हुआ और उनके पुत्रों ने वृषदर्भ, मद्र, केकय और सौवीर राज्यों की स्थापना की।[३०]

५—द्रुह्युओं ने अपने राज्य के पूर्वी भाग को खोकर भी गांधार पर अपना अधिकार बनाए रखा। पाँच पीढ़ियों के बाद उनकी संख्या बढ़ने लगी और उत्तर-पश्चिम बढ़कर उन्होंने भारत के बाहर म्लेच्छ देशों में कई राज्य स्थापित किए।[३१]

६—मांधाता तथा यादवों के द्वारा प्रतिष्ठान से उद्वासित होकर पौरव लोग उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़े और हस्तिनापुर नगर बसाया। दुष्यंत ने पौरव वंश को पुनः संघटित किया। शकुंतला से उत्पन्न उनके यशस्वी पुत्र भरत उनके उत्तराधिकारी हुए। उनके उत्तराधिकारी भारत लोग भारतीय इतिहास में बहुत प्रसिद्ध हुए। संपूर्ण देश ही उनके नाम पर भारतवर्ष कहलाया।[३२]

७—भरतवंश के एक पुरुष ने गंगा यमुना दोआब के उत्तारी भाग पर अधिकार किया। वहाँ एक भारत राजा भ्रम्याश्व के पाँच पुत्र हुए जिनका संयुक्त नाम पांचाल था, और उन्हीं के नाम पर उनके राज्य का नाम भी पांचाल पड़ा। उनमें एक का नाम मुद्गल था जिसके पुत्र वध्र्यश्व ने अपने राज्य का बहुत विस्तार किया। वध्र्यश्व के पुत्र

२८—विष्णु०, ४।४।१

२९—वही।

३०—ब्रह्मांड, ३।७४।१५-१६

३१—प्रचेतसः पुत्रशतं राजानः सर्व एव ते।
म्लेच्छराष्ट्राधिपाः सर्वे ह्युदीचीं दिशमाश्रिताः॥
—वायु०।

३२—भागवत०, ९।२३।१७-१८

दिवोदास ने उसे और बढ़ाया। दिवोदास के उत्तराधिकारियों--मित्रायु, मैत्रेय, सृंजय, च्यवन और सुदास—ने देश के राजनीतिक और धार्मिक इतिहास में बड़े महत्वपूर्ण कार्य किए। सुदास ने उत्तर-पश्चिम में बहुत से प्रदेश जीते। महाभारत के अनुसार उसने परुष्णी (रावी) नदी के तटवर्ती पड़ोसी राज्य-संघ को पराजित किया।[३३]

पुराणों के साक्ष्य का निष्कर्ष

१—भारतीय आर्यों की आदि भूमि मध्यदेश थी। इसका केंद्र अयोध्या और प्रतिष्ठान (इलाहाबाद) के बीच था, जहाँ आर्यों के दो आदि कुलों (सूर्यवंश और चंद्रवंश) का उदय हुआ था। स्थूल रूप से इसके अंतर्गत संपूर्ण युक्तप्रांत और बिहार, सरस्वती तक पूरबी पंजाब तथा मध्यदेश का पूरबी भाग सम्मिलित था। इस निष्कर्ष का आधार यह है कि आर्यों के आदि कुलों की पूर्व शाखाओं को इन क्षेत्रों में बसने में अनार्यों से किसी प्रकार का युद्ध या संघर्ष नहीं करना पड़ा था, जिससे सिद्ध होता है कि आर्य वहाँ पहले ही से बस गए थे।

२—ये लोग अपने मूल केंद्र अयोध्या और प्रतिष्ठान से पूर्व, दक्षिण और पश्चिम की ओर फैले। माना जाता है कि आर्य पश्चिमोत्तर गिरि-मार्गों से भारत पर आक्रमण करके पूर्व की ओर बढ़े, किंतु तथ्य यह है कि इक्ष्वाकु के कुछ निकट वंशजों से लेकर पांचाल राजा सुदास के समय तक उनका बढ़ाव मध्यदेश से ही पश्चिम-उत्तर की ओर रहा।

३—आर्यों ने केवल भारत के भीतर ही अपना विस्तार करके संपूर्ण उत्तरापथ (पश्चिमोत्तर भारत) पर अधिकार नहीं किया, प्रत्युत पश्चिमोत्तर गिरि-मार्गों को पार करके उन्होंने अफगानिस्तान, मध्य एशिया, फारस तथा पश्चिम एशिया में भूमध्य सागर तक की संपूर्ण भूमि पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

पार्जिटर के मत की समीक्षा

१—परंपरानुसार ऐल या आर्य इलाहाबाद = (प्रतिष्ठान)से चलकर उत्तर-पश्चिम, पश्चिम और दक्षिण विजय करके वहाँ फैल गए और ययाति के समय तक उस प्रदेश पर अधिकार कर लिया जिसे मध्यदेश कहते हैं।[३४]

३३—अग्नि०, २७७।२०; गरुड़, १।१४०।९

३४—एफ० ई० पार्जिटर, एंशंट इंडियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन, पृ० २९६।

"भारतीय अनुश्रुतियों में अफगानिस्तान से भारत पर ऐलों या आर्यों के आक्रमण या वहाँ से पूर्व की ओर उनके बढ़ाव का कहीं पता नहीं है। इसके विपरीत वे स्पष्ट रूप से बतलाती हैं कि पश्चिमोत्तर मार्गों से द्रुह्यु (जो ऐल थे) भारत के बाहर गए जहाँ उन्होंने कई राज्य स्थापित किए और भारतीय धर्म का प्रचार किया।"[१५] यहाँ तक तो ठीक है। किंतु पार्जिटर ने कुछ और निष्कर्ष निकाले हैं जिनका किसी पुराण से समर्थन नहीं होता।

२—"ऐलों या आर्यों की उत्पत्ति के विषय में अनुश्रुतियाँ क्या कहती हैं? वे बतलाती हैं कि ऐल सत्ता का आरंभ इलाहाबाद से हुआ, किंतु साथ ही स्पष्ट रूप से संकेत करती हैं कि ऐल भारत के बाहर थे। लोककथाएँ ऐलों के पुरखा पुरूरवा ऐल का संबंध हिमालय के मध्यवर्ती प्रदेशों से जोड़ती हैं।[१६]

इस निष्कर्ष का आधार यह है कि मनु की कन्या इला मध्यवर्ती हिमालय प्रदेश में गिरि-विहार के उद्देश्य से गई थी जहाँ सोम के पुत्र बुध से उसकी भेंट हुई। किंतु कहीं से भी यह संकेत नहीं मिलता कि बुध अथवा सोम मध्यवर्ती हिमालय प्रदेश के ही थे, अथवा वहाँ भारत के बाहर से आए थे। इसके विपरीत, परवर्ती घटनाओं से पुष्ट यह स्पष्टतर संकेत मिलता है कि बुध भी इला की भाँति वहाँ गिरि-विहार के लिये प्रतिष्ठान से गया था जहाँ उसका पुत्र पुरूरवा उसके सिंहासन का उत्तराधिकारी हुआ। यदि ऐल या आर्य मध्यवर्ती हिमालय प्रदेश से होकर उत्तर की ओर से आक्रमण करते तो वे मार्ग में अयोध्या के मानवों को यों ही छोड़कर सीधे प्रतिष्ठान न पहुँच जाते। स्वाभाविक निष्कर्ष यही है कि मानव और ऐल दोनों ही आर्य-कुल मध्यदेश में बसे हुए थे और मध्यवर्ती हिमालय प्रदेश उसका बाह्य अंचल था जहाँ लोग विहार अथवा तपश्चर्या के निमित्त जाया करते थे। इसके अतिरिक्त सीधे उत्तर से आर्य-आक्रमण के प्रतिकूल अन्य बाधाएँ भी हैं। एक तो दुर्गम हिमालय को पार करने की असंभव कठिनाई है; और दूसरे भारतीय आर्यों और हिमालय पार के मंगोलों में कोई जातिगत साम्य नहीं है।

३—पार्जिटर के मत से मानव लोग द्रविड़ जाति के थे और सौद्युम्न, मुंडा-मानख्मेर जाति के।[१७] मानव जाति के संबंध में उनका मुख्य तर्क यह है कि पुराणों

१५—वही पृ० २९८

१६—वही, पृ० २९७

१७—वही, पृ० २९८

में मानवों का ऐलों से (आर्यों) से भिन्न जाति के रूप में वर्णन हुआ है और वे ऐलों के पहले ही से भारत में रहते थे। उनके विचार से आर्यों के पहले के लोग द्रविड़ थे। सबसे पहले तो मानवों का ऐलों से भिन्न जाति के रूप में वर्णन ही नहीं हुआ है। उनमें बराबर आपस में वैवाहिक संबंध होते थे जो जाति-साम्य का ही सूचक है। जाति, भाषा और धर्म की दृष्टि से दोनों समान ही कहे गए हैं। इसके अतिरिक्त भारत में द्रविड़ों का केंद्र आजकल की भाँति अतीत में भी दक्षिण में ही था जहाँ से वे कालांतर में युद्ध, व्यापार आदि के प्रसंग से उत्तर भारत में आए। अतः उत्तर में उनका मूल स्थान ढूँढ़ना सर्वथा अनावश्यक है।

सौद्युम्नों के संबंध में पार्जिटर का विचार है कि वे दक्षिण-बिहार और उड़ीसा में राज्य करते थे, इसलिये वे मुंडा-मानख्मेर जाति के थे। किंतु पुराणों में सौद्युम्नों का मानवों के ही एक उपकुल के रूप में वर्णन हुआ है जिसका मानवों के साथ विवाह-संबंध होता था। सौद्युम्न लोग बिहार-उड़ीसा के पर्वतों तथा अरण्यों में बसनेवाले उन मुंडा-मानख्मेर लोगों से बिलकुल भिन्न थे जो अपनी जातिगत बिशेषताओं को आज भी उसी रूप में बनाए हुए हैं।

पौराणिक साक्ष्य और वेद

पौराणिक साक्ष्यों का वेदों में आए हुए आनुषंगिक उल्लेखों से पूर्ण समर्थन होता है। वास्तव में वैदिक उल्लेखों का तात्पर्य पौराणिक इतिहास के ही प्रसंग में ठीक ठीक समझा जा सकता है। भारतीय अनुश्रुतियों से भी इस बात की पुष्टि होती है। यथा—

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चेत् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥[१८]

अर्थात् सांगोपनिषद् वेदज्ञ द्विज भी पुराण-ज्ञान के बिना विचक्षण नहीं माना जा सकता। इतिहास-पुराण की सहायता से वेदों का समुपबृंहण (व्याख्या, अर्थ-विस्तार) करना चाहिए। अल्पश्रुत से तो वेद डरता है कि वह मुझपर प्रहार करेगा।

१८—पद्मपु० ५।२।५०-१

वेदों और पुराणों में निम्नलिखित समानोक्तियाँ विशेष रूप से लक्ष्य करने योग्य हैं—

१—पुराणोल्लिखित पश्चिमोत्तर की ओर बढ़नेवाले प्रायः सभी आर्यकुलों और राजाओं का वेदों में उल्लेख हुआ है। किंतु वेदों के आधार पर हम उनके कालक्रम तथा स्थान का निश्चय नहीं कर सकते और पुराणों में एतत्संबंधी वर्णन पाए जाते हैं। पुराणों में ययाति के पाँच पुत्रों और उनके अन्वधिकारियों—पुरु, यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु और अनु—का इतिहास वर्णित है; वेदों में उनके वंशजों—अनु, द्रुह्यु, तुर्वसु, यदु तथा पुरुओं—का उल्लेख हुआ है।[३९]

२—पुराणों में पांचाल राजा सुदास और पंजाब के राजाओं के बीच युद्धों का वर्णन है। वेदों में भी सुदास तथा पंजाब की दस जातियों के बीच हुए दाशराज्ञ युद्ध का वर्णन है।[४०]

३—पुराणों में आर्यों के मध्यदेश से उत्तर-पश्चिम की ओर प्रसार का व्यवस्थित वर्णन पाया जाता है। ऋग्वेद में भी उसके नदी-विषयक मंत्र में आर्यों के क्रमशः गंगा, कुभा (काबुल), गोमती (गोमल) और क्रमु (कुर्रम) नदियों को पार कर अपने रथों और घोड़ों सहित पश्चिम की ओर बढ़ने का स्पष्ट निर्देश है।[४१]

इस संबंध में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि ऋग्वेद में नदियाँ पूर्व से पश्चिम की ओर गिनाई गई हैं, जो आर्यों के बढ़ाव की दिशा का द्योतक है।[४२] खेद है कि आर्यों की विदेशी उत्पत्ति के मत के समर्थक इस तथ्य की उपेक्षा कर जाते हैं और उत्तर-पश्चिम की ओर से आर्य-आक्रमण सिद्ध करने के लिये इसी मंत्र का आधार लेते हैं।

३९—ऋग्वेद ७।३३।२,५; ८।३।८

४०—वही ७।३३।८३

४१—वही १०।७५

४२—इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वती शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्णया:। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्यासुषोमया। तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्वा॥ त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे। ऋजीत्येनी रुशती परिजयांसि भरते रजांसि॥

—ऋग्वेद, १०।७५।४६

४—मध्यदेश से पश्चिम और दक्षिण बढ़ते हुए आर्यों को जिन अनार्य जातियों से युद्ध करना पड़ा उन्हें पुराणों में असुर, दानव, राक्षस, पिशाच आदि कहा गया है। ये सभी नाम वेदों में भी पाए जाते हैं।

पुराण और भाषाशास्त्र

आर्य जाति की आदि भूमि के संबंध में भाषाशास्त्रियों की मुख्य स्थापना यह है कि पूर्व में गंगा से पश्चिम में आयरलैंड तक फैली हुई भारोपीय भाषा में कुछ निश्चित पारिवारिक समानता है जो भारत-यूरोपीय आर्यों की एक सामान्य आदि भूमि का सूचक है। भाषाशास्त्रियों के भिन्न भिन्न संप्रदाय इस आदि भूमि को भिन्न भिन्न स्थानों में, जैसे मध्यएशिया, मेसोपोटामिया तथा यूरप के कतिपय केंद्रों में बतलाते हैं। इसके लिये उनका मुख्य आधार उक्त भाषाओं में पाए जानेवाले सामान्य शब्दों पर से किया गया अनुमान है। यह अनुमान कितना अनिश्चित और बलहीन है, यह एतत्संबंधी भिन्न भिन्न सिद्धांतवादियों के मतभेदों से स्पष्ट है। लेखक के विचार से भारोपीय जातियों के भाषा-साम्य का प्रश्न पुराणों की सहायता से संतोषजनक रीति से सुलझाया जा सकता है और विद्वानों के मतभेदों का भी निराकरण किया जा सकता है। पुराण अत्यंत स्पष्ट शब्दों में बतलाते हैं कि आर्यों का अभ्युदय मध्यदेश में हुआ और यहीं से वे भारत के भिन्न भिन्न भागों में फैले। यहीं से पश्चिम की ओर जाकर उन्होंने पंजाब, सीमाप्रांत तथा काबुल की घाटी पर अधिकार किया। जो लोग अधिक साहसी थे उन्होंने और आगे बढ़कर मध्य तथा पश्चिम एशिया में उपनिवेश बनाए। भूमध्य सागर तक पहुँचने पर उनका संपर्क यूरोपीय जातियों से हुआ। पुराणों में वर्णित आर्यों के उक्त-विध प्रसार को मान लेने से एशिया और यूरप की भिन्न भिन्न भाषाओं में पाए जानेवाले संस्कृत-मूलक शब्दों तथा भारतीय और ईरानी भाषाओं के बीच निकट संबंध की समस्या अपने आप सुलझ जाती है। भाषाशास्त्र अनुमान का आश्रय अधिक लेने के कारण अनिश्चयात्मक है। परंतु पुराणों का साक्ष्य अनुमान पर नहीं, प्रत्युत तथ्यों के स्पष्ट वर्णन पर अवलंबित है, अतः वह भाषाशास्त्र की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है।

समीक्षा

काव्यालोचन के सिद्धांत—लेखक श्री शिवनंदन प्रसाद एम० ए०, साहित्यरत्न; भूमिका-लेखक—श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी; प्रकाशक—ग्रंथमाला कार्यालय, पटना; पृष्ठ संख्या १६७+४४+१०; मूल्य २॥)

पुस्तक का विषय नाम से ही प्रकट है। इसमें काव्य की आलोचना के सिद्धांतों का निरूपण है। लेखक का यह कथन यथार्थ है कि "हिंदी में सैद्धांतिक आलोचना से संबंध रखनेवाली अनेक पुस्तकें निकल रही हैं, पर संपूर्ण काव्यशास्त्र का विवेचन करनेवाला कोई एक ऐसा ग्रंथ अभी तक प्रस्तुत नहीं हो पाया जो मौलिक होने के साथ-साथ साहित्य के विभिन्न तत्त्वों की गहरी छानबीन करे।" अभी ऐसा होने के कोई लक्षण भी समीक्षक को नहीं दिखाई पड़ रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक लिखने की प्रेरणा लेखक को काव्यशास्त्र के विविध पहलुओं से हिंदी विद्यार्थियों को परिचय करानेवाले और काव्यालोचन के लिये सुनिश्चित व्यावहारिक मानदंड प्रदान करनेवाले ग्रंथों के अभाव के कारण हुई। यह पुस्तक उस अभाव की पूर्ति नहीं है, न लेखक का ऐसा दावा ही है, पर इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि यह 'इस दिशा में हिंदी के विद्यार्थियों की थोड़ी सहायता करने का और इस विषय के अधिकारी विद्वानों का इधर ध्यान आकर्षित करने का' प्रशंसनीय प्रयास है।

इस पुस्तक में छः अध्याय हैं—हिंदी आलोचना का इतिहास, समालोचना-शास्त्र, भारतीय काव्यशास्त्रों का ऐतिहासिक विकास, कुछ विशिष्ट काव्य-सिद्धांतों के सैद्धांतिक रूप, काव्य (कविता) और काव्योत्कर्ष की कसौटी। अंत में चार परिशिष्टों में शब्दशक्ति, रस, अलंकार और छंदों का भी वर्णन है। संक्षेप में बी० ए० या समकक्ष परीक्षा के विद्यार्थियों के लिये सैद्धांतिक आलोचना संबंधी जानकारी एकत्र रखने का प्रयत्न किया गया है। संभवतः इसी कारण अनेक विषयों का विस्तृत विवेचन नहीं हो सका है और किन्हीं का केवल नामोल्लेख मात्र कर देना पड़ा है। वर्गीकरण पर अधिक ध्यान दिया गया है। रस-पद्धति को संभवतः आधुनिक आलोचना के लिये उपयोगी न समझकर गौण रूप से परिशिष्ट में उसकी चर्चा की गई है। आधुनिक आलोचना से उसका मेल नहीं हो सका है। पुस्तक में पाश्चात्य समीक्षा पर आधृत आधुनिक वादों और पद्धतियों का मुख्यतः विवेचन है। वादों

में हालावाद और छंदों में रबर छंद तक की प्रतिष्ठा की गई है। पंडित रामचंद्र शुक्ल की पद्धति किंचित् विस्तार के साथ दी गई है। काव्योत्कर्ष की कसौटी में अनेक दृष्टियों से काव्य को परखने की विधि दी गई है, यद्यपि किसी एक समन्वित दृष्टि का अभाव है। पर सब मिलाकर, प्राचीन रूढ़िवाद और आधुनिक संकीर्ण वादों के बीच लेखक की दृष्टि स्वस्थ एवं अपने क्षेत्र के भीतर सुस्पष्ट है। विषय-संग्रह की दृष्टि से पुस्तक विद्यार्थियों के लिये अधिक उपयोगी है।

मुद्रण के संबंध में भी कुछ कहना आवश्यक जान पड़ता है। हिंदी के पाठक मुद्रण की भूलों के अभ्यस्त हैं, अधिकांश हिंदी मुद्रक इसे अपना प्रकृत अधिकार मानते हैं। अतः 'उदाहण' (पृ० १३२), 'रदस-शा' (पृ० १४०), आदि को 'उदाहरण' और 'रसदशा' समझने में प्रयास नहीं करना पड़ेगा। पर 'श्रुत्यानुप्रास' (पृ० ४८१), 'जो चीज प्रस्तुत किये जायँ' (पृ० १४६), 'वादों की चौखटे में उसे सदा "फीट" नहीं किया जा सकता'—इस प्रकार के उदाहरण विरसता उत्पन्न करते हैं। और 'वक्र' (=वक्तृ, पृ० १७२), 'उपपत्तिवाद' (उत्पत्तिवाद, पृ० १७६), 'अनुयितिवाद' (अनुमितिवाद, पृ० १७६), 'मुक्तिवाद' (मुक्तिवाद, पृ० १७६) जैसी अशुद्धियाँ विरसता उत्पन्न करने के साथ साथ विद्यार्थी को भ्रम में डालनेवाली हैं। आशा है अगले संस्करण में ऐसी एक भी भूल न रहने दी जायगी।

—चित्रगुप्त।

हिंदी की पत्र-पत्रिकाएँ—संपादक अखिल विनय, श्री गंगाराम वर्मा चंचल; प्रकाशक हिंदी साहित्य समिति, बिड़ला कालेज, पिलानी (जयपुर); मूल्य ३॥)

लोग कहते हैं कि हिंदी में पत्र-पत्रिकाओं की इन दिनों बाढ़ आ गई है पर सच्ची बात तो यह है कि हिंदी भाषाभाषियों की जन-संख्या और देश का विस्तार देखते हुए ऐसा कहना भूल है। वर्तमान सभ्य देशों में तो लाखों पत्र प्रातः-सायं निकलते हैं। साहित्यिक पत्रिकाओं के अतिरिक्त भिन्न भिन्न व्यवसायों से संबंध रखनेवाली पत्रिकाएँ भी निकलती हैं। खेतिहर, ग्वाले, मोची, लोहार आदि साधारण समाचारपत्र तो पढ़ते ही हैं, उनकी अपनी अपनी अलग-अलग भी हजारों पत्रिकाएँ हैं। वहाँ पत्रकारों को विधिवत् शिक्षा देने की भी योजना है। हिंदी में तो अभी तक जो कुछ हुआ है, बहुत ही कम है। भारतेंदुजी, आचार्य द्विवेदी जी और कुछ थोड़े से अग्रगण्य विद्वानों तथा कांग्रेस और आर्यसमाज ऐसी संस्थाओं की कृपा से आज वह दिन अवश्य आ गया है कि हिंदी में पत्रकारिता एक प्रतिष्ठित व्यवसाय हो गया है।

यह कैसे हुआ, कहाँ हुआ, कब हुआ, किसने किया इन सब बातों पर इस पुस्तक के संपादकों ने अच्छा प्रकाश डाला है। जिस समिति ने यह पुस्तक प्रकाशित की है वह स्वर्गीय श्री महादेव देसाई की स्मृति में, जो स्वयं उच्चकोटि के पत्रकार थे, स्थापित हुई है। श्री कन्हैयालाल सहल का "हिंदी पत्रों के सवा सौ वर्ष" और आचार्य श्री नित्यानंद सारस्वत का "विदेशों में हिंदी पत्र"—ये दोनों लेख बड़े महत्त्व के हैं। लेखकों ने बड़ी खोज से काम लिया है। पुस्तक में दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक पत्रों के नाम, दाम, सन् आदि दे दिए गए हैं। साथ ही ऐतिहासिक बालकोपयोगी, महिलोपयोगी, धार्मिक आदि पत्र-पत्रिकाओं की सूची दे दी गई है जिनमें से कई बंद हो गई हैं और कई चल रही हैं। स्वामी भवानीदयाल संन्यासी के अफ्रीका में 'हिंदी' नाम के पत्र का तो पुस्तक में उल्लेख है पर काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा पं० चंद्रबली पांडेय के संपादकत्व में प्रकाशित 'हिंदी' नाम की मासिक पत्रिका का उल्लेख नहीं है, जो सं० १९९७ से २००० तक निकली थी और जिसका वार्षिक मूल्य पहले केवल ॥) और पीछे ॥।) था। पं० केशवदेव शास्त्री ने काशी में 'नवजीवन' पत्र निकाला था जिसका समय शायद सन् १९१० से १९१२ था। समाज-सुधार संबंधी स्वतंत्र विचारों के लिये उसकी बड़ी ख्याति हुई थी। महामना पं० मदनमोहन मालवीय के तत्त्वावधान में पं० सीताराम चतुर्वेदी ने 'सनातनधर्म' नाम का एक पत्र शायद १९३२ से १९३० तक निकाला था। इन दोनों का भी उल्लेख नहीं है।

यहाँ यह भी बतला देना चाहिए कि काशी के जिस 'सुदर्शन' पत्र का इस पुस्तक में उल्लेख है वह लहरी प्रेस में छपता था और उसके संपादक पं० माधवप्रसाद मिश्र थे जिनसे एक बेर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से बड़ा रोचक और विद्वत्तापूर्ण शास्त्रार्थ छिड़ गया था जिसके कारण 'सरस्वती' और 'सुदर्शन की माँग बढ़ गई थी।

जो कुछ हो, इस पुस्तक के संपादकों को जितनी सामग्री उपलब्ध हुई है उसका उन्होंने प्रशंसनीय उपयोग किया है। पत्रों को वर्णानुक्रम सूची से पता चलता है कि एक ही नाम के कई पत्र भिन्न-भिन्न स्थानों से समय-समय पर निकले हैं। नगर-क्रम से दी हुई सूची से मालूम हो जाता है कि किस नगर को कब और कितने पत्र निकालने का श्रेय प्राप्त है।

—राम।

समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकों की सूची स्थानाभाव के कारण इस अंक में नहीं दी जा सकी। यह आगामी अंक में प्रकाशित होगी।

—संपा०—

विविध

'पत्रिका, वर्ष ५४

इस पत्रिका के तेंतालिसवें वर्ष में प्रवेश के अवसर पर हमने इसकी पूर्वसेवाओं के सिंहावलोकन के साथ इसे 'और उपयोगी सिद्ध' करने, 'इसके द्वारा और व्यापक अनुशीलन तथा विवेचनाएँ प्रस्तुत' करने के निमित्त इसके उद्देश्यों तथा स्वरूप के नवनिश्चय का निवेदन किया था। उन्हीं उद्देश्यों की छाया में शक्ति-परिस्थिति-वश न्यूनाधिक अनुरूपता से पत्रिका के पिछले ग्यारह वर्ष पूरे हुए हैं। इस बीच इसके द्वारा उन उद्देश्यों की जितनी पूर्ति हुई है, एवं गत तिरपन वर्षों में इससे जैसी सेवा बनी है, उतनी और वैसी ही यह कृतकृत्य है।

पत्रिका का यह चौवनवाँ वर्ष, हमें सविश्वास आशा है कि, भारत तथा नागरी-हिंदी के लिये अपूर्व विधान-व्यवस्था, प्रतिष्ठा एवं अपूर्व उत्तरदायित्व के उदय का वर्ष होगा, जिसमें सर्वथा भारत निजभाग्य-विधाता बनेगा और हिंदी उसकी विधात्री भारती। इस उदय में भारतीय अनुशीलन को स्वतंत्र, सर्वमुख प्रगति का और हिंदी को उसके लिये समर्थ माध्यम बनने का संक्रांत संकल्प सँभालना होगा। निश्चय ही भारत-हिंदी या भारत-भारती के मानी-व्रती इस संकल्प को यथेष्ट सँभालेंगे, सिद्ध करेंगे। ऐसे संकल्प से ही प्रेरित इस पत्रिका के ये उद्देश्य रहे हैं :

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

इस अवसर पर पुनः हम उस संकल्प के स्मरण के साथ इन उद्देश्यों का ध्यान तथा पत्रिका को इनके यथासंभव अनुरूप प्रस्तुत करने का विनीत समारंभ करते हैं। इस नवसमारंभ में हम सहृदय पाठकजन तथा विद्वज्जन का सादर आमंत्रण करते हैं और आशंसन करते हैं कि उनके सद्भाव और सहयोग से इस पत्रिका के द्वारा उक्त संकल्प तथा उद्देश्यों की उत्तरोत्तर पूर्ति एवं भारत-हिंदी की अधिकाधिक सेवा सिद्ध हो।

भारतीय संघ की भाषा

भारतीय संविधान परिषद् द्वारा नागरी लिपि में लिखी जानेवाली हिंदी भाषा के संघ की राजभाषा के रूप में स्वीकृत हो जाने से अब उस दशकों से चलते हुए अप्रिय विवाद का अंत हो गया जो देश के भिन्न भिन्न भाषाभाषी वर्गों के बीच घातक द्वेष एवं संघर्ष का कारण बनता जा रहा था। भारतीय इतिहास की यह एक असाधारण महत्त्वपूर्ण घटना है। इतने विशाल क्षेत्र एवं जनसमूह के लिये इस देश में कभी कोई एक देशभाषा राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई हो, ऐसा इतिहास से विदित नहीं होता। यह अपूर्व हर्ष और गौरव केवल हिंदीभाषियों अथवा हिंदीप्रचारकों का नहीं, प्रत्युत भारतीय राष्ट्र के प्रत्येक हितचिंतक एवं समस्त प्रजाजन का है। प्रायः अर्धशताब्दी से जिन व्यक्तियों तथा संस्थाओं ने इस महान् तथा पावन उद्देश्य की सिद्धि के लिये उद्योग किया, त्याग-तपस्या की, वे सभी तथा भारतीय संविधान-परिषद् के सदस्य हमारे हार्दिक धन्यवाद और बधाई के पात्र हैं।

संविधान के भाषासंबंधी अंश का एक चलता अनुवाद यह है—

भाग १४ क

अध्याय १

संघ की भाषा

३०१ क—(१) संघ की सरकारी भाषा देवनागरी लिपि में लिखी हिंदी होगी। *संघ की सरकारी भाषा*

संघ के सरकारी कार्यों में प्रयुक्त होनेवाले अंकों का रूप भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप होगा।

(२) इस अनुच्छेद के वाक्य (१) की किसी बात को बाधित न करते हुए, इस संविधान के संप्रयोग के समय से १५ वर्ष की अवधि तक, उन सभी सरकारी कार्यों के लिये अंग्रेजी का प्रयोग होता रहेगा जिनके लिये वह उक्त समय में प्रयुक्त होती थी।

प्रतिबंध यह है कि राष्ट्रपति उक्त अवधि में संघ के किसी कार्य के लिये अंग्रेजी भाषा के

साथ साथ हिंदी भाषा और भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय रूप के साथ साथ देवनागरी अंकों के प्रयोग का भी अधिकार अपनी आज्ञा द्वारा प्रदान कर सकते हैं ।

(३) इस अनुच्छेद की किसी बात को बाधित न करते हुए, उक्त १५ वर्षों की अवधि के बाद पार्लामेंट कानून द्वारा, ऐसे कार्यों के लिये जिनका कि उस कानून में विनिर्देश किया गया हो,

(क) अंग्रेजी भाषा या

(ख) देवनागरी अंकों

के प्रयोग की व्यवस्था दे सकती है ।

सरकारी भाषा पर पार्लामेंट का कमीशन और समिति

३०१ ख—(१) इस संविधान के संप्रयोग के समय से ५ वर्ष बीतने पर और उसके बाद उक्त समय से १० वर्ष बीतने पर राष्ट्रपति अपनी आज्ञा द्वारा एक कमीशन बनाएँगे जिसमें एक अध्यक्ष और राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त ऐसे अन्य सदस्य होंगे जो अनुसूची ७ में विनिर्दिष्ट भिन्न भिन्न भाषाओं का प्रतिनिधित्व करेंगे । उक्त आज्ञा में कमीशन की कार्यविधि का भी स्पष्ट उल्लेख रहेगा ।

(२) कमीशन का यह कर्तव्य होगा कि निम्नलिखित बातों के संबंध में राष्ट्रपति से सिफारिश करे—

(क) संघ के सरकारी कार्यों के लिये हिंदी भाषा का अधिकाधिक प्रयोग;

(ख) संघ के किसी या सभी सरकारी कार्यों के लिये अंग्रेजी भाषा के प्रयोग पर प्रतिबंध;

(ग) इस संविधान के अनुच्छेद ३०१ ङ में कथित किसी कार्य या सभी कार्यों के लिये प्रयोज्य भाषा;

(घ) संघ के एक या अधिक विनिर्दिष्ट कार्यों के लिये प्रयोज्य अंकों का रूप ;

(ङ) संघ की सरकारी भाषा और अंतर्प्रांतीय व्यवहार की भाषा तथा उनसे संबंध रखने वाले कोई अन्य विषय जिन्हें राष्ट्रपति कमीशन के पास भेजें ।

(३) इस अनुच्छेद के वाक्य २ के अंतर्गत सिफारिशें करने में कमीशन भारत की औद्योगिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक उन्नति का और सरकारी नौकरियों के संबंध में अहिंदीभाषी क्षेत्रों की उचित माँगों और स्वार्थों का समुचित ध्यान रखेगा ।

(४) ३० सदस्यों की एक समिति बनाई जायगी जिसमें २० लोकसभा के और १० राज्यपरिषद् के सदस्य होंगे । ये सदस्य क्रमशः लोकसभा और राज्यपरिषद् के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के अनुसार एक-परिवर्त्य मत द्वारा चुने हुए होंगे ।

(५) समिति का कर्तव्य होगा कि वह इस अनुच्छेद के अंतर्गत बनाए गए कमीशन की सिफारिशों की जाँच करके उनपर राष्ट्रपति को अपनी सम्मति निवेदित करे ।

(५) इस संविधान के अनुच्छेद ३०१ क में सन्निविष्ट किसी बात का विरोध न करते हुए राष्ट्रपति इस अनुच्छेद के वाक्य (४) में उल्लिखित सम्मति पर विचार करने के बाद पूरी या आंशिक सम्मति के अनुसार आदेश जारी कर सकते हैं।

अध्याय २

प्रादेशिक भाषाएँ

किसी प्रांत की सरकारी भाषा या भाषाएँ

३०१ ग—अनुच्छेद ३०१ घ और ३०१ ङ की व्यवस्थाओं के अधीन, कोई प्रांत, उस प्रांत में प्रयुक्त किसी भाषा को या हिंदी को, कानून द्वारा, उस प्रांत के किसी या सभी सरकारी कार्यों के लिये प्रयोज्य भाषा या भाषाओं के रूप में रख सकता है।

प्रतिबंध यह है कि जब तक उस प्रांत की व्यवस्थापिका कानून द्वारा अन्य व्यवस्था न करे तब तक अंग्रेजी भाषा उस प्रांत के भीतर उन सभी सरकारी कार्यों के लिये प्रयुक्त होती रहेगी जिनके लिये वह इस संविधान के संप्रयोग के समय प्रयुक्त होती थी।

प्रांतों के परस्पर व्यवहार तथा प्रांतों और संघ के बीच व्यवहार की सरकारी भाषा

३०१ घ—संघ में अभी सरकारी कार्यों में प्रयोग के लिये अधिकृत भाषा वही रहेगी जो प्रांत-प्रांत के बीच और प्रांत और संघ के बीच व्यवहार की सरकारी भाषा होगी।

प्रतिबंध यह है कि यदि दो या अधिक प्रांत यह स्वीकार करें कि उनके परस्पर व्यवहार की सरकारी भाषा हिंदी हो तो वह भाषा ऐसे व्यवहार के लिये प्रयुक्त हो सकेगी।

३०१ ङ—जब किसी प्रांत के काफी बड़े जनवर्ग की ओर से माँग किए जाने पर राष्ट्रपति को यह विश्वास हो कि वह जनवर्ग अपने द्वारा बोली जानेवाली किसी भाषा को राष्ट्र से स्वीकृत कराने का इच्छुक है, तो वे आदेश दे सकते हैं कि वह भाषा उस प्रांत भर में या उसके किसी भाग में सरकारी तौर पर ऐसे कार्य के लिये स्वीकृत की जाय जिसका वे विनिर्देश करें।

अध्याय ३

सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों आदि की भाषा

सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों में प्रयोग की तथा बिलों और कानूनों की भाषा

३०१ च—(१) इस भाग की पूर्वोक्त व्यवस्थाओं में सन्निविष्ट किसी बात को बाधित न करते हुए, जब तक पार्लमेंट कानून द्वारा अन्य व्यवस्था न करे तब तक—

(क) सर्वोच्च न्यायालय और प्रत्येक उच्च न्यायालय में सभी कार्य

(ख) तथा

[१] पार्लमेंट की किसी सभा में या किसी प्रांत की किसी व्यवस्थापिका में उपस्थित किए जानेवाले बिलों या उनके संशोधनों,

[२] पार्लमेंट या किसी प्रांत की व्यवस्थापिका द्वारा पास किए हुए सभी कानूनों और राष्ट्रपति या किसी गवर्नर या शासक द्वारा जारी किए हुए सभी आर्डिनेंसों, जिनका प्रसंग हो,

[३] संविधान के अंतर्गत अथवा पार्लमेंट या किसी प्रांत की व्यवस्थापिका द्वारा बनाए गए किसी कानून के अंतर्गत जारी की हुई सभी आज्ञाओं, नियमों, उपनियमों और उपकानूनों,

के प्रामाणिक वाचन अंग्रेजी भाषा में होंगे।

(२) इस अनुच्छेद के वाक्य (१) के उपवाक्य (क) में उल्लिखित कोई बात किसी प्रांत के लिये, उसके उच्च न्यायालय में निर्णयों, डिग्रियों और आदेशों को छोड़कर अन्य कार्यों के लिये, राष्ट्रपति की अनुमति से, हिंदी भाषा को अथवा उस प्रांत के सरकारी कार्यों के लिये स्वीकृत किसी अन्य भाषा को नियत करने में बाधक नहीं होगी।

(३) इस अनुच्छेद के वाक्य (१) के उपवाक्य (ख) में सन्निविष्ट किसी बात को बाधित न करते हुए, जब किसी प्रांत की व्यवस्थापिका बिलों, विधानों, आर्डिनेंसों और कानून का बल रखनेवाली आज्ञाओं तथा उक्त उपवाक्य में निर्दिष्ट नियमों के लिये अंग्रेजी से भिन्न किसी अन्य भाषा का प्रयोग विहित कर दे तो उसका गवर्नर द्वारा या राज्य के शासक द्वारा प्रमाणित अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया जायगा और वही इस अनुच्छेद के अंतर्गत उसका अंग्रेजी भाषा का प्रामाणिक वाचन माना जायगा।

३०१ छ—इस संविधान के संप्रयोग के समय से १५ वर्ष की अवधि के भीतर कोई भी बिल या संशोधन जिसमें इस संविधान के अनुच्छेद ३०१ च के वाक्य १ में कथित किसी कार्य के लिये प्रयोज्य भाषा के संबंध में व्यवस्था दी होगी, राष्ट्रपति की स्वीकृति बिना पार्लमेंट की किसी सभा में उपस्थित नहीं किया जायगा, और राष्ट्रपति इस संविधान के अनुच्छेद ३०१ ख के अंतर्गत बनाए गए कमीशन की सिफारिशों तथा उस अनुच्छेद में निर्दिष्ट समिति की सम्मति पर विचार किए बिना, ऐसे बिलों या संशोधनों को उपस्थित करने की स्वीकृति नहीं देंगे।

अध्याय ४

विशेष आदेश

३०१ ज—प्रत्येक व्यक्ति को, किसी शिकायत को दूर कराने के लिये, संघ या प्रांत के किसी अफसर या अधिकारी को, संघ या प्रांत में—जिसका प्रसंग हो—प्रयुक्त किसी भाषा में आवेदनपत्र देने का अधिकार होगा।

शिकायतें दूर कराने के लिये आवेदन पत्र की भाषा

३०१ झ—संघ का कर्तव्य होगा कि वह हिंदी का प्रचार बढ़ाए और उसे इस प्रकार विकसित करे जिससे वह भारत की संमिश्र संस्कृति के सभी वर्गों के विचार-प्रकाशन का साधन बन सके। हिंदी को समृद्ध बनाने के लिये वह उसकी स्वाभाविक शक्ति को नष्ट किए बिना उसमें हिंदुस्तानी और भारत की अन्य भाषाओं में प्रयुक्त रूपों, शैलियों और अभिव्यक्तियों का समावेश करे तथा जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो वहाँ मुख्यतः संस्कृत और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करे।

हिंदी के विकास के लिये आदेश

अनुसूची ७ क

[अनुच्छेद ३०१ ख]

१—असमिया। २—बंगाली। ३—कन्नड़। ४—गुजराती। ५—हिंदी। ६—कश्मीरी। ७—मलयालम्। ८—मराठी। ९—उड़िया। १०—पंजाबी। १० क—संस्कृत। ११—तामिल। १२—तेलेगु। १३—उर्दू।

यद्यपि संविधान के उपर्युक्त भाषासंबंधी अंश का स्वीकार अनेक ननु-नच एवं किंतु-परंतु के साथ हुआ, तथापि संविधान के स्वीकृत हो जाने पर अब हमें मानना चाहिए कि परिस्थितिवश वही स्वाभाविक था और उसी रूप में वह हमारे लिये ग्राह्य है। उसके आधार पर अब हमें आगे का पथ निश्चित करना आवश्यक है। हिंदी-हितैषियों का कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ, वस्तुतः उनका उत्तरदायित्व और कर्तव्य-भार अब पहले से कई गुना अधिक बढ़ गया है। इस दृष्टि से उन भाषा-अनुच्छेदों की व्यापकता पर विचार करने की आवश्यकता है।

संविधान के भाषासंबंधी अंश की दो बातों पर विशेष और व्यापक रूप से असंतोष प्रकट किया गया है—एक तो यह कि हिंदी भाषा और नागरी लिपि के साथ अंक नागरी के न रखकर अंग्रेजी के ही—यद्यपि उन्हें भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप कहा गया है—रखे गए हैं; दूसरे, संविधान के संप्रयोग के समय से १५ वर्ष

की अवधि तक उन सभी सरकारी कार्यों में अंग्रेजी का प्रयोग होता रहेगा जिनमें वह उक्त समय में प्रयुक्त होती थी। निष्पक्ष विचार से, इसमें कोई संदेह नहीं कि यह असंतोष वास्तविक और उचित है। वस्तुतः अनुच्छेद ३०१ क (१) के प्रथम वाक्य के साथ उक्त दोनों बातों का कोई तुक, कोई सामंजस्य नहीं। हिंदी भाषा और नागरी लिपि के साथ उसके अपने नागरी अंक ही होने चाहिएँ—इसके विरुद्ध कोई ठोस और संगत तर्क उपस्थित नहीं किया गया, न किया ही जा सकता। किंतु जैसा पहले कहा जा चुका है, जो हुआ, परिस्थितवश वही स्वाभाविक था; वह हमारे वर्त्तमान सामाजिक और राजनीतिक जीवन की विविध असमंजसताओं तथा बेतुकेपन का ही प्रतीक है। अंतः राष्ट्र के हित को देखते हुए विषम विरोध के समक्ष आवश्यक समझौते के रूप में जो स्वीकृत हुआ वह संप्रति हमारे लिये मान्य है। अब यह हमारे उचित प्रयत्न पर ही निर्भर है कि नागरी लिपि के साथ अंग्रेजी अंकों का यह संबंध स्थायी हो, अथवा शीघ्र से शीघ्र उनके स्थान पर नागरांकों को प्रतिष्ठित किया जाय।

१५ वर्ष की अवधि के संबंध में भी प्रायः यही बात कही जा सकती है। इतनी लंबी अवधि का अड़ंगा व्यर्थ है। स्वतंत्र राष्ट्र और उसकी एक अपनी स्वतंत्र भाषा के बीच विदेशी भाषा का एक दिन, एक क्षण का भी व्यवधान असह्य है। परंतु जो लोग हिंदी का विरोध करने पर तुले हुए थे—चाहे यह विरोध किसी भी कारण से हो—उनका ध्यान सर्वथा न रखने से देश को विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ सकता था, अतः उनके साथ समझौता अनिवार्य था। परंतु अनुच्छेद ३०१ क (३) में १५ वर्ष की अवधि पर भी संतोष न कर पार्लामेंट को अधिकार दिया गया है कि १५ वर्ष के बाद भी वह कानून द्वारा कुछ कार्यों में अंग्रेजी के प्रयोग की व्यवस्था कर सकती है। यह तो हिंदी के शक्ति-सामर्थ्य के प्रति और व्यापक अविश्वास तथा हिंदी-विरोधियों का अधिकाधिक परितोष करने की वृत्ति का ही परिचायक है।

हिंदी-समर्थकों की ओर से इस बात पर बहुत जोर दिया गया है कि १५ वर्ष के बदले उक्त अवधि ५ वर्ष वा अधिक से अधिक १० वर्ष की होनी चाहिए थी। इससे असहमत होने का कोई भी उचित कारण नहीं हो सकता। परंतु अब हम अनुच्छेद ३०१ क (२) पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता समझते हैं, जिसमें

कहा गया है कि "राष्ट्रपति उक्त अवधि में संघ के किसी कार्य के लिये अंग्रेजी भाषा के साथ साथ हिंदी भाषा, और भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय रूप के साथ साथ देवनागरी अंकों के प्रयोग का भी अधिकार अपनी आज्ञा द्वारा प्रदान कर सकते हैं।" इसमें इस बात के लिये पर्याप्त अवकाश है कि अंग्रेजी भले ही साथ साथ चलती रहे, परंतु नागरी अंकों सहित नागरी लिपि तथा हिंदी भाषा अवधि के भीतर ही अपने पद पर पूर्णतः प्रतिष्ठित हो सकती है; और ऐसा हो जाते ही संघीय पद पर अंग्रेजी का बने रहना स्वतः अनावश्यक हो जायगा। परंतु इसके लिये निरालस्य भाव से समुचित दिशा में निरंतर प्रयत्न अपेक्षित है; क्योंकि ऐसा होना राष्ट्रपति की अनुकूल आज्ञा पर निर्भर है और राष्ट्रपति की आज्ञा अनुच्छेद ३०१ ख में उल्लिखित कमीशन की सिफारिशों तथा समिति की सम्मति पर अवलंबित होगी। उक्त अनुच्छेद के अनुसार संविधान संप्रयुक्त होने से ५ वर्ष के बाद नियुक्त कमीशन हिंदी के संबंध में क्या सिफारशें करेगा और समिति उसपर कैसी सम्मति देगी यह बहुत कुछ इसी बात पर निर्भर है कि उस समय तक हिंदी के विकास और प्रचार में कितनी वृद्धि हुई तथा अहिंदीभाषी देशवासियों ने उसे कहाँ तक अपनाया। यदि उनकी ओर से उस समय भी हिंदी का विरोध आज का सा ही बना रहा तो अंग्रेजी की आयु बढ़ती ही जायगी!

यह संतोष की बात है कि संविधान में संघीय भाषा के अतिरिक्त प्रांतों के आंतरिक तथा पारस्परिक व्यवहार की भाषा के संबंध में अवधि का कोई बंधन नहीं रखा गया है। अनुच्छेद ३०१ ग तथा घ के अनुसार कोई भी प्रांत जब चाहे कानून द्वारा हिंदी को अपनी राजभाषा बना सकता है और दो या अधिक प्रांत अपने पारस्परिक व्यवहार की भाषा भी हिंदी को बना सकते हैं।

हिंदी के संघीय भाषा घोषित होने के साथ साथ यह अत्यंत स्वाभाविक तथा आवश्यक था कि उसके विकास एवं प्रचार का दायित्व भी संघ पर रखा जाय, जैसा अनुच्छेद ३०१ ङ में किया गया है। किंतु उस उपसंहार में हिंदी के स्वरूप का निर्देश करते हुए 'हिंदुस्तानी' का उल्लेख किया गया है, जब कि संविधान में स्वीकृत भाषाओं की सूची में उसका कोई अस्तित्व स्वीकृत नहीं है! अभिप्राय तो उस ओट में उर्दू से ही रहा। अच्छा होता

उसका ही उक्त सूची के अनुसार स्पष्ट नामोल्लेख होता। तब उस उल्लेख का कुछ अर्थ भी होता।

परंतु मौलिक तथ्य यह है कि प्रस्तुत संविधान के द्वारा '*देवनागरी लिपि में लिखी हिंदी*' भारत की राजभाषा स्वीकृत हुई है। यह वस्तुतः अपूर्व स्वीकृति और अपूर्व अवसर है। अब इससे यथेष्ट लाभ संपादित होना, निकट ही भविष्य में नागरी-हिंदी का भारत की यथार्थ भारती सिद्ध होना हिंदीभक्तों एवं भारतभक्तों की सद्बुद्धि और सदुद्योग के अधीन है।

—संपा०।

सभा की प्रगति

(वैशाख-आषाढ़ सं० २००६)

रविवार २७ चैत्र, २००५ वि० (१० अप्रैल, १९४९) को हुए सभा के छप्पनवें वार्षिक अधिवेशन में संवत् २००७ के लिये सभा के निम्नलिखित पदाधिकारी तथा प्रबंध-समिति के सदस्य चुने गए—

पदाधिकारी

सभापति—श्री राय कृष्णदास। उपसभापति (१)—श्री सहदेव सिंह। उप-सभापति (२)—श्री बलदेव उपाध्याय। प्रधान मंत्री—श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़। साहित्य-मंत्री—श्री डा० राजेंद्रनारायण शर्मा। अर्थ-मंत्री—श्री मुरारीलाल केडिया। प्रकाशन-मंत्री—श्री काशीनाथ उपाध्याय। प्रचार-मंत्री—श्री देवीनारायण ऐडवोकेट। संपत्ति-निरीक्षक—श्री मथुरादास। पुस्तकालय-निरीक्षक—श्री परमेश्वरीलाल गुप्त। आय-व्यय-निरीक्षक—श्री हरनारायण टंडन।

प्रबंध-समिति के सदस्य

सं० २००६ से २००८ तक के लिये—श्री करुणापति त्रिपाठी, काशी। श्री बच्चनसिंह, काशी। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, काशी। श्री कृष्णानंद, काशी। श्री भगवतीशरण सिंह, काशी। श्री डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, बंगाल। श्री गोविंदचंद्र मित्र, उत्कल। श्री अशोक जी, संयुक्तप्रांत। श्री जगन्नाथ पुच्छरत, पंजाब। श्री गोपालचंद्र सिंह, सं० प्रांत। श्री विद्याधर शास्त्री, बीकानेर। श्री शिवपूजन सहाय, बिहार। श्री डा० ओम्प्रकाश, ब्रह्मदेश।

संवत् २००६ से २००७ तक के लिये—श्री रामऋषि शुक्ल, काशी। श्री गोविंदप्रसाद केजरीवाल, काशी। श्री ठाकुरदास ऐडवोकेट, काशी। श्री केशवप्रसाद मिश्र, काशी। श्री जीवनदास, काशी। श्री घनश्यामदास पोद्दार, बंबई। श्री नंददुलारे वाजपेयी, मध्य प्रांत। श्री माधवराव विनायकराव किवे, राज्य। श्री डा० धीरेंद्र वर्मा, सं० प्रांत। श्री विश्वेश्वरनाथ वाग्रे, राज्य। श्री शांतिप्रिय आत्माराम, राज्य। श्री ना० नागप्पा, सिंहल। श्री हनुमत् शास्त्री, मद्रास।

संवत् २००६ के लिये—श्री दिलीपनारायण सिंह, काशी। श्री रत्नशंकर

प्रसाद, काशी। श्री श्रीनिवास, काशी। श्री शिवकुमार सिंह, काशी। श्री ज्ञानवती त्रिवेदी, काशी। श्री मैथिलीशरण गुप्त, सं० प्रांत। श्री डा० बाबूराम सक्सेना, सं०प्रांत। श्री झाबरमल्ल शर्मा, राज्य। श्री मोतीलाल मेनारिया, राज्य। (रिक्त), सिंध। श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, दिल्ली। महामहिम श्री श्रीप्रकाश, असम। श्री जी० सच्चिदानंद, मैसूर। श्री ए० बारान्निकोव, रूस। श्री जगदीशचंद्र, अमेरिका।

प्रबंध-समिति के शनिवार २४ वैशाख, २००६ (७ मई, १६४६) के अधिवेशन में विभागाध्यक्षों का चुनाव इस प्रकार हुआ—

(क) खोज-विभाग के निरीक्षक—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

(ख) नागरीप्रचारिणी पत्रिका के संपादक—श्री कृष्णानंद।

(ग) अनुशीलन-विभाग के अध्यक्ष—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

(घ) 'प्रसाद'-व्याख्यानमाला के संयोजक—श्री गिरिजाशंकर गौड़।

(ङ) संकेतलिपि विद्यालय के अध्यक्ष—श्री निष्कामेश्वर मिश्र।

(च) पुस्तकालय-उपसमिति के संयोजक—श्री बच्चनसिंह।

आरंभ से ही प्रबंध-समिति इस वर्ष मुख्यतः दो बातों की ओर विशेष रूप से ध्यान दे रही है। एक तो उत्तमोत्तम ग्रंथों का प्रणयन और प्रकाशन, दूसरे सभा की आय के विभिन्न स्रोतों को पुष्ट और प्रशस्त रखते हुए व्यय में यथासंभव कमी। आधारिक-कोश के लेखन का कार्य श्री करुणापति त्रिपाठी को सौंपा गया है। संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर की छपाई आरंभ हो गई है। इसके अंत में देने के लिये नवीन शब्दों और अर्थों का एक परिशिष्ट भी तैयार हो रहा है जिससे आशा है यह कोश अपनी पारंपरीण सर्वश्रेष्ठता स्थिर रख सकेगा। इस त्रिमास में निम्नलिखित नवीन पुस्तकें प्रकाशित हुईं—

१—हिंदी कारकों का विकास, ले० श्री शिवनाथ।

२—गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय-साधना, ले० श्री व्योहार राजेंद्रसिंह।

३—सूरसागर, प्रथम भाग।

४—रामचरितमानस, सं० स्व० श्री शंभुनारायण चौबे।

५—जीवों की कहानी, ले० कुँवर सुरेशसिंह।

६—मुगल दरबार भाग ३, अनु० श्री ब्रजरत्नदास।

प्रकाशन-भंडार की जाँच और विक्रय की नवीन व्यवस्था भी की गई है एवं भंडार के लिये लगभग ४५००) व्यय करके नवीन भवन बनवाया गया है।

इस वर्ष से प्रांतीय सरकार ने नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला के प्रकाशन के लिये २०००) की वार्षिक सहायता देना स्वीकार किया है।

इस वर्ष सभा की ओर से माननीय श्री संपूर्णानंद जी को जो अभिनंदन ग्रंथ अर्पित किया जानेवाला है उसके लिये तैयारी हो रही है। प्रमुख विद्वानों के लेख आदि प्राप्त हो चुके हैं और छपाई आरंभ हो गई है।

आर्यभाषा पुस्तकालय

इस त्रिमास में पुस्तकालय ७७ दिन तथा उससे संबद्ध वाचनालय ६१ दिन खुला रहा। पाठकों की औसत उपस्थिति २०० थी। २०२ ग्रंथ विभिन्न दाताओं से भेंट में मिले तथा ४७५।।) की पुस्तकें क्रय की गईं। पुस्तकालय की सूची का जो अंश अप्रकाशित है उसको टंकित (टाइप) करा लेने की व्यवस्था की गई है।

हस्तलिखित ग्रंथों की खोज

खोज का कार्य इस अवधि में रायबरेली और प्रतापगढ़ जिलों में क्रमानुसार श्री दौलतराम जुयाल और श्री कृष्णकुमार वाजपेयी द्वारा होता रहा। रायबरेली जिले में कुल ५७ ग्रंथों के तथा प्रतापगढ़ में ३१ ग्रंथों के विवरण लिए गए। प्रमुख ग्रंथों के संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित हैं—

क्रमांक	ग्रंथ	रचयिता	रचनाकाल	लिपिकाल	विषय
१.	साबर तंत्र	×	×	१७६३ वि०	तंत्र मंत्र (गद्य में)
२.	भ्रमर गीत	प्रागनि	×	×	गोपी-उद्धव-संवाद
३.	सनहेसागर	हंसराज बख्शी	×	×	कृष्णलीला
४.	व्यंग्यार्थ कौमुदी	प्रताप कवि	१८८१	१९०७	रीति
५.	अलंकार-मंजरी	ऋषिनाथ	१८३०	१८६०	अलंकार
६.	विष्णुपुराण	भिखारीदास	×	×	
७.	बैताल पचीसी	सूरत कवि	×	×	(गद्य में)
८.	काव्य-कल्पद्रुम	विश्वनाथ सिंह	१९४३	×	
९.	विक्रम नाटक	रणविजय बहादुरसिंह	×	×	
१०.	ज्ञान कवित्त और पद	शिवदीनदास	×	१८६१	

—सहायक मंत्री।

रामचरितमानस

(संपादक-मानसमराल स्वर्गीय श्री शंभुनारायण चौबे)

गोस्वामी तुलसीदास जी के "मानस" के अब तक शताधिक विभिन्न संस्करण निकल चुके हैं, किंतु विद्वन्मंडली और भक्त-संप्रदाय की मानस के शुद्धतम पाठ की आकांक्षा-पूर्ति उनमें से किसी से भी पूर्ण रूप से अब तक नहीं हो पाई है। इसी कमी को पूरा करने के उद्देश्य से सभा ने स्वर्गीय चौबे जी से, जिन्होंने मानस के ही निमित्त अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया, आग्रह करके मानस का यह संस्करण प्रस्तुत कराया है। चौबे जी ने इसके संपादन और पाठनिर्धारण में भागवतदास, वि० सं० १७२१, सं० १७६२, छक्कनलाल, रघुनाथदास, बंदन पाठक, काशिराज, कोदोराम, श्रावणकुंज, राजापुर आदि की प्रतियों एवं मानस के लब्धप्रतिष्ठ ज्ञाताओं और साधकों से सहायता लेकर अत्यंत सावधानता से गोस्वामी जी की मौलिक वाणी निर्दिष्ट की है। मानस का यह संस्करण अब तक प्रकाशित अन्य समस्त संस्करणों से शुद्ध और श्रेष्ठ है, इसमें लेशमात्र संशय नहीं। मानस-प्रेमियों एवं मानस संबंधी शोध कार्य करनेवालों के लिये यह ग्रंथ परमोपयोगी है। इसका मूल्य ७) है।

गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय-साधना

(लेखक—श्री व्योहार राजेंद्रसिंह)

हिंदी साहित्य में गोसाईं जी का क्या स्थान है यह बताने की आवश्यकता नहीं। अपने मानस के आरंभ में ही उन्होंने "नानापुराण निगमागम संमतं" कहकर अपनी जिस समन्वय-वृत्ति का उल्लेख किया है वह उनकी समस्त रचनाओं में आदि से अंत तक व्याप्त है। उस समन्वय-परंपरा की पूरी छानबीन करके विद्वान् लेखक ने गोसाईं जी के विचारों की मीमांसा इस पुस्तक में की है। प्रसंगात् प्रारंभिक काल से लेकर मध्ययुग तक भारतीय संस्कृति, धर्म तथा साहित्य की धारावाहिक रूपरेखा भी लेखक ने अंकित कर दी है। गोसाईं जी के भक्तों तथा उनकी रचनाओं के अध्येताओं के लिये यह पुस्तक विशेष उपयोगी है। पुस्तक दो भागों में है। मूल्य प्रति भाग ४)

रस-मीमांसा

(लेखक—स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल)

इसमें लेखक ने आधुनिक जिज्ञासा को दृष्टि में रखकर रस का विवेचन किया है। इस ग्रंथ में प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र और नवीन पश्चिमी मनोविज्ञान की पूरी छान-बीन के साथ रस एवं भाव का निरूपण हुआ है। पंडितराज जगन्नाथ के बाद से शास्त्राभ्यासियों ने एक प्रकार से रस-मीमांसा करनी छोड़ दी थी। अतः भारतीय रीतिशास्त्र में आचार्य के इस ग्रंथ का महत्त्व स्वतः सिद्ध है। इसमें काव्य, विभाव, रस और शब्द-शक्ति नामक ५ खंड हैं जिनके अंतर्गत १० अध्यायों में काव्यगत रस की सभी दृष्टियों से सम्यक् विवेचना की गई है। यह वही ग्रंथ है जिसके सैद्धांतिक मानदंड से सूर, तुलसी, जायसी आदि कवियों की विशद और हिंदी-साहित्य की सामान्य स्वरूपबोधक समीक्षा आचार्य ने प्रस्तुत की है तथा जिसकी प्रतीक्षा हिंदी-जगत् बहुत दिनों से कर रहा था। यह ग्रंथ प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है। मूल्य ७)

सूरसागर भाग १ (सस्ता संस्करण)

(संपादक—श्री नंददुलारे वाजपेयी)

गोलोकवासी स्वर्गीय श्रीजगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा संगृहीत और प्रदत्त सामग्री के आधार पर लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों की एक समिति के तत्त्वावधान में इस ग्रंथ का संपादन अत्यंत कठोर परिश्रम और द्रव्य व्यय करके कराया गया है। सूरसागर का जो बृहत् संस्करण प्रकाशित हो रहा था वह वर्तमान स्थिति में अत्यधिक व्ययसाध्य होने के कारण स्थगित कर देना पड़ा। इस सस्ते संस्करण में पाठ-भेद के अतिरिक्त सभी विशेषताएँ अक्षुण्ण रखी गई हैं। पाठ की शुद्धता और प्रामाणिकता की दृष्टि से यह संस्करण अब तक छपे समस्त संस्करणों में श्रेष्ठ है। यह दो भागों में पूर्ण होगा। इसके पहले भाग में २३६७ पद हैं जिसमें दशम स्कंध के अंतर्गत दानलीला तक का प्रसंग आया है। दूसरा भाग भी आधे से ऊपर छप चुका है और शेषांश छप रहा है जो शीघ्र पूरा होगा। लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण का जैसा विशद और पूर्ण गान महात्मा सूरदास जी ने किया है वैसा अन्य किसी से भी अब तक नहीं बन पड़ा। भक्ति साहित्य और संगीत की इसी त्रिवेणी में अवगाहन करना प्रत्येक हिंदी-प्रेमी का कर्त्तव्य है। प्रथम भाग का मूल्य १०) है।

मुद्रक—परेशनाथ घोष, सरला प्रेस, बाँसफाटक काशी।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५६ संवत् २००८ अंक १

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वार्षिक मूल्य १०) : इस अंक का २॥)

पत्रिका के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।
२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।
३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।
४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

निवेदन

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है, और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास के भीतर भेजी जाती है।

(४) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है; परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५६] संवत् २००८ [अंक १

प्राचीन हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज

उन्नीसवीं त्रैवार्षिक विवरणिका

संवत् २००१–२००३ वि०

[श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र]

सभा के नियमानुसार इसके सभी कार्यों में पहले से ही सौर विक्रम संवत् का उपयोग होता आ रहा है। परंतु इसके पहले की खोज-विवरणिकाओं में अंग्रेजी शासन में प्रांतीय सरकार के (जिसकी सहायता से यह कार्य हो रहा है) नियमानुकूल ईसाई सन् का ही व्यवहार होता रहा। खोज की प्रस्तुत त्रैवार्षिक विवरणिका विक्रम संवत् के क्रम से तैयार की गई है। वैसे इसमें तीन ही वर्षों के विवरण-पत्र रहने चाहिए थे, परंतु वि० संवत् पूरा करने के लिये इसमें लगभग चार मास के विवरण-पत्र और सम्मिलित कर देने पड़े। आगे से खोज-विवरणिकाएँ अंग्रेजी में न छपकर हिंदी में ही छपेंगी।

खोज की उक्त कार्यावधि में तीन अन्वेषकों—श्री दौलतराम जुयाल, श्री विद्याधर त्रिवेदी और श्री कृष्णकुमार वाजपेयी—ने विवरण लेने का कार्य किया। श्री विद्याधर त्रिवेदी ने प्रस्तुत त्रिवर्षी के आरंभ में ही थोड़े दिन काम करके त्याग-पत्र दे दिया था, जिसके एक वर्ष पश्चात् श्री कृष्णकुमार वाजपेयी उनके स्थान पर नियुक्त हुए। इस प्रकार वर्ष भर एक अन्वेषक का काम बंद रहने से विवरण लेने के कार्य में निश्चय ही कुछ कमी हुई।

श्री दौलतराम जुयाल ने सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय के थोड़े से ग्रंथों के विवरण लेने का कार्य निपटाकर आजमगढ़, गोरखपुर, इलाहाबाद और सुलतानपुर जिलों में कार्य किया। प्रथम तीन जिलों का कार्य समाप्त हो गया है और अब सुलतानपुर में कार्य चल रहा है। श्री कृष्णकुमार वाजपेयी ने गाजीपुर जिले का कार्य समाप्त करके जौनपुर जिले में कार्य आरंभ किया ही था कि वहाँ के अधिकांश भागों में प्लेग का प्रकोप हो गया। अतः वहाँ का कार्य स्थगित कर उन्हें श्री जुयाल जी के साथ ही काम करने के लिये सुलतानपुर भेज दिया गया।

प्रस्तुत त्रिवर्ष में १२५४ ग्रंथों के विवरण लिए गए। इसमें ३४७ ग्रंथों के विवरण श्री कंठमणि शास्त्री (विद्याविभाग, काँकरोली) और २७ ग्रंथों के विवरण श्री मोतीलाल अग्रवाल (एक्साइज इंस्पेक्टर, रियासत छतरपुर) से प्राप्त हुए। शेष कार्य तीन वर्षों में इस प्रकार विभक्त है—

सं० २००० (पौष–चैत्र) में २०१ विवरण; सं० २००१ में १२६; सं० २००२ में २४१ और सं० २००३ में ३१२ विवरण।

५६६ ग्रंथकारों के रचे ८७२ ग्रंथों की ६६७ प्रतियों के विवरण लिए गए हैं। इनके अतिरिक्त २५७ ग्रंथ ऐसे हैं जिनके रचयिता अज्ञात हैं। ४०३ ग्रंथकारों के रचे ५६७ ग्रंथ खोज में बिलकुल नए हैं। इनमें १६३ ऐसे नवीन ग्रंथ सम्मिलित हैं जिनके रचयिता तो ज्ञात थे; किंतु उनके इन ग्रंथों का पता न था।

ग्रंथों और उनके रचयिताओं का शताब्दि-क्रम निम्नलिखित है—

शताब्दी	१०वीं	१३वीं	१४वीं	१५वीं	१६वीं	१७वीं	१८वीं	१९वीं	२०वीं	अज्ञात	योग
ग्रंथकार	१	१	१	५	१२	४३	७३	८७	३१	३१२	५६६
ग्रंथ	१	१	१	२३	२८	१७८	९२	१४१	४५	४७४	१२५४

विषय-विभाग की सारिणी यों है—

काव्य–१३६; दर्शन और अध्यात्म–७३; भक्ति–१५०; योग–३; अलंकार–१७; शृंगार–१२२; पिंगल–११; नाटक–२; संगीत–६; कोश–७; व्याकरण–१; भूगोल–७; ज्योतिष तथा गणित–२६; पुराण और इतिहास–२६; पौराणिक कथाएँ–५५; कथा-कहानी–५८; परिचयी या जीवनवार्ता–६; धार्मिक और सांप्रदायिक–५०; लीलाविहार–६२; नीति, राजनीति और ज्ञानोपदेश–६५; माहात्म्य और स्तोत्र–५०;

वैद्यक-३६; कोकशास्त्र-५; स्वरोदय-६; शालिहोत्र-१०; रमल और शकुन-६; वंशावली-६; वास्तुविद्या-२; यात्रा-६; पाकविद्या-१; पहेली-१; रत्नपरीक्षा-१; जंत्र, मंत्र और तंत्र-५; सामुद्रिक-४; रसायन-१; आखेट-१; धनुर्विद्या-१; फुटकल-१८६।

नवीन रचयिताओं में ईश्वरदास, कन्हैयालाल भट्ट "कान्ह", कान्ह कवि (लघु-कान्ह), कुदरतीदास या कुदरती साहब, कृष्णदास, गंगाराम, घनदेव कान्यकुब्ज (वैष्णव), चतुर्भुज मिश्र, छविनाथ, जान कवि, मिरजा मुहम्मद जान, तामसन साहब, थेघनाथ या थेघू, देवेश्वर माथुर, नवरंगदास स्वामी, पंचौली देवकर्ण, प्राणनाथ सोती, फणींद्र मिश्र, बलदेव कवि, बलरामदास, भगवतदास, भरसी मिश्र-रामनाथ पंडित, भारथ सिंह या भारथ साहि, भीम, महीपति या महीप, मुरलीधर कविराइ, शिवदत्त त्रिपाठी, शिवदास गदाधर, शेख अहमद, शेख निसार, समाधान, हसन अली खाँ, हेमरतन और हेमराज मथेन मुख्य हैं।

ईश्वरदास (इशरदास)

इनकी एक रचना 'सत्यवती की कथा' (काशी नागरीप्रचारिणी सभा में विद्यमान) का पता खोज में प्रथम वार ही लगा है। यह खंडित है जिसमें केवल संख्या ४, १८ और १६ के तीन ही पत्रे हैं। रचनाकाल और लिपिकाल तो अज्ञात हैं ही, पर इन पत्रों द्वारा रचना के नाम का भी पता न चल सका। ग्रंथकार का नाम अंतिम पत्र में इशरदास (ईश्वरदास) दिया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल कृत हिंदी साहित्य के इतिहास में इस नाम के एक रचयिता की रचना 'सत्यवती-कथा' का उल्लेख है। उसमें कथा का सार भी दिया है। मिलान करने पर पता चला कि प्रस्तुत रचना में भी वही कथा है। इसी आधार पर इसका नाम 'सत्यवती-कथा' विदित हुआ। उक्त इतिहास में रचनाकाल तथा रचयिता के संबंध में ये उद्धरण दिए हैं—

भादौ मास पाख उजियारा। तिथि नौमी औ मंगल वारा॥
नषत अस्विनी मेषक चंदा। पंच जना सो सदा अनंदा॥
जोगिनिपुर दिल्ली बड़ थाना। साह सिकंदर बड़ सुलताना॥
कंठे बैठ सरसुती, विद्या गनपति दीन।
ता दिन कथा आरंभ यह, "इसरदास" कवि कीन्ह॥

इसके अनुसार रचयिता दिल्लीपति शाह सिकंदर के राज्यकाल (संवत् १५४६-१५७४ वि०) में वर्तमान थे और दिल्ली के ही पास जोगिनीपुर स्थान के

निवासी थे। भाव, भाषा और शैली के विचार से, विवरणिका में आए "भरतविलाप"[१] (संख्या २१)[२] और "अंगदपैज"[३] (संख्या २३) भी इन्हीं के रचे जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिये इन ग्रंथों से कुछ उद्धरण दिए जाते हैं—

सत्यवती की कथा

कंठे बैठ सरसुती, विद्या गनपति दीन्ह।
ता दिन कथा आरंभ यइ, इसरदास कवि कीन॥
रोवै व्याधि बहुत पुकारी। छोहन व्रिछ रोवै सब झारी॥
बाघ सिंघ रोवत बनमांही। रोवत पंछी बहुत ओनाही॥

(हिंदी साहित्य का इतिहास)

रिषिअन के राआ पुछत हव मौ तोहि।
कैसे बाढे हो पाचौ पंडौ चोषे अरथ सुनावहु मोहि॥

(खोज में प्राप्त प्रति)

भरतविलाप

सुरसत चरन मनिवहु, मनमै बहुत उछाह।
राम कथा कछु भाषहु, जाकै गुन औगाह॥
रामचंदर छाडा असथाना। रोए नगर सकल परधाना॥
रोए सीआ सतीवर नारी। राम लखन वीनु अवध उजारी॥

× × × ×

चोषे दूत विदा जब भयऊ। अतरवास जोजन सत गयऊ॥

× × × ×

१—भरतविलाप की चार प्रतियों का पता इस प्रकार है—(१) सं० १८८० की लिखी प्रति पं० गयाप्रसाद शास्त्री (ग्राम बेलासदाँ, डाकघर भदैयाँ, जिला सुलतानपुर) के पास; (२) नागरीप्रचारिणी सभा, काशी (याज्ञिकसंग्रह) में; (३) श्री दौलत राम पांडेय (ग्राम और डाकघर सहिजादपुर, जिला इलाहाबाद) के पास; (४) नागरीप्रचारिणी सभा, काशी में।

२—यहाँ तथा आगे भी इस प्रकार कोष्ठक में निर्दिष्ट संख्याएँ विस्तृत विवरणिका की हैं।

३—अंगदपैज का पता—पं० रामअनंद त्रिपाठी, ग्राम दरवेशपुर, डाकघर भखारी, जिला इलाहाबाद।

घर घर रोअही पुरुषवर नारी । राह बाट रोए पनिहारी ॥
मन मह रोवत पसु श्रो पंछी । हाहाकार रोए जल मंछी ॥

× × ×

भरथवीलाप कथा वीमल, इसरदास कही गाव ।
जो नर सुनही जो गावही, जनम जनम अघ जाइ ॥

× × ×

अंगद पैज

मोरी दोहई मंत्री चोषे पठवहु एक दूता ।
वेगि जइ लै अवही वलि रइक पुत्रा (? बालिराइ के पूता) ॥

× × ×

रघुनंदन अस बोले अंगद को नही जन (जान ?) ।
राम राम जग तरन इसरदास कवि मान ॥

"भरतविलाप" और "अंगदपैज" तो एक ही ग्रंथ के अंश जान पड़ते हैं। संभव है कवि ने "रामचरित्र" पूरा लिखा हो और उसी के ये अंश हों। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि सरस्वती की वंदना "सत्यवती कथा" और "भरतविलाप" दोनों में की गई है। "अंगदपैज" की प्रति खंडित मिली है जिससे उसके—यदि वह स्वतंत्र रचना हो– मंगलाचरण के उद्धरण प्राप्त नहीं; पर विलाप-वर्णन दोनों के मिलते-जुलते हैं। कवि का नाम "इसरदास" तीनों ग्रंथों में दिया है। भाषा भी सबकी अवधी ही है।

कन्हैयालाल भट्ट उपनाम "कान्ह"

इनका पता भी इस त्रिवर्ष में नया ही लगा है। ये जयपुर के निवासी थे और मथुरा में रहने लगे थे। इन्होंने अपने को किसी सरदार नरेश का मंत्र-सिरताज कहा है—

श्री सिरदार नरेस कौ सकल मंत्र सिरताज ।
जग जाहर जसरा के हित यह रचित समाज ॥
श्री जैपुर वासी सुकवि मथुरास्थ दुजराज ।
'कानभट्ट' कीने कवित्त विंशति श्लेष समाज ॥

इनकी "श्लेषार्थविंशति" (श्री सरस्वती-भंडार, विद्याविभाग, कांकरौली में वर्तमान) नामक एक महत्त्वपूर्ण रचना के विवरण लिए गए हैं, जिसमें श्लेपालंकार

पर एक सौ कवित्त हैं। ग्रंथ पूर्ण होते हुए भी उसमें रचनाकाल और लिपिकाल का उल्लेख नहीं। नीचे इनका एक कवित्त दिया जाता है—

सुवरन कर सोभी हे अछरनलोभी है छंद के प्रबंध तै होत हिय तर तर।
धर्न यति यमक विचारि मित्रिगनहु को विरसन मुंच् वध जल मल फर फर।
विरजन सक्त मतु मानहु विरंग गति अगराज नंदन कर जस रूप धर धर।
कवियत्वि कंज कुंज प्रभा सभा लोक कोक सर वर कान मान रमा उमा हरि हरि ॥१४५॥

कान्ह कवि (लघुकान्ह)

उन्होंने संवत् १९१६ में "हरिनाथविनोद"[४] नामक नायिका-भेद विषयक ग्रंथ की रचना की। ये पाली शहर के निवासी मनिराम के वंशज थे। ग्रंथ के दूसरे अध्याय की समाप्ति के लेख से पता चलता है कि ये जगदंबा के भक्त थे—

इति श्री सकल गुन विचछन स्वच्छ लछ्छन प्रतच्छ परेस्वर पदारविंद अनुरक्त भक्त भवद जोतम स्वयंवर सुवन दुवन दहन रोगवन अनल विध्वंसन कुलधर वंसावतंस समथ परमार्थ स्वारथानुरक्त वैद्यराज हरिनाथविनोदे जगदंब जन कान्ह क्रते संछेप स्वकीया वनन ोनाम द्वितीयोध्याय ॥

प्रस्तुत ग्रंथ की रचना इन्होंने किसी हरिनाथ के नाम पर की है जो अलवर-नरेश विनेश के यहाँ छः रत्नों में से एक थे—

"......उपजे जू पंडित जहाँ पाली सहर जरूर ॥ ४ ॥
मनीराम के वंश मैं कान्ह सुजान। कीनी रचना ग्रंथ की रस सिंगार पहिचान ॥
श्री विनेश भूपति भयो भू पर भान समान। जिनकी कीरति छंद पढ़ि कवि कल करत बषान॥
तिन कर क्रपा कटाछ ये राखे छै गुनवंत। एक स्वयंवर वौध कौ लषिगुन गूढ़ अनंत॥
दूजे कवि हरिनाथ कौ भवभूपनि मनिमानि। ....॥
.....................तिनके हित यह कान्ह कवि रचो ग्रंथ सुखदाई ॥"

इन उद्धरणों से यह भी विदित होता है कि हरिनाथ के पिता का नाम स्वयंवर वौध (वैद्य ?) था। दोनों पिता-पुत्र वैद्य और बड़े गुणी तथा अलवर राजदरवार के छः रत्नों में से प्रथम दो रत्न थे। ये पाठक ब्राह्मण थे। ग्रंथ-स्वामी गयाप्रसाद पाठक का कहना है कि हरिनाथ पाठक उनके बाबा थे और मईं ग्राम-जहाँ ग्रंथ-स्वामी रहते हैं—के निवासी थे।

४—पता—पं० गयाप्रसाद पाठक, ग्राम मईं, डा० केराकत, जि० जौनपुर।

ग्रंथ की प्रस्तुत प्रति खंडित तथा जीर्णावस्था में मिली है। बहुत से स्थानों की स्याही उखड़ गई है और अक्षर भी ठीक पढ़े नहीं जाते। अतः रचयिता के उपर्युक्त वृत्त के संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। ग्रंथ का लिपिकाल अज्ञात है। काव्य की दृष्टि से रचना सुंदर है। रचना के कुछ उद्धरण दिए जाते हैं—

नायक लक्षण।

॥ मोतीदाम छंद ॥

कहौ पहिले सुचि सील सुभाई। उदार धनाधि सहै कविराई॥
जुवा सब केलि कलान प्रवीन। तिया यक चाह सदा गुन लीन॥

ऋतु-वर्णन (वर्षा)

बरसै सम जात घरी पलहू न (सु ?) वियोग विथा (तन में) सरसै।
सरसै अँखियान ते नीर प्रवाह कराहि कराहि हिये करसै।
करसै न बसात कछू बसरी "कवि कान्ह" सुजान बिना परसै।
परसै तनसौं तन हाय दई घनघोर घमंड घने बरसै॥ १८॥

कुदरतीदास या कुदरती साहब

इनकी दो रचनाएँ "रामायण" (अनुमान से) और "विश्वकारन"[५] मिली हैं जिनका विवरण निम्नलिखित है—

रामायण—यह खंडित है जिसमें ग्रंथ के नाम तक का उल्लेख नहीं। विषय को देखकर ही इसका नाम "रामायण" रखा गया है। इसमें चौपाई और साखियों में रामचरित वर्णित है। दोहे के लिये साखी शब्द प्रयुक्त हुआ है। कथावस्तु में जहाँ तहाँ परिवर्तन किया गया है। अनेक कथाएँ स्वतंत्र रूप से वर्णित हैं और कितनी ही छोड़ भी दी गई हैं। कथारंभ रचयिता ने अपना पूर्व जन्म का इतिहास देकर किया है, जिसका वर्णन स्वयं भगवान रामचंद्र करते हैं। ग्रंथ में कांडों, अध्यायों और सर्गों आदि का उपयोग नहीं हुआ है और कथा भी अत्यंत संक्षेप में लिखी गई है। रचनाकाल और लिपिकाल अज्ञात हैं।

विश्वकारन—यह ग्रंथ पूर्ण है। इसमें जगत् की उत्पत्ति के कारण तथा भस्मासुर की कथा का वर्णन है। रचनाकाल अज्ञात है पर लिपिकाल संवत् १९०८ वि० दिया है।

५—दोनों का पता—श्री गुसांईं रामस्वरूप दास, कुटी सठियाँव, डा० जहानागंज रोड, जि० आजमगढ़।

इन ग्रंथों के द्वारा रचयिता के विषय में केवल इतना ही पता चलता है कि इनको स्वप्न में राम-दर्शन होने पर भक्ति का वरदान मिला था। अन्य कोई विवरण नहीं मिलता। परंतु ग्रंथ-स्वामी (गुसाँईं रामस्वरूपदास; कुटी, सठियाँव; डाकघर जहानागंजरोड; जिला, आजमगढ़) के कथनानुसार ये जिला गोरखपुर के अंतर्गत गोला बाजार के निकट बराहगाँव के रहनेवाले ब्राह्मण थे। संत-मत ग्रहण करने पर इन्होंने अपना नाम कुदरतसाहब रख लिया था। इन्होंने बहुत से ग्रंथों की रचना की। लगभग चौबीस ग्रंथ ग्रंथ-स्वामी के पास थे जो काल-गति से नष्ट हो गए और कुछ इधर उधर चले गए। उनमें एक ग्रंथ "जगसमाधि" भी था।

ग्रंथों को पढ़ने से पता चलता है कि रचयिता निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार की भक्ति के समर्थक थे। भक्ति करते हुए कष्टों को झेलना ये वांछनीय नहीं समझते थे। संसार के सब सुखों को भोग कर भी भक्ति की जा सकती है; परंतु सत्य और विश्वास अवश्य रहना चाहिए। इनसे कुछ उद्धरण दिए जाते हैं—

रामायण

पाँच ततु तेही भीतर, परम जोति परगास।
नारी पुरुस काके कही, अवीनासी नाही नास॥

चौपाई

अजर अडोल आचींत सरीरा। सो निरगुन गुन सहीत मधीरा॥
निरगुन ब्रंभ ताहा ते आवा। सगुन रूप सोए दास कहावा॥

× × ×

साषी

सात दीप नव षंड भरी, महीमा तीनों लोक।
जनक विदेही प्रन कियो, जो विधि करही सोक॥

चौपाई

जाना प्रन एह कठिन हमारा। बोले तब ब्रीप जनक वीचारा॥
जब वीधी प्रभुता सीतही दीन्हा। सो समान वर काहे न कीन्हा॥
सीता सम पटतर कोउ नाही। करही बषान वेद वीधी जाही॥
सो प्रभुता लषी प्रन हम ठाना। अब भै सोक समुद्र समाना॥

विश्वकारन

पानी पवन आगीनी कीओ, धरती ततु अकास।
ब्रंभा वीस्नु महेस भो, तीनो गुर परगास॥

रजगुन सतगुन तामसा, कारन करता कर्म ।
ताते वीस करमा, धरती धारा धर्म ॥
ब्रंभ वाकी ब्रहमंड, में ब्रंभा पूजा कीन्ह ।
ह्रिदश्रा नाभी कवल मह, वीसु वास तहा लीन्ह ॥

× × ×

बार बार करि दंडवत, संभु गए कैलास ।
तब गीरीजही समुझाए के, जो प्रभु कीश्रा प्रकास ॥
हरी चरीत्र गुन वरनत, महीमा वारहीवार ।
श्रागम श्रगोचर श्रापु हरी, गुन श्रजीत वैपार ॥

कृष्णदास

संवत् १६२८ में इन्होंने "जैमुनि कथा" (का० ना० प्र० सभा में विद्यमान) की रचना की जिसमें पांडवों के श्रश्वमेध यज्ञ का वर्णन है। इसकी वर्तमान प्रति संवत् १८६७ में लिखी गई। इसमें मध्यकाल का कुछ ऐतिहासिक लेख मिलने से ग्रंथ महत्त्व का है। इसके श्रनुसार रचयिता सरजू श्रौर गंडक के बीच गोरखपुर प्रांत के निवासी थे। इनके पितामह का नाम धानो श्रौर पिता का परान था। पिता का जन्म सरजू श्रौर गंडक के संगम पर बसे कलेस्वर स्थान में हुश्रा था जहाँ उदैसिंह नाम का राजा राज्य करता था। राज्यविद्रोह होने के कारण इनके पितामह तथा पिता कुटुंब सहित उस स्थान से भागकर तिवई जदुनंदन पुर में जा बसे। ये चार भाई थे जिनके नाम मुकुंद, भक्तमनि, केदार श्रौर कृष्णदास थे। वह समय श्रकबर बादशाह का था।

एक श्रनंत भौ सागर तरना । कृष्णदास प्रभु प्रनवै चरना ॥
कविन मांह हम कवित श्राना । पुन्यभूमि गोरखपुर थाना ॥
इत सरजू उत गंडक सीला । कलेस्वर मध्य मनोरम मीला ॥
उदैसिंह तह भयो नरेसा । पीता हमार जन्म तेही देसा ॥
पितु परान पितामह धानो । राज उपद्रौ श्रगमन जानो ॥
सकुल सहित लै तुरित सिधाए । तीवई जदुनंदनपुर श्राए ॥
विन्हए पुन्य दया सत धर्मा । चारि पुत्र मति मानस कर्मा ॥
प्रथम मकुंद महा मतिमाना । प्रभु भक्त मनि श्रुद सुजाना ॥
तीसर पुत्र केदार सुग्याता । चौथे कृष्णदास विष्याता ॥
संवतसर जो गयो सतैसा । सोरह सौ जो उपर श्रठैसा ॥

जेठ मास जे पछ्र उजियारा । तिथि सातै ता दिन गुरुवारा ॥
कीन्ह अरंभ तब्र कथा समाजा । अकबर साह छत्रपति राजा ॥

नीचे "जैमुनि कथा" का थोड़ा सा नमूना दिया जाता है—

पुर्न्य जग्य हस्तिनापुर भए । चौदह वर्ष बीती तह गए ॥
जग्य कीन सब्र रिषयन जाना । ध्रम दुदीस्ठील सत्य समाना ॥
कुंती सहित रहे पुर, चौदह वर्ष भुआर ।
श्रीपति अग्या मानी नृप, पहुचे जाइ हेवार ॥

गंगाराम

इनकी एक पुस्तक "पोथी मैनसत के उत्तर" (पता–पृ० ४, टि० ३ में) नाम से मिली है जिसमें मैन नाम की सती की कथा है । कथा संक्षेप में इस प्रकार है— सतन कुँवर के दूत के कहने पर रतन मालिनी ने लोर की पत्नी मैन का सत डिगाने की बड़ी चेष्टा की; पर असफल रही । विरह के अवसर पर बारहमासों के कष्टों का वर्णन कर पर-पुरुष से प्रेम करने के लिये उसने मैन को उत्साहित करना चाहा; परंतु वह तिल भर भी सत से विचलित न हुई । अंत में जब मालिनी की पापयुक्त बातें सहन न हो सकीं तो मैन ने उसकी दुर्गति करने का निश्चय किया । उसने उसके केश मुँडवा दिए, शिर सिंदूर से रँगवा दिया और माथे पर काले पीले टीके लगवा गदहे पर बिठलाकर हाट-हाट फिराने के पश्चात् निकाल दिया । इस प्रकार सत की विजय हुई ।

रचना प्राचीन प्रेम-कथानक के ढंग की है और प्राचीन अवधी में लिखी गई है । इसकी प्रस्तुत प्रति कैथी लिपि में है जो अत्यंत भ्रष्ट है और ठीक ठीक पढ़ी नहीं जाती । रचनाकाल अज्ञात है । लिपिकाल अस्पष्ट संवत् ८३२ दिया है। अनुमान से इसको संवत् १८३२ मान लिया गया है । रचयिता का नाम ग्रंथांत में तथा पुष्पिका में "गंग" या "गंगाराम" लिखा है । अन्य परिचय नहीं मिलता। इस नाम के कई रचयिताओं का उल्लेख पिछली खोज-रिपोर्टों में पाया जाता है, पर ये उन सबसे भिन्न ज्ञात होते हैं ।

यहाँ इनकी कविता का थोड़ा सा उदाहरण दिया जाता है—

मलीनी जइ मदील मो पैठी । मैन जह सीघसन बैठी ॥
चंप को फूल चौसर (चौलर ?) हरु । दीन भेट औ कीन्ह जोहरु ॥

हसिकै पुछु मैन रनी। कह गवन कीन जजमनी ॥
कह मलीनी सुन चलती मैन। अनचीन्ह कस बोलसी बैन ॥
तोरे पीतै धइ (धाई ?) मोही कीन्हा। मै तोही धरै असथन दीन्हा ॥
मन न रहे चीत गहवरे, अगी उठी तन मोही।
सवरीन्ह चीत उपजे, भेटन अइउ तोही ॥
तसो कीजे नेह, जसौ और नीवहीए।
वोसो कौन सनेह, टुट कंच सु तजेउ (तजिए ?) ॥

घनदेव कान्यकुब्ज (वैष्णव)

इनकी "नवलनेह" (विद्याविभाग, कांकरौली में वर्तमान) नाम की रचना मिली है जिसमें कृष्णलीलाओं के अंतर्गत मिलन और वियोग-शृंगार का सुंदर वर्णन है। रचनाकाल संवत् १८५४ है। लिपिकाल नहीं है।

रचयिता काशी-निवासी कान्यकुब्ज दुबे ब्राह्मण थे। इस ग्रंथ की रचना इन्होंने द्वारावती जाकर की थी जहाँ के भूमिपति का उल्लेख इन्होंने "राणा श्री सुरतान" कहकर किया है—

संमत अष्टादस सुसत, चौपन ही परमान।
माघ मास दसमी सुकल वार, भानु सुत जानि ॥९॥
कहे ग्रंथ घनदेव कवि, विप्र वनारस वासि।
कान्यकुब्ज दुबे सही, जेसी बुध प्रकास ॥१०॥
पछिम धरि द्वारावती, देस कुसस्थल जानि।
पुरी सुदामा बसत तहा, महामुक्ति की दानि ॥११॥
ताहा भूमिपति जानिये, हे राणा श्री सुरतान।
दाता ईस मानि पुनि, वीर जथा हनुमान ॥१२॥
दरस द्वारिकानाथ को, आप करे घनदेव।
पुनि पूरब हर में तहा, कीनो ग्रंथ सुभेव ॥१३॥

नीचे इनका एक सवैया उद्धृत किया जाता है—

चंद समान भये वृजचंद जो हो जो चकोर को रूप धरोगी।
सुर समान कहे हरी सो जुपे कंज मे कंज को रूप...रोगी।
जो रस रास कहे उनसो वृजनार ह्वै पाइ न जाय परोगी।
वा नंद नंदन सो नित मिलो सखी रूप सुधा अँखियान भरोगी ॥४८॥

चतुर्भुज मिश्र

प्रस्तुत खोज में इनका "भाषा-संग्रह" (विद्याविभाग, काँकरोली में वर्तमान) नामक ग्रंथ मिला है, जिसमें रचनाकाल संवत् १७०२ वि० दिया है। लिपिकाल अज्ञात है। यह महत्त्वपूर्ण संग्रह है जिसमें इनके अतिरिक्त अन्य अनेक कवियों के नौ रसों पर रचे गए १२०० छंद संगृहीत हैं। कवियों के नाम अंत के दो पत्रों में इस प्रकार दिए हैं—

गंग, केसोदास, अनंत, सुंदर, प्रसिद्ध, सुकविराइ, बीरबर, रामकृष्ण, गोपीनाथमिश्र, प्रेमनाथमिश्र, शंकरमिश्र, नरोत्तममिश्र, गोवर्द्धनमिश्र, सूरदास, सूरदास-मदनमोहन, नंददास, गो० तुलसीदास, परमानंद, कबीर, ईश्वरदास, दयादेव, शिरोमनि, माधो, जगदीस, अभिमन्यु, हरिवंश, रूपनारायन, शंकर, श्याम, मंडन, परवत-मधुसूदन, विद्यापति, कासीराम, ब्रह्म, दामोदर, नैन, वान, जगजीवन, बलभद्र, नारायण, जदुनाथ, सज्जन, लघुगंग, विश्वंभर, असद, राजा जगतमनि, छीत, मल्ल, मुकुट, पुरुषोत्तम और राम।

इसमें संग्रहकर्ता के स्वरचित १६० छंद हैं। इसको इन्होंने सायस्ताखान के आदेश से तैयार किया था—

"यो भाषा संग्रह भयो, नौरस कवित समेत।
साहिब साइस्तखान के, मन रंजन के हेत॥

ये सायस्ताखान संभवतः औरंगजेब के सेनापति थे जो शिवाजी को जीतने के अभिप्राय से पूना गए थे, पर हारकर भाग खड़े हुए थे। रचयिता का अन्य वृत्त नहीं मिलता। पिछली खोज रिपोर्ट (१७-३८;३८-२७) में आए चतुर्भुज मिश्र से ये भिन्न जान पड़ते हैं। संग्रह के ऊपर "गोस्वामी श्री गोकुलनाथात्मज श्री पुरुषोत्तमस्य" लिखा है, अतः इसका लिपिकाल इनके (श्री पुरुषोत्तम के) समय संवत् १८४७-१६०३ के लगभग होना चाहिए। संग्रहकर्ता की स्वरचित एक कविता दी जाती है—

अभिसारिका वर्णन

सोने से अंग सरोजमुखी चली स्याम पे कों (यों ?) ससि के सटकें।
पग नूपुर घुंघुरू खोलि धरै सकुचे अति जेहरि कें खटकें।
गुरु मुरुनि (ऊरुनि ?) ओरु छटी सी कटी न चली रही छुद्र घटी अटकें।
विनुही अटकें हटकी सी चले लटकी सी परे लटकें लटकें॥८०॥

छविनाथ

इनके पिंगल विषयक "माधव-सुयश-प्रकाश" (विद्याविभाग, काँकरोली में वर्तमान) नामक ग्रंथ के विवरण लिए गए हैं। इसमें छंदों के जो उदाहरण दिए हैं उनमें जयपुर-नरेश महाराज माधवसिंह का यश वर्णित है। जयपुर राज्य का भी सुंदर वर्णन है। रचनाकाल का ग्रंथ में कोई उल्लेख नहीं, पर जयपुराधीश राजा माधोसिंह का राज्यकाल काँकरोली के इतिहास के अनुसार संवत् १८२५ के लगभग है। अतः इसी समय प्रस्तुत ग्रंथ की रचना हुई होगी। लिपिकाल का संवत् भी अज्ञात है, पर मास, पक्ष, तिथि और वार दिए हैं जो इस प्रकार हैं—"बहुधान्य संवत्सरे उत्तरायणे शिशिर ऋतौ फाल्गुने मासि कृष्णपक्षे एकादश्यां गुरुवासरे समाप्तः।" यह रचनाकाल विदित होता है, क्योंकि इसमें लिपिकर्ता का कोई उल्लेख नहीं। यदि यह नकल की हुई होती तो लिपिकर्ता ने अपना नाम भी अवश्य दिया होता।

रचयिता उपमन्यु गोत्र के कान्यकुब्ज अवस्थी ब्राह्मण थे। पिता का नाम गोविंददास था। गंगा के तट पर स्थित बक्सर (बगसर, जिला उन्नाव ?) के ये निवासी थे, जहाँ एक ओर चंडी का और दूसरी ओर महादेव का मंदिर है। यहाँ के राजा भवानीसिंह थे। ये (रचयिता) द्वारिकेश (श्री कृष्ण) की सेवा करते थे और महाराज माधवेश के आश्रम में रहते थे—

गंगा जू के निकट सहर बगिसर सोंहै जामे एक ओर चंडी दूजी घा महेश है।
जामे चारि वर्णहू कों पालै मरजाद ही सों सुख सों भवानीसिंह प्रबल नरेश है।
तामें गोविंददास उपमन्यवंशी आवस्थीक तापुत छविनाथ सेयि द्वारकेश है।
तिहिं शिरताज महाराज माधवेश जू कों सुजस प्रकाश करि दीनों ग्रंथ वेश है ॥२५॥

नीचे ग्रंथ से कुछ उद्धरण दिए जाते हैं—

छंद लीलावती। गुरु लघ अक्षर नियम। रहित मात्रा।
पदमें ३२ जति विकु १। ऐसे ऐसे चरण ४ यथा—

भुजबल उदंड कटि खंड खंड भटगण प्रचंड जमपुरहि लहैं।
फटि विकट कुंभगज गिरत भूमि इमि प्रबल सुकवि छविनाथ ढहैं।
थल थल सिंदुर जल बहत दिघ्घ सत कोटि कटित मनु अचल ढहैं।
दुरधर अरिंघ (अरींद्र ?) माधव नृसिंघ जब समर मध्य कर खग्ग गहैं ॥५७॥

जान कवि

इस त्रिवर्ष में मिले नवीन और प्रमुख रचयिताओं में ये मुसलमान कवि भी हैं। हिंदुस्तानी एकेडेमी (प्रयाग) में इनकी छोटी-बड़ी ६६ रचनाओं का बृहद् हस्तलेख मिला है, जो अत्यंत जीर्णावस्था में है। रचनाओं में अधिकांश प्रेमकथाएँ हैं जो विवरणपत्रों में यथास्थान दे दी गई हैं। ग्रंथों के नाम रचनाकाल सहित नीचे दिए जाते हैं—

रत्नावती (१६६१ वि०), लैलेमजनू (१६६१ वि०), रतनमंजरी (१६८७ वि०), कथा नलदमयंती (१७१६ वि०), कथा पुहुपवरिखा (१६८५ वि०), कथा कँवलावती की (१६७० वि०), बारहमासा, सवैया या भूलना, बरवा, षट्ऋतुबरवा बंध, पवंगमषट्ऋतु वर्णन, कथा छबिसागर (१७०६ वि०), कथा कामलता की (१६७८ वि०), कथा छीता की (१६६३ वि०), कथा कलावंती की (१६७० वि०), कथा रूपमंजरी की (१६८५ वि०), मोहनी (१६६४ वि०), चंद्रसेन राजा शीलनिधान की कथा (१६६१ वि०), कथा अरदसेर पातसाहि (१६६० वि०), कथा कामरानी व पीतमदास की (१६६१ वि०), पाहनपरीछ्या, शृंगारसत (१६७१ वि०), भावसत (१६७१ वि०), विरहसत, वलूकिया विरही की कथा (१६८७ वि०), तमीम अंसारी की कथा (१७०२ वि०), कथाकलंदर की (१७०२ वि०), कथा निरमल की (१७०४ वि०), कथा सतवंती की (१६७८ वि०), कथा सीलवंती की (१६८४ वि०), कथा कुलवंती की (१६६३ वि०), कथा खिजरखाँ शाहजादे व देवल दे की (१६६४ वि०), कथा कनकावती की (१६७५ वि०), कथा कौतूहली की (१६७५ वि०), कथा सुभटराइ की (१७२० वि०), बुधिसागर या मधुकर मालती की कथा (१६६१), चेतनामा, सिख-ग्रंथ, ग्रंथ सुधासिख, ग्रंथ बुद्धिदाइक, बुद्धिदीप, घूंघट नावा, दरसनावा, अलकनावा, दरसनावा, बारहमासा, सतनावा (१६६३ वि०), वर्णनावा, बाँदीनावा, बाजनावा, कबूतरनावा, गूढ़ग्रंथ, ग्रंथ देसावली, ग्रंथ रसकोष (१६७६ वि०), ग्रंथ उत्तमशब्दा, सिषसागर पदनावां (१६६५ वि०), वैद्यकसतपदनावा (१६६५ वि०), सिंगार तिलक (१७०६), पैमसागर (१६६४ वि०), वियोगसागर (१७१३ वि०), रस तरंगिनी (१७११ वि०), कंद्रप कलोल, भाव कल्लोल (१७१३ वि०), पदनामा लुकमान का (१७२१ वि०), जफरनामा नौसेरवां (१७२१ वि०), मानविनोद, विरही कौ मनोरथ (१६६४ वि०), पैमुनामा (१६७५ वि०), नाममाला अनेकार्थ।

कथा कँवलावती, पुहुपवरिषा और कथा नलदमयंती से रचयिता के संबंध में निश्चित रूप से इतना ही पता चलता है कि इनका नाम "जान" है। इनके पीर हाँसी वाले शेख मुहम्मद चिस्ती थे। ये मुगल बादशाह जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब के समय में वर्तमान थे जिससे इनकी दीर्घायु का पता चलता है। ये संभवतः शिया मत के मुसलमान थे तथा आजम इमाम के मार्ग को मानते थे। शेख मुहम्मद चिस्ती के चार कुतुब बतलाए गए हैं जिनके नाम जमाल, बुरहान, नूरदी और मनवर थे—

अवहि साहि की अस्तुति करिहूँ। रसन धाग जस मुकुता भरिहूँ॥
जहाँगीर जानहुँ तिह नाव। आन फिरी जाकी सब ठाँव॥
पीर सेष महमद है चिसती। बदन नूरि भाषतु हौं फिसती॥
रहन ठांव जानहु तिंह हांसो। देषत कटै चित्त की फांसी॥
क्यों न होइ पाछैं जिहिं कुतुब। चहूँ कूट प्रगट जिन रुतब॥

दोहा—पहिलै कुतुब जमाल है, दूसर है बुरहान।
नाव जाहि औषद परम, लये चिंत जुरहान॥
तीसर जानहु नूरदी, चतुर मनवर हेर।
सभ जग मैं जिनकी फिरी, कुतुब पने की रेर॥ (कँवलावती)

साहिजहाँ साहिन कौ साह। जहांगीर सुत जगतपनाह॥ (पुहुपवरिषा)

दारा सुजा षेत बिचराये। पुनि मुराद ग्वारेर चढाये॥
को अरि रह्यौ लरिन को नाहिं। इक छतराज करै जग मांहि॥
दीनहार वरवडडौ जूझार। औरंगजेब साहिमू द्वार॥ (नलदमयंती)

"राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज" नामक पुस्तक के प्रथम भाग में इनके विषय में इस प्रकार लिखा है—

"ये मुसलमान जाति के कवि मुगल सम्राट् शाहजहाँ के समय में जयपुर राज्य के फतेहपुर परगने के नवाब थे। इनका असली नाम अलफ खाँ था। कविता में अपना नाम "जान" लिखा करते थे। इनके पिता का नाम मुहम्मद खाँ और दादा का ताज खाँ था। इनका "रसमंजरी" नामक ग्रंथ मिला है जो संवत् १७०६ वि० में लिखा गया था। यह इसी नाम के किसी संस्कृत ग्रंथ का भाषांतर है। इनके सिवा इनके रचे चार और ग्रंथों का पता है—रत्नावती, सतवंती, मदनविनोद, कविवल्लभ। ये ग्रंथ जैपुर के प्रसिद्ध विद्वान् हरिनारायण पुरोहित बी० ए० के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं"

प्रथम दो ग्रंथ प्रस्तुत रिपोर्ट में आ गए हैं। श्री अगरचंद नाहटा का एक लेख "कविवर जान और उनका कायमरासौ" शीर्षक से "हिंदुस्तानी (अप्रैल-जून ४५ ई०) में छपा है जिससे रचयिता के संबंध में यह पता चलता है—

"फतेहपुर (जयपुर के अंतर्गत के कायमखानी नवाबों के वंश में अलफ खाँ के पुत्र न्यामत खाँ "जान कवि" थे। इनके अन्य भाई दौलत खाँ, जरीफ खाँ और फकीर खाँ थे। ये दौलत खाँ से छोटे और अंतिम तीन भाइयों से बड़े थे। इनका वंश पहले चौहान था जिसका कवि को अपने जीवन में बड़ा गर्व था।"

'पुहुपबरिषा' रचना से भी विदित होता है कि अलफ खाँ का पुत्र दौलत खाँ था जिसके दादौ (पुरखे) का नाम क्याम खाँ था। इसमें दौलत खाँ की वीरता का वर्णन है—

जहांगीर प्रिथी के पाल। साहिन साहि भये बस काल ॥
उपज्यो सोर मेदनी माही। काहू कै मन कौं कल नाहि ॥
कियो अचानक साहि पयानो। सकल जगत पल में थहरानौं ॥
जेहे बडडे राजे राने। घर आगजे सब तजि तजि थाने ॥
तिहिं छिन दौलत खाँ चहुवान। रोपे पाव मेर परवान ॥
नीकैं राष्यौ काँगरौ, स्वामधर्म ज्यों माहिं।
अलिफ खान जाकौ पिता, तातें अचिरज नांहि ॥

इनकौ दादौ क्यामखाँ, मान्यौ पेरोसाहि।
दौलतखाँ कौं वावनी दै, करिहौं सम ताहि ॥

रचनाओं को देखने से पता चलता है कि "जान" बड़े प्रतिभा-संपन्न कवि थे। विषयों की विविधता से इनकी बहुज्ञता का भी परिचय मिलता है। हिंदी में लिखनेवाले मुसलमान रचयिताओं में सबसे अधिक इन्हीं की रचनाएँ हैं और संभवतः सबसे अधिक प्रेम-कथानक काव्य लिखनेवाले भी ये ही हैं। प्रेम-कथानक काव्यों की कथावस्तु भारतीय और भारतीयेतर दोनों तरह की हैं। इनकी भाषा अवधी न होकर ब्रज और ग्वालियरी है। ग्वालियरी का "कथा कनकावती" में उल्लेख स्पष्ट है—

भाषा आनी जो मुख आई। ग्वारेरीहू मनसा धाई ॥

प्रस्तुत ग्रंथों में कथा नलदमयंती, कथा कुलवंती, कथा खिजिरखाँ शाहजादे व देवल दे की, और कथा "सुभटराई" ऐतिहासिक रचनाएँ हैं। "कथा खिजिर-

खाँ शाहजादे व देवलदे" में हिंदुओं पर मुसलमानों के अत्याचारों का उल्लेख है जिसके अनुसार मुसलमानी काल में हिंदुओं को बलात् मुसलमान (तुरक) बनाया जाता था। जो मुसलमान बनना अस्वीकार करते उनको मार दिया जाता था—

हिंदू बहुत तुरक करि डारे। जे न भये ते पल में मारे॥

"सिख ग्रंथ" और ग्रंथ "सुधासिख" में जहाँ दशावतारों को ईश्वर न समझने का वर्णन है वहाँ मक्का-मदीना जाने का उपदेश किया गया है।

निरंजन एक कौ धावहु। कहा चौबीस दस गावहु॥
अयोध्या राम कहिए ना। सुमथुरा स्याम लहिए ना।
भए वे काल बस सिगरे। तिनहिं मानहु जनम धिगरे॥ (सिख ग्रंथ)

करता दये जुग पाइ रे। मक्कै मदीनै जाइ रे॥
...............सेवा करहु चित लाइ रे॥ (सुधासिख)

स्वर्ग में भी हिंदू मुसलमानों का द्वेष दिखलाया गया है। "बलूकिया बिरही की कथा" और "तमीम अंसारी की कथा" में हिंदू अप्सराओं (अप्सरों) और मुसलमान अप्सराओं की लड़ाई का उल्लेख है, जिसमें उत्तर पक्ष की विजय होती है। साहित्यिक, ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टियों से ये ग्रंथ महत्त्वपूर्ण हैं। पाहन-परीक्षा, बाजनामा और कबूतरनामा भी अपने विषय की सुंदर रचनाएँ हैं। "रत्नावती" में रचयिता ने प्राचीन कथा को नई करने का उल्लेख किया है—

कथा पुरातन कीनी नई। नौ दिन में संपूरन भई॥

लैलामजनू, नलदमयंती, छीता, अरदसेर पातसाहि, तमीम अंसारी आदि कथाएँ प्राचीन हैं। रतनमंजरी, पुहुपबरिषा, छबिसागर, कँवलावती, कामलता, कलावंती, रूपमंजरी आदि कथाओं का प्राचीन आधार संभाव्य है।

मिरजा मुहम्मद "जान"

इनकी "प्रेमलीला"[६] नामक पुस्तक प्रेममार्गी शैली की है जिसमें प्रेम के अंतर्गत कोमल और मधुर भावों का अत्यंत स्वाभाविक और सरस वर्णन है। इसमें कोई प्रेम-कथा नहीं दी है वरन् प्रेम की ही अनेक व्यंजनाएँ हैं। रचनाकाल का उल्लेख नहीं है। लिपिकाल हिजरी सन् १२६५ (१९०६ वि० ?) है।

६—पता–श्री गोपालचंद्र सिंह, विशेष कार्याधिकारी, प्रांतीय सचिवालय, लखनऊ।

प्रस्तुत रचना के साथ साथ इन्होंने इसका फारसी अनुवाद भी रखा है। कविता का नमूना लीजिए—

बाँसुरिया बिछुरन भइ भारी। बिछुरन दुख वह रोइ पुकारी ॥
जब वह रोइ बिछुर बनवारी। धुनि सुन रोये पुरुष अरुनारी ॥
जल सों बिछुरि मछरिया रोई। मेरो मिलन बहुरि कब होई ॥
कैसे निबहै जीवन मेरो। रीत परे संग तजौं न तेरो ॥
निकसि तीर सों बाहर पड़ी। खन उलटी खन सूधी गड़ी ॥
तरुवर सों जिमि पाती झड़ी। पौन की मारी इत उत पड़ी ॥
बिरह वियोग किमि जाने कोई। जापर बीते जाने सोई ॥
अपने प्रीतम लाल से, मिलि बिछुरै जनि कोइ।
बिछुरन दुख सो जानहिं, जो कोइ बिछुरा होइ ॥

तामसन साहब

इनका "ज्योतिष और गोलाध्याय"[७] नाम से एक पुराना छपा ग्रंथ मिला है। यह पहले बँगला में था जिसका इन्होंने हिंदी खड़ी बोली गद्य में अनुवाद कर श्रीरामपुर (बंगाल) में सन् १८२२ ई० (संवत् १८६६ वि०) में छपवाया था। इसमें भूगोल और खगोल का वर्णन प्राचीन भारतीय ग्रंथों एवं आधुनिक खोज और विज्ञान के आधार पर किया गया है। नीचे इनकी भाषा का नमूना दिया जाता है—

ज्योतिष के विवरण

आकर्षण विषय

ईश्वर ने सब वस्तुओं को ऐसा स्थापन किया है कि सब वस्तु महत्व क्षुद्रत्व के अनुसार आपस में आकर्षण करती है तिससे सब बड़ी वस्तु चारों ओड़ को छोटी वस्तुओं को अपनी तर्फ खेंचती हैं इसलिए सूर्य पृथ्वी को अरु और और ग्रह को आकर्षण करता है और पृथ्वी चान्द को आकर्षण करती है क्योंकि वह पृथ्वी से छोटा है।

थेघनाथ या थेघू

इस त्रिवर्षी में इनका "गीताभाषा" (याज्ञिक संग्रह, आर्यभाषा पुस्तकालय, ना० प्र० सभा, काशी) नामक ग्रंथ मिला है जो गीता का पद्यानुवाद है। रचना-

७—श्री महावीर मिश्र, ग्राम ठटा, डाक० बीबीपुर, जिला इलाहाबाद।

काल संवत् १५५७ वि० दिया है। लिपिकाल चतुरदास कृत भागवत एकादश स्कंध के आधार पर संवत् १७२७ है। ये दोनों ग्रंथ एक ही जिल्द में थे; परंतु जिल्द टूट जाने पर इनको अलग अलग बँधवा दिया गया। इसके अंत में स्वर्गीय मयाशंकर जी याज्ञिक ने निम्नलिखित टिप्पणी लिखी है—

"थेघनाथ कृत गीता अनुवाद का लिपिकाल संवत् १७२७ वि० मानना चाहिए कारण कि चतुरदास कृत एकादश स्कंध (भागवत) की प्रति जो इसी जिल्द में थी उसका लिपिकाल १७२७ वि० है। दोनों के लिपिकार एक ही व्यक्ति हैं। देखो प्रति नं० २७८।५०। जिल्द टूट जाने से दोनों पुस्तकें अलग कर दी गई हैं।"

रचयिता का नाम थेघनाथ या 'थेघू' है। इनके आश्रयदाता का नाम भानु-कुँवर था जो गोपाचल (ग्वालियर) के तत्कालीन राजा मानसाहि के पुरुषों में थे। उनके पिता का नाम कीरतसिंह था।

पद्रसै सत्तावनि आनु। गढु गोपाचल उत्तम ठानु ॥
मान साहि तिह दुर्ग्ग निरिंदु। जनु अमरावति सोहै इंद ॥
ता घर भान महा भरु तिसै। हथनापुर महि भीषम जिसे ॥
सर्व जीव प्रतिपालै दया। भानु निरंदु करै तिह मया ॥

× × ×

इहि संसारं न कोऊ रह्यौ। भान कुवरु थेघू सों कह्यौ ॥
माता पिता पुत्र संसारु। यहि सब दीसै माया जारु ॥
जाहि नाम ना कलजुग रहै। जीवै सदा मुत्रौ कौ कहै ॥
कहा बहुत करि कीजै आनु। जो जानै गीता को ग्यानु ॥

देवेश्वर माथुर

इन्होंने भरतपुर-नरेश बहादुरसिंह के पुत्र पहौपसिंह के नाम पर "पहौप-प्रकाश" (याज्ञिक संग्रह, ना० प्र० सभा, काशी) की रचना की। इसमें शारदा-स्तुति, श्रीकृष्ण और राधिका का गुण-वर्णन, प्रीतपावस, वसंत-वर्णन, राजकुल वर्णन, नगर-वर्णन आदि पर रचनाएँ हैं। रचनाकाल और लिपिकाल संवत् १८३९ वि० है।

रचयिता ने ग्रंथ को प्रस्तुत करने में सुजानसिंह को भी हेतु माना है।

ताही छिन उत्पति कीय, उन मन मतो उपाइ।
सिंह सुजान बैठ्यौ हुतौ, परपाटी कौ प्यार ॥
पिता पिता के नाम के, द्वै स्कंद उधारि।
वेउ हित करिकें करैं, पौहौप प्रकाश प्रकार ॥
सिंघ सुजान सुभ गौर कुल, राजस्यंघ कौ भाय।
कहौ क्यों न विधिपूरवक, देवेस्वर सौं जाय ॥

× × ×

इम सुजान म अइसु पाइव। गिरा गनेस ध्यान धरि ध्याइव ॥
जुक्त युक्त तिनतै तव पाइव। यथा यथा परसंग रचाइव ॥

॥ दोहा ॥

टिप्पन देवेस्वर कियव, जुरति जुगति सौ सांढि।
वासुदेव वसुदेव सुत, वरस गांठि कौं गांठि ॥

इस अवतरण से स्पष्ट है कि पहौपसिंह ने गौड़-कुलोद्भव सुजानसिंह को आज्ञा दी कि वह देवेश्वर की सहायता से पहौपप्रकाश की रचना करे। अस्तु।

देवेश्वर माथुर पहौपसिंह के आश्रित थे, जिनके वंश के साथ इनका परंपरागत संबंध था। ग्रंथ के छठे अध्याय की पुष्पिका में इस प्रकार उल्लेख है-"इति श्री यदुकुल कलस मनिराजो राज पौहोपसिंह माथुर कुल कवि देवेस्वर मधुमंजरी षष्टमो दलः ६ ॥"

पहौपसिंह वैरीगढ़ (भरतपुर राज्य) में रहते थे। इनकी वंशावली नीचे दी जाती है—
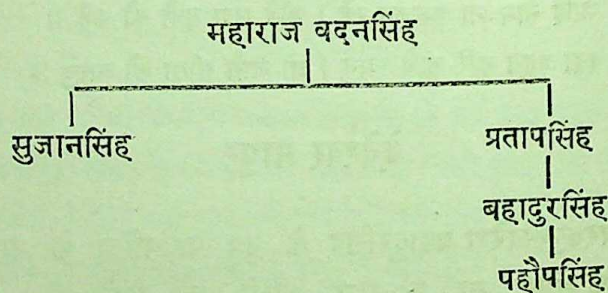
यहाँ ग्रंथ से एक कविता नमूने के तौर पर उद्धृत की जाती है—

प्रीतपावस

सीतल मंद सुगंध समीर सरीर लगै धुनि बोलत होपि।
भूमि हरी जल देषि भरी सुधि सरव हरी सुष की गति लोपि ॥

"देवेसुर" आन कहा कहिये चपला चमकै सु मनौं असि ओपि।
प्यारी हमारी गुहार लगौ लग आजु घटा घन घेरि कैं कोपि ॥

नवरंगदास

प्रस्तुत त्रिवर्षी में 'लीलाप्रकाश' नाम से इनका एक ग्रंथ मिला है, जिसमें धामी पंथ के सिद्धांतानुसार ब्रह्म के अवतारों की लीलाओं का वर्णन है। रचनाकाल एवं लिपिकाल अज्ञात हैं।

ग्रंथ द्वारा रचयिता के संबंध में इतना ही पता चलता है कि ये धामी पंथ के अनुयायी थे। मंदिरवालों (धामी पंथ का मंदिर, विशुनपुरा, डाक-भागलपुर, जिला गोरखपुर) से पूछने पर पता लगा कि ये स्वामी प्राणनाथ जी के शिष्य थे। इससे ग्रंथ की प्राचीनता प्रकट होती है।

उक्त मंदिर से तथा वहाँ रखे एक ग्रंथ "निजानंद चरितामृत" (रचयिता कानपुर-निवासी पं० कृष्णदत्त शास्त्री, प्रकाशक श्री निजानंद प्रि० प्रेस, श्री नवतन पुरी, जामनगर) से स्वामी प्राणनाथ जी के संबंध में बहुत सी नवीन बातें ज्ञात हुईं जो इस प्रकार हैं—

इंद्रावती, श्री जी और महामति स्वामी प्राणनाथ जी के नाम हैं। उनके निवास-स्थान का नाम नवतनपुरी (गुजरात), माता-पिता के नाम धनबाई और केशवराय, भाइयों के नाम क्रमशः हरिवंश जी, सामलिया जी, श्री महेराज जी (स्वयं प्राणनाथ जी) और उद्धव जी थे। पिता राजा के दीवान थे। गुरु का नाम श्री देवचंद था। फूलबाई और तेजकुँवरि इनकी स्त्रियाँ थीं। पिछली खोज-रिपोर्टों में इंद्रावती, श्री जी और महापति उनकी स्त्रियों के नाम माने गए हैं। स्वामी प्राणनाथ जी के लिये देखिए खोज-रिपोर्ट (२०—१२६; ६—८०; २६—३४६; ४१—१४०; दि० ३१—६५; ४६—२६६; ६—२२५; ३२—१६८; ३८—१०६)।

पंचौली देवकर्ण

ये 'वाराणसी-विलास' नामक बृहद् ग्रंथ (विद्याविभाग, काँकरोली) के रचयिता हैं। प्रस्तुत ग्रंथ बाराह-पुराणांतर्गत काशी-खंड के आधार पर लिखा गया है। रचनाकाल संवत् १८०७ और लिपिकाल १८०८ वि० है।

ग्रंथ की पुष्पिका के आधार पर रचयिता महाराणा जगतसिंह (मेवाड़ ?) के अमात्य थे। ग्रंथांत में इन्होंने अपने गुरु लछीराम का उल्लेख किया है—

ब्राह्मण माथुर एक जाति जाकी घरबारी।
हरजी मिश्रह नाम भक्त गणपति के भारी॥
तिन सुत उद्धवदास आहि जो चतुर सिरोमनि।
लछीराम तिन पुत्र देववानी प्रवीन मनि॥
जिन सम न वियौ भाषाय में, उन असीस की शक्ति सों।
मुहि करयौ कवी तब मैं रच्यौ, यहै ग्रंथ शिव भक्ति सों॥ ६७॥

इससे विदित होता है कि उनके गुरु लछीराम के पिता का नाम उद्धव जी और पितामह का नाम हरि जी मिश्र था। ये लोग माथुर चौबे थे। और कोई परिचय नहीं मिलता। "राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज (प्रथम भाग)" में रचयिता का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—"ये कायस्थ जाति के कवि, मेवाड़ के राजा जगतसिंह (दूसरे) के दीवान थे। इनके पिता का नाम हरनाथ और दादा का महीदास था। संभवतः १८०३ में इन्होंने 'वाराणसी विलास' नामक एक बहुत बड़ा और उच्च कोटि का ग्रंथ वाराह पुराण के काशीखंड के आधार पर लिखा था—

आश्विन कृष्णा अनंत तिथि, अठारह सै तीन।
उदयपुर शुभ नगर में, उपज्यौ ग्रंथ नवीन॥

"देवकर्ण हिंदी, संस्कृत के अच्छे विद्वान् और प्रतिभाशाली कवि थे। वाराणसी-विलास में इन्होंने कई प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है और विषय के अनुसार छंदों के बदलने में भी अच्छी पटुता प्रदर्शित की है। इनकी भाषा व्रजभाषा है। कविता प्रौढ़, कर्णमधुर और सद्भावोत्पादक है।"

उपर्युक्त विवरण में दिया गया रचनाकाल प्रस्तुत प्रति के रचनाकाल से नहीं मिलता। प्रस्तुत प्रति में रचनाकाल इस प्रकार है—

श्री विक्रम तें वर्ष वीतिगे जबही इतने।
मुनि (७), नभ (०), वसु (८), अरु इँदु (१), जानि लीज्यौ चित तितने॥

परंतु यह रचनाकाल अनुक्रमणिका के अंश में दिया है, जो ग्रंथ की समाप्ति के पीछे जोड़ा गया होगा।

कविता का नमूना

छप्पय

सुंडा दंड प्रचंड रंग मंडित सिंदूर वर।
भालचंद जगवंद शुभ्र तिरपुंड तास तर।
मनिमय सुवन किरीट हेम सिर छत्र विराजित।
अलि गुंजत मद लोभ लोल कुंडल श्रुति राजत।
भुज चारि चारु भूषन कलित, लंबोदर असरन सरन।
नित देवकरन वंदित चरन, हरनंदन आनंद करन ॥२॥

प्राणनाथ सोती

इनकी 'जेहली जवाहिर' (ना० प्र० सभा काशी, याज्ञिक संग्रह) नाम से एक रचना मिली है जिसमें मूर्ख (जेहली) और सुकुमार (सोफी) तथा व्यसनी (अमली) और नपुंसक (नामर्द) लोगों की लड़ाई का वर्णन किया गया है। मूर्ख और सुकुमार एक ओर थे तथा व्यसनी और नपुंसक दूसरी ओर। पूर्व पक्ष लड़ाई में नष्ट हो जाता है। कथा हास्य-रस की है। रचनाकाल नहीं दिया है। लिपिकाल १७६० वि० है। रचयिता का नाम पुष्पिका के अनुसार प्राणनाथ सोती है। अन्य परिचय नहीं मिलता।

प्रस्तुत प्रति महत्त्वपूर्ण है। यह सुप्रसिद्ध कवि सोमनाथ की लिखी है। इससे उस समय के प्रसिद्ध कवियों की शुद्धाशुद्ध लेखन-शैली के विषय में पता चलता है। अनुस्वार के बदले चंद्रविंदु प्रयुक्त हुआ है। प्रति शुद्ध है। एक महाकवि को दूसरे के ग्रंथ की प्रतिलिपि करने में अपने उत्तरदायित्व का किस प्रकार निर्वाह करना चाहिए, यह इससे प्रकट होता है। ग्रंथ से एक उद्धरण दिया जाता है—

घसि कै मारेंगे निसि सवै। तब हम भाजि सकैंगे कवै।
अमलिनु कियौ विचार सुनीकौ। जामैं जानु न काहू जीकौ ॥
परबत तें पय नदी बहाऔ। रहेव तिनकों मारि बहाऔ ॥
परबत तैं पय नदी जु छोड़ी। सिगरे बहे परी नहि ओड़ी ॥
अमलिनु अमलिन सों यों कहीं। नामरदन की रैयति सही ॥
अमल करैं सैलन कों जाही। नामरदन पै तें लै षाही ॥
जौ ए कह्यौ हमारौ डारैं। तौ इनकों बातनु सों मारैं ॥

मारे सोफी जेहली, फते लही है आपु।
कंचन रैयति प्रभु दई, मिट्यौ सकल संतापु॥

फणींद्र मिश्र

इन्होंने संवत् १७०१ में हुई एक पंचायत की अध्यक्षता की थी और मिताक्षरा के आधार पर उसमें न्याय भी किया था। यह न्याय एक देशी कागद के पत्र पर लिखा मिला जिसका विवरण लेते समय सुविधा की दृष्टि से "पंचायत का न्यायपत्र" (ना० प्र० सभा काशी) नाम रख दिया गया है। यह गद्य में है और इसकी भाषा पूर्वी अवधी है। मध्यकालीन पंचायतों की कार्यवाही का स्वरूप किस प्रकार था, इसके द्वारा उसकी जानकारी प्राप्त होती है। साथ ही इसमें प्रयुक्त तत्कालीन स्थानीय बोली का नमूना भी देखने को मिलता है, जो भाषाशास्त्र की दृष्टि से पठनीय है। नीचे पत्र की नकल दी जाती है—

श्री कृष्णश्शरणम्॥

लि० फणींद्र मिश्र आगे हमने इहाँ भूमि के विवाद में मिताक्षरा पूँछै ऐलहि लाग वादी धारूराय प्रतिवादी विजयीराय से वद दुनौ वादी क शुनल दुनौ वादी मीचलिका लिखि दिहल मिताक्षरा कै पूजा भैलि मिताक्षरा देषल मिताक्षरा की उक्ति तें धारूराय कें दिव्य उतरल धारूराय लोहें आपन सत्व साधि लेहि वैशाख सुदि मह (?) आदितवार कें दिव्य होइ॥ तथा च वाक्यं॥ भोगे नष्टे ततः कश्चिद सोयं मे भुनक्त्युत। तद्दिवा देवि धातव्यं दिव्य विसारदैरिति वचनादेवेति किं वहु विस्तरेण ≡ संवत् १७८८१ चैत्र वदि चतुर्दशी शनैश्चर ≡
लिखनक वृतांतदर्शी रेवतीराम पाठक

बलदेव कवि

इनका 'दशकुमार-चरित्त'[८] ग्रंथ मिला है जो इसी नाम के संस्कृत ग्रंथ का हिंदी अनुवाद है। इसकी प्रस्तुत प्रति खंडित है जिसमें रचनाकाल और लिपिकाल का कोई पता नहीं चलता। रचयिता का इसके द्वारा इतना ही वृत्त मिलता है कि वे किसी बघेलखंडी राजा विक्रमाजीत देव के आश्रय में रहते थे—

"इति सकलाराति जनाकी कीर्तिछपामुषाभ्युदित्यं यशश्चंदचंद्रिकानंदि मित्र चकोर बघेल वंसावतंस श्रीमहाराजकुमार विक्रमाजीतदेव प्रोत्साहित बलदेव कवि विरंचिते दसकुमारचरिते अपहारवर्मा चरितं नाम सप्तमोछ्वासः॥ ७॥"

८—कुँअर लक्ष्मणप्रताप सिंह, ग्राम साहिपुर (नौलखा), डाक० हँडियाखास, जिला इलाहाबाद।

अन्य विवरण अप्राप्त है। परंतु "शिवसिंहसरोज" (पृ० ४५५) में जिस बलदेव का उल्लेख है वे यही जान पड़ते हैं। उसमें इनका उल्लेख इस प्रकार है—

"ये कवि राजा विक्रमसाहि बघेल देवरानगर वाले के इहाँ थे। उन्हीं राजा की आज्ञानुसार एक ग्रंथ 'सतकविगिराविलास' नाम बहुत ही अद्भुत संग्रह बनाया इस ग्रंथ में १७ कवि लोगों की कविताई है अर्थात् शंभुनाथमिश्र १ शंभुराज सुलंकी २ चिंतामणि ३ मतिराम ४ नीलकंठ ५ सुखदेव पिंगली ६ कविंद त्रिवेदी ७ कालिदास ८ केशवदास ९ विहारी १० रविदत्त ११ मुकुंदलाल १२ विश्वनाथ अताई १३ बाबू केशवराइ १४ राजागुरुदत्तसिंह १५ नवाब हिम्मतिबहादुर १६ दूलह १७ और बलदेव की काव्य महा विचित्र हैं। २०९ सफा॥"

यहाँ इनकी थोड़ी सी कविता दी जाती है—

कह्यो सषे अब समय तुम्हारा। कहो आपनी कथा उदारा॥
हसि प्रनाम करि विनय अनेका। लग्यो कहन सोउ सविवेका॥

× × ×

उपहार वर्मा

फिरत मही मै जो इक वारा। देषी मिथिला जाइ उदारा॥
जो विदेह नृप की रजधानी। भूमि स्वर्ग सी विबुध वषानी॥
निकट जाइ नहि कियो प्रवेसा। बाहर लषि एक कुटी सुदेसा॥

बलरामदास

"गीता-ग्रंथ-सार" (ना० प्र० सभा, काशी) नाम से इन्होंने गीता का अनुवाद किया है। रचनाकाल लिपिकाल ग्रंथ में नहीं दिए हैं। इसकी भाषा विहार-उड़ीसा की सीमा पर बोली जानेवाली हिंदी है।

रचयिता के पिता का नाम सोमनाथ महापात्र था जो संभवतः नीलगिरि के राजा जगन्नाथ के मंत्री थे। इन्हीं जगन्नाथ की आज्ञा से प्रस्तुत ग्रंथ की रचना हुई—

श्रीकृष्ण कहे अर्जुन सुणि गीता ग्रंथुसार। से योग बलरामदास भणिये आज्ञा देले जगन्नाथ॥१॥

× × ×

प्रथम अध्यागीता प्रश्नुधा बलरामदास भणी। नीलगिरी जगन्नाथदास प्रसने परम रस वखाणी १२५

× × ×

रामराज्य लदिम सुखे भोग करु थांई श्री जगन्नाथ प्रसने गिता शास्त्र एहि अष्टादश अध्या गिता सार ए संपूर्ण पुठिला सुणिला लोकं कर बड़ पुन्य लिलगिरी विजये मो प्रभु जगन्नाथ मुकुट कुंडलहार संख चक्र हस्त स्थूल जोगभोग पुन्यर प्रकास निल मुख भावि भणे बलरामदास ६० मंत्रिवर महापात्र सोमनाथ नाम ताहार तनये मुंहि बलराम जगन्नाथ ठाकुर सुदया मोते कले विष्णुरविरित बोलि लोके प्रते गते गले ६१ मंथन चतुरो वेदा सार उद्धार षोडसि लवणी भुंजंती ज्ञानिनो तिक्त भवंति पंडिता।

ये संभवतः बिहार-उडीसा की ही ओर के रहने वाले थे, जैसा ग्रंथ की भाषा से प्रकट होता है। नीलगिरि राज्य भी उधर ही है। अनुवाद का नमूना इस प्रकार है—

॥ दुतीय पीठवंध ॥ श्रीहरि घेनीण पांडेव वल जाई प्रवेश रण रंग स्थान।
भीस्म सहिते सांग्राम भुमी आसि मीलिले कैरवमान ॥ १ ॥

॥ तृतीय पीठवंध ॥ एसनेक समये व्यास मुनि विजए धृतीराष्ट्र पास।
कल्याण करिण बोलइराये युध्य देखि कुटि कि आस ॥

॥ चतुर्थ पीठवंध ॥ जहुं से व्यास कृष्ण आज्ञा पाईण कष्ट कराइवा पाईं।
पुत्र मीत्र देखि वाकुतेयु नृपती की राई ॥ ० ॥

भगवतदास

ये "शृंगाररससिंधु" (विद्याविभाग, काँकरोली) नामक ग्रंथ के रचयिता हैं। ग्रंथ में शृंगार रस का शास्त्रीय विवेचन किया गया है। रचनाकाल और लिपिकाल क्रमशः संवत् १७७० वि० और संवत् १८७७ वि० हैं। रचनाकाल का दोहा इस प्रकार है—

संवत् सत्रह से सुभग, सत्तर बरस वखानि।
माधव सित तृतीया गुरौ, धाता सोभन मानि ॥ २१ ॥

रचयिता पुष्पिका के अनुसार किसी कृष्णदास के वंशज थे; अन्य परिचय नहीं मिलता—

"इति श्री कृष्णदास वंस संभव भगवद्दास प्रकासिते शृंगाररस सिंधौ द्वादसमासवर्णनं नाम द्वादश कल्लोल संपूर्णं।"

पिछली खोज रिपोर्टों में आए इस नाम के रचयिताओं से ये भिन्न हैं। इनकी कविता का नमूना इस प्रकार है—

अंकुर है भाव प्रेम कंदल प्रणय साखा पल्लव है राग सोई नीके कर जानिए।
अनुराग कलिका सों झुकि रह्यो चहूं ओर बिसन कुसम नित प्रफुलित मानिए।
नेह फल नूतन अखण्ड है विराजमान कहे रिझवार भाव पूरन प्रमानीए।
लपटि रही हैं ब्रज सुंदरी लतानि जहां एसो रस रूप सुरतरु उर आनीए॥ १॥

× × ×

एक पाइ सों चांपि, पग दूजे दूजो पेलि।
वृक्षारूढ़ सो जानिये, पिअ भुज अंतर मेलि॥ ४॥

× × ×

भरसीमिश्र—रामनाथ पंडित

ये "नलोपाख्यान"[६] ग्रंथ के रचयिता हैं। ग्रंथ का विषय उसके नाम से स्पष्ट है। इसकी प्रस्तुत प्रति जीर्ण-शीर्ण एवं खंडित है। रचनाकाल और लिपिकाल का उससे कोई पता नहीं चलता। साहित्यिक दृष्टि से यह उत्तम रचना है।

रचयिता ने अपना जो वृत्त दिया है उसके कई अंश नष्ट हो गए हैं। जो कुछ बच गया है उसके अनुसार ये आजमगढ़ के दक्षिण मेहाग्राम के निवासी थे। इस गाँव से दक्षिण की ओर बसे महादेवपारा की इन्होंने प्रशंसा की है। इसके अतिरिक्त इनका और कोई वृत्त नहीं मिलता। परंतु ऐसा हो सकता है कि भरसी-मिश्र और रामनाथ पंडित अलग व्यक्ति हों। एक मेहाग्राम के और दूसरे महादेव पारा के।

आजमगढ़ के दछिन अहई। मेहाग्राम विदित जग कहई॥
ताके दखिन महदेवपारा। तापर रामदयाल कृपाला॥

× × ×

रामनाथ पंडित तहं रहई। राम कृपा ते बहु सुख लहई॥२४॥

प्रस्तुत ग्रंथ की रचना हर्ष-कृत नैषध के आधार पर हुई है जिसमें महाभारत की कथा से भी थोड़ी सहायता ली गई है—

नैषध कवि श्री हर्ष बनाए। विद्यामानन्द के...॥
ताहि बिलोकि कियो हम भाषा। भारथ कथहि कछुक तहं राषा॥

नीचे कविता का नमूना दिया जाता है—

सोम वंस एक राजा भएऊ। वीरसेनि नामा जग तएऊ॥
जससागर नागर सुख धामा। वीरसेनि राजा शुभ नामा॥

६—श्री देवराज पांडेय, ग्राम नोनरा, डा० रामपुर, जि० गाजीपुर।

धर्मसील नल सम नृपति, भयो न ह्वै है जानु।
दाता सुजस प्रताप जुत, कीरति तें अनुमानु॥

भारथसिंह या भारथसाहि

इन्होंने "सतकवि कुलदीपिका"[१०] नाम के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की है जिसमें साहित्य (पिंगल, अलंकार और नायिकाभेद) और कविशिक्षा (राजा, रानी, पुरोहित और सेनापति) संबंधी विषयों का वर्णन है। नीचे बिषयों का नामोल्लेख किया जाता है—

पिंगल, मूठ, सत्य, टेढा, त्रिकोण, आवर्त, सौत, कठिन, सुख, दुख, चंचल, वर्ण, ऋतुराज, राजा, रानी, कुमार, पुरोहित, सेनापति, आखेट, जुक्ताजुक्त, अतिशयोक्ति, उपमालंकार, किलकिंचित-हाव, नख-शिख, शृंगार, राग, अनुराग और अर्थविधान आदि।

रचनाकाल का उल्लेख नहीं किया गया है। लिपिकाल संवत् १८६७ है। रचयिता ने अपने निवास-स्थान का नाम 'देउरा' और पिता का नाम 'हरिसिंघ' लिखा है। अपनी विस्तृत वंशावली भी दी है जिसके अनुसार ये राजवंशी थे। अतः ग्रंथ का महत्त्व ऐतिहासिक दृष्टि से और बढ़ जाता है। इनके मूल पुरुष पृथीचंद बांधवगढ़-नरेश शालिवाहन के भाई थे। इस गढ़ को सौमित्त (शत्रुघ्न?) ने बनवाया था। पृथीचंद यहाँ से अमिला (जमुनातट, प्रयाग) में जा बसे और उनके पुत्र कर्णराय देउरी में। ग्रंथकर्त्ता ने अपनी वंशावली इस प्रकार दीहै—

बाँधवगढ़ सब गढ़नि वर, विरच्यौ जेहि सौमित्तु।
दुर्गम दुसह दुरूह अति, उन्नत अमित पवित्तु॥
दीर्घ कोस लौ उच अति, कोस चकरइ चारि।
केदली केतकि आदि वन, चहुँदिसि पुरित वारि॥ ४
घेरि सिषर चहुँ फैरि जहँ, सिध्यन केर निवास।
होम धूम प्रगटत महा, निसिवासर चहु पास॥
असगड के वर भूप भै, सालिवाँह तेहि नाम।
ताहि सहोदर पुन्निमै, प्रीथीचंद भै राव॥

१०—श्री लालसंकर्षण सिंह, ग्राम सुंदरपुर, डाक० बारा, जि० इलाहाबाद।

वौउ पदवी पाइ तिनि, कीन अमिलिआ धाम।
जमुना तट पावन परम, मुख समूह वसु जाम ॥७॥

× × ×

पृथीचंद के प्रथम सुत, कर्नराय जेहि नाम।
छोडि अमिलिआ सो वसै, देउरा गुनमै धाम॥
ताके सुत वर पुन्निमै, नाम मेदिनीसिंघ।
तेहि सन्मुष खलहु ह्वै, भुलिहु रहै न रिंघ॥१०॥
ताके प्रथम कुमार भे, मानसिंघ जेहि नाम।
ताके सुत वर पुन्निमै, राइसिंघ जसुधाम॥
तासु तनै वर जुध्य कृत, जसीराव कल्यान।
फतेसिंघ ता सुत भए, सुंदर सील निधान॥१२॥
तासुत भै पुनि राइजीव, महासुभट रनधीर।
दानि षानि गुन मानि हित, अति भरि ग्यान गंभीर॥१३॥
सत्रुसाल ता तनुज भो, जाचक करत निहाल।
गऊ पाल व्रह्मन सहित, सत्रुन के वर काल॥१४॥
पृथीपति ता सुत भए, महासुभट रनधीर।
तेज देवाकर रूप ससि, सागर ज्ञान गंभीर॥१५॥
ताके प्रथम कुमार भो, नाम विक्रमाजीत।
जनपालक घालक द्रुमन, व्रांभन कुल के मीत॥१६॥
प्रतापदित्य ता तनुज भो, जग्तराज सुत ताहि।
छत्रपती ता सुत भए दाता, सील निवाहि॥१७॥
हरीसिंघ विक्रम अनुज, ता सुत भारथसाहि।
एह सतकुल कविदीपिका, कीन्हौ ग्रंथ निवाहि॥१८॥

इसमें संदेह नहीं कि रचयिता प्रौढ़ और सर्वतोमुखी प्रतिभा के कवि थे। नीचे इनकी कुछ कविता दी जाती है—

भाव अभाव मुग्धा अभिसारिका के उदाहरण

घनाक्षरी छंद

नवल सलोनी लोल लोचन विसाल जाके उरज (सु) माल मुष सोभित मयंक हैं।
आइ बृजवाल वाल वोलनि सु सैन काजै चलहु गोपाल लाल वैठे परजंक हैं।

प्रथम जुवनि जानि प्रीतम सनेह पूरे समझि कलेस वड पाछे किम्र संक हैं।
"भारथ" भनत भाम वीरधै निधान रँगी परिहि निदान कीन्हे दीन्हौ विधि अंक हैं ॥६७॥

दोहा—गमन कीन निज पति भवन, अली ढकेलति ताहि।
माँनहु मत्त गयंद वर, लिहे महावत जाहि ।।

भीम

इनकी राजस्थानी भाषा में रची हुई "हरिलीला सोलह कला" (हिंदी-साहित्य-सम्मेलन-संग्रहालय, प्रयाग) नामक रचना मिली है। इसमें भागवत का विषय विशेष कर श्रीकृष्ण-चरित्र का संक्षेप में वर्णन किया गया है। रचनाकाल संवत् १५४१ वि० है—

संवत् १५ रुद्रनी वीस। वर्ष एक उपस्य (उपन्य = उपरि) चालीश ॥
उत्तमे उत्तरायण वीशेष । रतु वसंत संक्रांत्य मेष ॥ ८ ॥

अर्थात्, १५ सौ ऊपर एक चालीश या १५४१। 'रुद्रनी वीस' से यह तात्पर्य है कि उस समय रुद्र-बीसी चल रही थी। लिपिकाल संवत् १७२६ है।

रचयिता का नाम के अतिरिक्त और कोई वृत्त नहीं मिलता। परंतु प्रस्तुत ग्रंथ राजस्थानी भाषा में होने के कारण स्पष्ट है कि ये राजस्थान के रहनेवाले थे। प्रस्तुत विवरणिका में आए अपने नाम के रचयिता से ये सर्वथा भिन्न है।

रचना दोहा-चौपाइयों और पदों में की गई है। नीचे इनका एक पद दिया जाता है—

गीत राग वसंत वैराठी

अनंद एक अभीनवोरि वृंदावन मो झान्य।
वंश वजावे वीठलोरि तेणि छंद नाचे नान्य ॥३५॥
वृंदावन गोपी नाचे रि तेणि रंगे राचे राम।
राग मधूर स्वर आलवे रि गाए हरी वीलाश।
सूंदरी श्रवन वयोवनारि रंग भन्य षेले रास ॥३६॥
पाषल्य वृंद वीनती तणूंरि माहे सांमल वन।
"भीम" भणे अंतर ले लागोरि धन्य धन्य ते गोपीजन ॥३७॥

महीपति या महीप

ये "कविकुल-तिलक-प्रकास" नामक ग्रंथ के रचयिता है। ग्रंथ में नायिका-भेद, रस, अलंकार, गुण-दोष तथा पिंगल आदि का वर्णन है। इसमें संदेह नहीं कि यह साहित्यशास्त्र पर लिखे गए उत्तम ग्रंथों में से है। रचनाकाल संवत् १७६६ वि० है। लिपिकाल नहीं दिया गया है। आधुनिक बादामी कागज पर लिखी होने से इसकी प्रस्तुत प्रति बहुत प्राचीन नहीं।

रचयिता ने अपना जो परिचय दिया है, उसके अनुसार इनका नाम 'महीपति' या 'महीप' है। ये रामपुर (अमेठी, सुलतानपुर, अवध) के रहनेवाले थे। अन्य वृत्त अप्राप्त है—

संवत सत्रह सौ मिलै, तापर छासठि दीन।
भादौ सुदि दसमी गुरौ, विदित ग्रंथ तब कीन्ह ॥७॥
गढ़ा अमेठी देश है, रायपुरा शुभ थान।
आश्रम-चारि बसै जहाँ, सब पंडित सब जान ॥८॥
सुललित ताहि नगर में, कियो "महीपति" बास।
तिन्ह कीन्हो सुषरासि यह, "कविकुल तिलक प्रकास" ॥

ग्रंथस्वामी कुँवर रणंजयसिंह (ददन सदन, अमेठी, जि० सुलतानपुर) से पता चला कि ये (रचयिता) अमेठी राज्य के अधिपति थे। उनका वास्तविक नाम हिम्मतसिंह था। सुप्रसिद्ध कवि राजा गुरुदत्तसिंह उपनाम 'भूपति' के ये पिता थे। इनके आश्रय में सुखदेवमिश्र, कालिदास त्रिवेदी, उदयनाथ कविंद्र और दूलह आदि कवि रहते थे।

इनकी कविता का स्वरूप इस प्रकार है—

चारि भुजा अरु चंद्रलिलार लसै रद एक महा सुमती को।
दै मुष मंडल वंदन वेष धरे ही उदार बड़े ही जती को।
सेवत जाहि सदा सनकादिक प्रासोन आनि करै विनती को।
आदि "महीपति" को सुखदायक लायक पूत है पारवती को।

॥ अथ शृंगार रस निरूपनम् ॥

नवहू मे रसराज यह, याहि कहत यहि हेत।
स्याम देवता स्याम रंग, याते कह सचेत ॥११॥

मुरलीधर कविराइ

ये भागवत भाषा पंचम-स्कंध (ना० प्र० सभा काशी, याज्ञिक संग्रह) के रचयिता हैं। ग्रंथ में रचनाकाल और लिपिकाल नहीं दिए हैं तथा रचयिता का वृत्त भी अज्ञात है। अपने नाम में इन्होंने 'कविराई' शब्द जोड़ा है, इसकी पुष्टि ग्रंथ द्वारा भी होती है, जो काव्य की दृष्टि से सरस है। इन्होंने अपने आश्रयदाता का नाम राजा नवलसिंह लिखा है; परंतु यह पता नहीं चलता कि वे कहाँ के राजा थे। ग्रंथ में जहाँ तहाँ "यदुराज सुजान कौ सुत" आदि प्रयोगों से पता चलता है कि वे भरतपुर के महाराजा सुजानसिंह के पुत्र थे। पिछली खोज रिपोर्ट (१७-१७८) में उनका उल्लेख है, जिसके अनुसार वे संवत् १८१८ में वर्तमान थे।

ग्रंथ में चौपाइयों का प्रयोग न करके दोहा, सवैया, कवित्त, तोमर, छप्पय, कुंडलिया, भुजंगप्रयात, संखनारी, मालिनी और हरिगीतिका आदि छंदों में कविता की गई है। भाषा ब्रज है। पता चलता है कि रचयिता ने अपने आश्रयदाता के आदेशानुसार केवल पंचम-स्कंध का ही अनुवाद किया था—

नवलसिंह नृप ने कही, मुरलीधर कविराइ।
स्कंध पाँच यों भागवत भाषा देहु बनाइ॥

यहाँ इनकी कुछ कविता दी जाती है

सवैया

जाहि विरंचि समाधिन साधि अगाध अनंत न भेद बतायौ।
जाके लियें सब सिद्ध प्रसिद्ध सदा धरयो ध्यान नहीं मन आयौ।
जाकहु बेदहू सोधि रहे अनुमानहीं तें सुमिरयौ गुण गायौ।
सो मुरलीधर श्री शुकदेव परीछत कौं परतछि सुनायौ ॥३॥

कवित्त

कविनि की कामना पुजामन कौ सुरतर कामिनि के उरनि मनोज उनमान हैं।
मित्र कुमुदनि के विकासिवे कौं कलानिधि अरितम तोरिवे कौं तेजवंत भान हैं।
बीरनि में महावीर नृपत नवलसिंह रसिकन माझ सोहैं रसिक सुजान हैं।
ज्ञानिनु में देखियतु पूरौ ज्ञानमान पुनि मुनिनु की आसिषा है गुनिन कौ प्राण है ॥५॥

शिवदत्त त्रिपाठी

प्रस्तुत त्रिवर्षी में "दशकुमारचरित्र" (पता पृ० २४, पा० टि० ८ में) नाम से इनकी एक रचना मिली है, जो इस नाम के मूल संस्कृत ग्रंथ का सरस

हिंदी पद्यानुवाद है। इसमें दोहा, चौपाई, कवित्त और सवैया आदि छंद प्रयुक्त हुए हैं। साहित्य की दृष्टि से रचना निस्संदेह उत्तम है। खेद है इसकी प्रस्तुत प्रति खंडित है जिससे रचनाकाल और लिपिकाल का पता नहीं चलता।

रचयिता ब्राह्मण थे और वनउध देश (संभवतः प्रयाग के अंतर्गत?) के अंतर्गत पटीपुर के राजा जबरेससिंह के आश्रित थे। अन्य विवरण अज्ञात है। आश्रयदाता का वंशवृत्त इस प्रकार है—

मित्रजीत (वनउध देश के अंतर्गत बेलखर स्थान के निवासी)
|
धीरसिंह (पटीपुर राजधानी बनाई)
|
समरसिंह
|
अमरेससिंह — जबरेससिंह (रचयिता के आश्रयदाता)
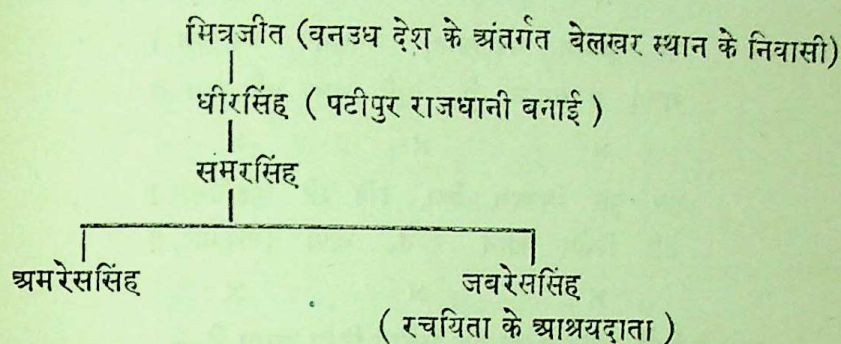
ये राजा वत्सगोत्रीय चौहान थे और पहले वनउध के अंतर्गत बेलखर में रहते थे—

धरनी चक्र समस्त में, वनवध देश अनूप।
नीति रीति जुत भीति बिनु, विविध वसैं तह भूप ॥
वनउध हू मै अति सुभग, सोभित बेलषर देस।
बसत लोक विनु सोक तहं, धन ते तुलित धनेस ॥ ३ ॥

× × ×

ता पति सुरपति के सरिस, अद्भुत वीर चरित्र।
मित्रजीत भूपति भए, निज कुल सरसिज मित्र ॥
जगत प्रसंसा होत जेहि, वंस विदित चौहान।
बछगोती विष्यात महि, उदभट उदित कृपान ॥
धीरसिंह ताके तनै, भये प्रवल रनधीर।
को नर सकै सराहि तेहि, जैसी मति गंभीर ॥

× × ×

नीति रीति बसकरि सबै, उद्यत धीर नरेस।
पटीपुर नृपपुर कियो, मध्य सकल निज देस ॥१०॥

× × ×

धीरसिंह के सुत भये, समरसिंह छितिपाल।
नृपगुण रंचि विरंचि बहु, लिषे भाग्य जेहि भाल ॥

× × ×

श्री समरेस नरेस के, दो सुत भे अभिराम।
अमरसिंह जबरेस यौं, धरे जथारथ नाम ॥१७॥

× × ×

यौं जबरेस महीपमनि, मंगलमय सब काल।
राजत राजसमाज मैं, भूरि भाग्य भरि भाल ॥

× × ×

वार वार सिवदत्त द्विज, इमि करि बुद्धिविचार।
तेहि विनोद कारन रच्यौ, भाषा दसोकुमार ॥

× × ×

नमूने के लिये रचयिता का एक सवैया दिया जाता है—

सुद्ध दयाकर के छविदेह सुपुस्तक बीन विराजत पानी।
वाहन हंस लसे अवतंस, सुपावन कीरति वेद वषानी।
सेत सरोज के आसन पैं वसि लोक के सोक सरोज हिमानी।
सानि सनेह हिये "सिवदत्त" के वानि जु आइ वसैं द्रिढ वानी॥

शिवदास गदाधर

इन्होंने संवत् १६१० में "दिग्विजै चंपू" (पता—श्री लक्ष्मीदेव द्विवेदी, मु० अलीनगर, गोरखपुर) की रचना की; जिसमें सृष्टि-तत्त्व, राजनीति, धर्म और ज्ञानोपदेश वर्णित हैं। ज्ञानोपदेश देव्यागमों के आधार पर हुआ है जिसमें दीक्षा, निर्णय, योग, ध्यान, आसन, जप-तप, नियम-उपनियम, माला, नाम-स्मरण, पूजा और कलि-संसर्ग-दोष आदि संमिलित हैं। पुष्टि और प्रमाणों के लिये शैवागमों और वैदिक ग्रंथों से भी उद्धरण दिए गए हैं। प्रत्येक विषय का वर्णन अध्यायों (खंडों) में काव्य-शैली पर हुआ है, अतः यह एक उत्तम काव्य भी है। यद्यपि इसको चंपू कहा गया है, पर यह सार्थक नहीं। समग्र रचना पद्य में ही है।

रचयिता का निवास-स्थान बलरामपुर रियासत (गोंडा, अवध) के अंतर्गत समोगरा स्थान था, जहाँ समग्रनाथ महाज्योतिर्लिंग बतलाया गया है। पिता का नाम रामदीन था जो उक्त रियासत के राजा नेवलसिंह के मंत्री थे। ये राजा

दिग्विजयसिंह (नेवलसिंह के पौत्र) के आश्रय में रहते थे। राजा दिग्विजयसिंह के पैतृक राज्य को शत्रुओं के चंगुल से छुड़ाने में इन्होंने उनकी अपूर्व सहायता की थी; ग्रंथारंभ में इसका इन्होंने बड़ा विस्तृत और कवित्वपूर्ण वर्णन किया है। ग्रंथ को पढ़ने से पता चलता है कि ये धुरंधर राजनीतिज्ञ, उद्भट विद्वान् प्रतिभा-संपन्न कवि और बड़े सहृदय व्यक्ति थे। संभवतः ये शैव थे और देवी की भी उपासना करते थे। इनके आश्रयदाता की वंशावली इस प्रकार है—

पावागढ़ गुजरात तें, आयो नृप जनवार।
सुभट वीर बरिबंड बहु, संग में सैन अपार॥
सूबा अवध को जेर करि, छीनि मुल्क सब लीन।
ता मंह यह बलिरामपुर, सुभग थलो निजु कीन॥

× × ×

तातें अब संछेप करि, कहत हौं सुनिये राज।
नौ पीढी के बादि भे, नेवलसिंह महाराज॥

× × ×

ता नृप के जुग तनै भै, सिंह बहादुर वीर।
अर्जुनसिंह भे सिंह सम, धीर वीर गंभीर॥
ता अर्जुन भूपाल के, भये उग्र द्वे वंस।
जैनारायन॰ प्रथम भे, हंस वंस अवतंस॥
दूजो सुत है आप प्रभु, विदित तेज गुणधाम।
पसु पंछी सुर असुर नर, गावत जाको नाम॥
नेवलसिंह पर पिता तुम्हारे। ता समीप पितु आय हमारे॥
दीन कुलीन जानि विद्वाना। "रामदीन" अस नाम बषाना॥

× × ×

रामदीन को निज जन जानी। सौंपे पुमह सकल रजधानी॥
धमपुत्र महाराज को, ताको सुत मैं तात।
नाम गदाधरदास शिव, प्रगट जगत विष्यात॥२७६॥

ग्रंथ की पूर्णता की तिथि

० १ ९ १
नभ इंदु ग्रह चंद है, संवत सुभ व्रतमान।
५ ७ ७ १
बान दीप रिषि ब्रह्मा, सका सुभग सुजान॥

नृपवंश का वर्णन करने के कारण प्रस्तुत ग्रंथ का महत्व ऐतिहासिक दृष्टि से भी बढ़ जाता है।

नीचे रचयिता की कुछ कविता दी जाती है—

दोहा

निरषि वाटिका अजर सुभ, चाबुक सब्द चकोर।
लग्यौ तरारे फिरि भरन, अस्व लेखनी मोर॥
कली तुल्य मुष बंद है, सिसिर क देषो तात।
यह वसंत सुख समै लषि, विगसत कली प्रभात॥
मंद गंध मकरंद जुत, चलत पौन सुभ भोर।
चहचहात चात्रिक विपुल, हरषित रहत चकोर॥
गुंजत मधुकर मद भरे, गान करत सारंग।
महकत लहकत द्रुम लता, विगसित सुमन सुरंग॥
हरित वसंती वसन को, पहिरो विर्छनि अंग।
पुष्प हसत लषि डार छवि, मुरछित होत अनंग॥

छंद

सुभ ज्वलित ललित ललाम। विजलेस्वरि जा नाम॥
त्रिकोंड मैं है कुंड। पूजत असुर सुर झुंड॥
नित देत है बरदान। वरदेव वाको वांन॥
अति सुंदरी मुसकात। है स्वच्छ निरमल गात॥
तन वसन सेत सोहाय। गल माल मणि छवि छाय॥

शेख अहमद

इनकी दो रचनाएँ 'वियोगसागर' और 'मोहनी' (पता—हिंदुस्तानी-एकेडमी, प्रयाग) मिली हैं जो एक ही विवरण में हैं। प्रथम में वियोग-शृंगार और दूसरी में शिख-नख का वर्णन है। काव्य की दृष्टि से दोनों सरस और उत्तम हैं तथा कवि की प्रतिभा को व्यक्त करती हैं। इनमें केवल दोहा छंद प्रयुक्त हुआ है। ये रचनाएँ प्रस्तुत विवरणिका की संख्या १२६ में आए जान कवि की रचनाओं के साथ एक ही हस्तलेख में हैं। रचनाकाल नहीं दिया है। लिपिकाल संवत् १७७८ है।

रचयिता के गुरु पीर साहि मुहुदी औलिया के पुत्र पीर जलाल मुहुदी थे। अन्य विवरण अज्ञात है। इनकी कविता का नमूना इस प्रकार है—

मधुर बैन छवि नैन भय, मधुर जु सबै सरीर।
अरु लालन के गुन मधुर, करई बिरहन पीर ॥
नैन नैन ते बैन कहि, रचना कहे न जाहि।
दुरि मुसकानि हुलास छवि, पल पल पेम लहांहि ॥
रोम रोम जिय जिय मिले, लह्यौ जु पेम पियार।
कहै सु बिछुरन की बिथा, करहि बियोग पुकारि पुकारि ॥ (वियोगसागर)

भौरन ते अति स्याम अलि, बिसहर तें बिप केस।
डसहिं न मंत्र मानहीं, गाररी होहु किन सेस ॥४॥
इ लांबे अरु घूंघरे, नप सिप लौं लहरांहि।
मनहु उडनिया नाग ज्यौं, देषत ही डंस जाहि ॥५॥ (मोहनी)

शेख निसार

इनकी सूफी शैली पर लिखी हुई 'यूसुफ जुलेखा' (पता—पृ० १७, टि० ६) सुंदर प्रेमकथानक काव्य है जिसमें यूसुफ और जुलेखा के प्रेम का अत्यंत सरस एवं उत्कृष्ट वर्णन किया गया है। रचनाकाल संवत् १८४७ और लिपिकाल संवत् १९५९ है। इसका कथानक रोम देश का है।

रचयिता शेखपुर (सुलतानपुर) के निवासी थे। इनके पुरखे रोम देश में रहते थे। पिता का नाम गुलाम मुहम्मद और पितामह का शेख मुहम्मद था। शेख हबीबुल्ला इनके मूल पुरुष थे जिन्होंने अकबर बादशाह के समय शेखपुर गाँव बसाया था। ये (रचयिता) मौलवी थे और संस्कृत, हिंदी, फारसी, तुरकी के बड़े विद्वान् थे। इन सभी भाषाओं में इन्होंने सात रचनाएँ भी कीं—

शेख हबीबुल्ला सोहाए (सोहाई)। शेखपुर जिन्ह आन बसाई ॥
पातसाह अकबर सुलताना। तंह के राजकर जगत बखाना ॥
औ वह देस सूबा होइ आई। तीस बरस की रही सोहाई ॥
तंह के शेख मुंहमद बारा। रूपवंत भू के अवतारा ॥
शेख गुलाम मुहंमद नाऊँ। सो मम पिता औ ताकर गाँऊँ

× × ×

वंस मोलवी रोमकी, जंह कर प्रेम गरंथ।
हुई सिद्ध पढ़ मसनवी, पावे प्रेम की पंथ ॥

सात ग्रंथ अनूप बनाई। हिंदी और पारसी सोहाई॥
संस्कृत तुरकी मन भाई। सभे प्रेम रस भरी सोहाई॥

प्रस्तुत रचना इन्होंने सत्तावन वर्ष की अवस्था में की। इससे पहले संभवतः शृंगार की अधिक रचनाएँ कीं जिनसे इनका चित्त हटकर सत्य से पूर्ण रचनाओं की ओर आकर्षित हो रहा था। प्रस्तुत रचना इसी बात की द्योतक है। यह सात दिन में लिखी गई थी—

झूठ जान सबते मन भागा। अब यह सांच कथा चित लागा॥
हिजरी सन् बारह से पाँचा। बरन्यो प्रेमकथा यह साँचा॥
अठारह से सँयतालीसा। संवत् विक्रमसेन नरेसा॥
सतरह सै बारह पुन साका। पौष मास पून्यौ बस राका॥
सत्तावन बरख बीते आव। तब उपज्यो यह कथा के चाव॥
सात दिवस मंह कीन समापत। दुरमत नाम लह्यो यह संवत॥

इन्होंने कुछ ऐतिहासिक विवरण भी दिया है। उस समय दिल्ली की गद्दी पर शाहआलम नाम मात्र का बादशाह था। नादिर खाँ रुहेला ने उसको अंधा कर दिया और उसकी स्त्री और पुत्रों को अत्यंत दुख देकर तैमूर के वंश को पुत्रहीन कर दिया था—

आलमशाह हिंद सुलताना। तंह के राज यह कथा बखाना॥
देहली राज करी अवनीता (सा)। अपर वहीं तेह कीन्ह अनीता॥
नादिरखाँ सो अधम रुहेला। सवा परध कीन्ह बड़ पेला॥
पातसाह कंह अंध जो कीन्हा। सुत और नार सभे दुख दीना॥
कीन्ह अपत तैमूर घराना। राज प्रताप अधम तेह माना॥

रचयिता ने ग्रंथ समाप्त करतें हुए विनीत भाव का परिचय दिया है जो विद्वानों और पहुँचे हुए भक्तों का विशेष गुण है—

पढ़े प्रेम के अछर कोई। दई असीस मुक्ति जिन होई॥
हम न रहब अछर रह जायह। जो कोउ पढ भेद नर पायह॥
अवगुन होइ तो लेहु छिपाई। हम न रहब जो देब बताई॥
रहें वो भगत पेम अव ज्ञाना। धरम नीत सुभ कथा बखाना॥

ग्रंथ की प्रस्तुत प्रति फारसी लिपि में लिखी हुई हैं।

समाधान

इनका "लक्ष्मणशतक"[११] नाम से वीररसपूर्ण उत्तम काव्य-ग्रंथ मिला है। लक्ष्मण और मेघनाद के युद्ध का बड़ा ओजस्वी वर्णन है। खेद है, ग्रंथ की प्रस्तुत प्रति खंडित है जिससे रचनाकाल और लिपिकाल का पता नहीं चलता।

रचयिता का भी कोई विवरण नहीं मिलता। ग्रंथ से ये प्रतिभावान् कवि ज्ञात होते हैं। इनकी यह रचना संवत् १६५६ (सन् १८६६ ई०) में बाबू रामकृष्ण वर्मा (संपादक, "भारतजीवन") द्वारा भारतजीवन प्रेस से प्रकाशित हो चुकी है, परंतु उसमें भी इनका कोई वृत्त नहीं दिया है।

किरवान छंद इन्हें विशेष प्रिय हैं। उदाहरण स्वरूप दो कवित्त दिए जाते हैं—

कहू हथ्थिन पै हथ्थि कहू रथ्थिन पै रथ्थि कहू बथ्थिन पै बथ्थि कवि कौन पमिलान।
कहू मुंडन पै मुंड कहूँ रुंडन पै रुंड कहूं तुंडन पै तुंड परे लोट्त धरान।
मच्यौ जोर सफर जंग टुट फुट्ट तन भंग छिन भिन्न अंग अंग भगे राछस जमान।
तहाँ तेज के निधान करि कोप "समाधान" वीर लछन सुजान झुक झारै किरवान॥
बढ्यौ जोर पारावार चहु ओर धारापार नहि जासु वारा पार ग्रह ग्राह उछलान।
करै असुर अतंक मिलै नभ मै निसंक अनदेषे हंक हंक अत्र घालत अमान।
फिरै भूत प्रेत धार मुष बोलै मार मार कवि सीस असरार सार भार भहरान।
तहाँ तेज के निधान करि कोप "समाधान" वीर लछन सुजान झुक झारै किरवान॥

हसनअली खाँ

इन्होंने "दस्तूर शिकार" का (ना० प्र० सभा, याज्ञिक संग्रह) फारसी से हिंदी-गद्य (हिंदवी) में अनुवाद किया, जिसमें शिकारी पक्षियों को पकड़ने, पालने और उनके रोग तथा चिकित्सादि का वर्णन है। प्रति खंडित है। रचनाकाल ज्ञात नहीं। लिपिकाल संवत् १८१६ है। पुष्पिका से विदित होता है कि यह मूल प्रति है, अतः रचनाकाल और लिपिकाल एक ही मानना उचित होगा—

"तमाम हुवा दस्तुर सीकार का बनाया हुवा हसन अली खाँ का संवत् १८१६ मीती क्वार वदी १५ सुकरवार फारसी से हीदवी कीय॥"

रचयिता का कोई वृत्त नहीं मिलता।

११—पता-श्री कन्हैयालाल केसरवानी, स्थान तथा डाक० भारतगंज जि, इलाहाबाद।

हेमरतन

राजस्थानी भाषा में रची हुई "गोरा-बादल-पद्मिनी चौपाई" (ना० प्र० सभा, याज्ञिक संग्रह) नामक इनकी एक रचना के विवरण लिए गए हैं, जिसमें गोरा बादल और पद्मिनी की कथा का अत्यंत सरस वर्णन है। रचनाकाल संवत् १६४५ (?) दिया है। लिपिकाल का पता नहीं चलता।

हस्तलेख का अंत का पत्र अत्यंत जीर्ण-शीर्ण दशा में हैं। उसमें रचयिता ने रचनाकाल के साथ साथ अपना परिचय भी दिया था पर वह अंश पढ़ा नहीं जाता। इसके आरंभ के अंश को पढ़ने से पता चलता है कि ये किसी पद्मराज वाचक के शिष्य थे —

पदमराज वाचक प्रभृति, प्रणमी निज गुरु पाय।
केलविसूं सांची कथा, कानन आवै दाय॥

ग्रंथ की भाषा के आधार पर ये राजस्थान के निवासी जान पड़ते है। "राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज" (प्रथम भाग पृष्ठ ५३, १७८) में भी इस ग्रंथ का उल्लेख है। उसमें रचयिता का वृत्त इस प्रकार दिया है—

"ये मेवाड़ के जैन साधु थे। गुरु का नाम पद्मराज था। इनका "पद्मिनी चौपई" नामक एक ग्रंथ उपलब्ध हुआ है, जो संवत् १७६० में रचा गया था। यह ग्रंथ इन्होंने मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह (द्वितीय) के राजत्वकाल में कुंभलनेर में लिखा था। इसमें मेवाड़ की इतिहास-प्रसिद्ध महाराणी पद्मिनी की कथा का वर्णन है। ग्रंथ जायसी कृत पद्मावत की छाया पर लिखा गया प्रतीत होता है। इसकी भाषा बोलचाल की राजस्थानी है। रचना सरस और मनोहारिणी है।"

इस विवरण से तो प्रस्तुत प्रति में दिया गया रचनाकाल अशुद्ध ठहरता है। इसमें नाम के साथ 'गोराबादल' और जुड़ा है। रचनाकाल का छंद इसमें खंडित है, पर जो अंश वर्तमान है उससे संवत् १६४५ का ग्रहण किया जा सकता है—

संवत सोले[१६] सोले से पहंता[४५].......... ।
पुहुनी पीठ पगु परग की सवलपुरी सोहै सादगी ॥७०१॥

उपर्युक्त राजस्थानी खोज-विवरण में रचनाकाल निम्नलिखित प्रकार से है—

वदि चैतह साठै बरस, तिथि चौदसि गुरुवार।
बंधे कवित्त सुवित्त परि, कुंभलमेर मंझारि ॥६१७॥

राणा अमरसिंह (द्वितीय) का राज्यकाल ओझा जी कृत 'राजपूताने का इतिहास' (पृ० ६०५) के अनुसार संवत् १७६० के आसपास है, अतः यही रचनाकाल मानना उचित है।

यहाँ रचयिता की थोड़ी सी कविता दी जाती है—

नवरस दोषिन वानवाँ, सयण सभो सिंणगार।
कवियण सुषि करज्यो कृपा, वदतां वचन विचार ॥४॥
वीरा रस सिंगार रस, हासा रस हित हेज।
साम धरम ते साभलो, जिम होवे तन तेज ॥५॥
साच शील इहाँ भाषीइं, जसु प्रसाद सुष होइ।
पदमणि नारि पालीयो, संभलि ज्यो संग कोइ ॥६॥

× × ×

सूर सरणाइ सिंधु साद। परवत माहि पड़े पड़साद ॥
हठीयो आलम शाह अभंग। क्रुद्ध जुरया गरि जाणे जंग ॥३०१॥
रतनसेन पिण रोसें चल्यो। दीठो आलम आवी परयो ॥
सुभट सेन सज कीधा संग। सवलवंत बोलें विकसइ वंग ॥

हेमराज मथेन

इनकी "वैन-बत्तीसी" (पता—श्रीमुन्नूलाल शुक्ल, ग्राम तथा डाकघर पच्छिमसरीरा, जि० इलाहाबाद) शृंगार रस की उत्तम रचना है जिसमें श्रीकृष्ण की वंशी के प्रति गोपियों का द्वेष भाव वर्णित है। रचना सवैयों में है। केवल अंत में दो दोहे हैं। इसकी प्रस्तुत प्रति खंडित है। बीच बीच के कितने ही छंद अथवा उनके चरण स्याही के उखड़ जाने से नष्ट हो गए हैं, अतः नहीं कहा जा सकता कि कुल कितने छंद थे। परंतु ग्रंथ के नाम से स्पष्ट है कि बत्तीस सवैए रहे होंगे। प्रस्तुत प्रति में दोहे-सवैयों की समस्त संख्या छत्तीस है। अतः स्पष्ट है कि चार छंद बढ़े हुए हैं। पुराने ग्रंथों में कवित्तों और सवैयों के साथ दोहे-सोरठों की संख्या प्रायः परिगणित नहीं होती थी।

रचनाकाल संवत् १९१९ वि० है। लिपिकाल का उल्लेख नहीं है। रचयिता का नाम मथेन हेमराज है। और कोई परिचय उपलब्ध नहीं। इनकी उपाधि या आस्पद लिपिकर्ता की भी उपाधि है—

लिषतं मथेन हरिचंद वासी रूपनगर

अतः अनुमान होता है कि ये और लिपिकर्ता एक ही वंश के और एक ही स्थान (रूपनगर) के थे। नीचे इनके दो सवैए दिए जाते हैं—

ओसर मोसर द्योसक रैंनि बक्योई करै विष वाद भरी है।
श्रोन सुनै सुर सीस धुनै मुख मौंन कहा थकि गौंन धरी है।
तांननि तांननि बेधत है तन मानन मैं मन लेत हरी है।
पीर पराई न जांनै अरी यह वैरन बांसुरी गैल परी है॥

× × ×

कानि परी धुनि आंनि जबै घर के अंगनांन सुहावत है।
अकुलाय हिये मधि हूक उठै सुर तांननि मैं चित जावत है।
घर काजहि भूलि औ फूलि मनौं रस भूलनि ऊपर धावत है।
अंगुरी दियैं कौलगि कान रहैं बजि बांसुरी लाज गमावत है॥

ज्ञात लेखकों में, जिनके नवीन ग्रंथ मिले हैं, अलीमुहीबखाँ "प्रीतम", आलम और शेख, केशवदास, गिरिधरदास, जटमल नाहर, देवीदास, भीम, रसरासि, लखनसेनि, विश्वनाथ सिंह, वृंद कवि और सोमनाथ मुख्य हैं।

अलीमुहीब खाँ "प्रीतम"

ये अपनी सुप्रसिद्ध रचना "खटमल-बाईसी" के कारण हिंदी साहित्य में अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। इस बार इनकी "रसधमार" (विद्याविभाग, काँकरोली) नाम से एक और नवीन रचना मिली है। रचनाकाल संवत् १७६७ तथा लिपिकाल संवत् १८०० दिए हैं। लिपिकाल को देखकर प्रस्तुत प्रति रचयिता के समय की ही लिखी जान पड़ती है। इसको जानी भवानी शंकर वृद्धनाम कृपाराम नाम के किसी व्यक्ति ने लिखा था। ग्रंथ का विषय उसके नाम से ही स्पष्ट है। कविता दोहा, चौपाई और कवित्त आदि छंदों में की गई है।

रचयिता आगरा-निवासी थे तथा वहीं के प्रसिद्ध कवि सूरतिमिश्र के शिष्य थे—

प्रीतम बसत सुआगरे, अलीमुहब खाँ नाम।
सूरत कवि कौ सिष्य है, जानो कवि रसधाम॥२॥
सरके मन इहि मास मों, उपजत सरस तरंग।
रस धमार बरनन करों, फागुन पाइ प्रसंग॥३॥

सत्रह सै सत्तानवै, संवत फागुन माघ।
सुकल पक्ष बुधवार छठ, रसधमार जगवास ॥४॥

'खटमल-बाईसी' का उल्लेख पिछली खोज रिपोर्ट (०३-७०) में हो चुका है। नीचे प्रस्तुत ग्रंथ से कुछ कविता दी जाती है—

कवित्त

आजु प्यारी होरी को समाज करि घेरे लाल प्रेम सरसत मोद नैननि भरतु है।
झोरी भरी न्यारी ह्वै निहारि फेंकी प्रीतम पै जब प्रेम बढ्यो मन लालहि हरतु है।
आँन गहि आचरु लड़ैती सौं कहन लागै हमहूँ को देहु गति अद्भुत धरतु है।
देख्यो न सुन्यों हे कहूँ ऐसो है गुलाल यह तन पै परत लाल मनकों करतु है॥

× × ×

इक उपमा तब प्रीतम परखी। कहत सुरीझि प्रेम रस बरखी॥
नील कमल मनु सहित सुनाल। प्रेम बेलि पै दीनौ डाल॥
प्यारी बाँह परी गर प्यारें। ताको प्रीतम कहत विचारें॥
प्रीति सुपास प्रेम लै ठगिया। मनु सिंगार रस पकरन लगिया॥

आलम और शेख

ये हिंदी साहित्य संसार में प्रेमी दंपति के रूप में प्रसिद्ध हैं। पिछली खोज में इनकी बहुत सी रचनाओं का पता लगा है। इस बार भी इनके कवित्तों के तीन संग्रह 'कवित्त चतुःशती' 'कविता-संग्रह' और 'अकार के कवित्त (विद्याविभाग, काँकरोली) और मिले हैं। रचनाकाल, लिपिकाल तथा विषय की दृष्टि से इनका उल्लेख नीचे किया जाता है—

१—कवित्त चतुःशती—इसमें चार सौ कवित्त हैं जिनमें अधिकतर शृंगार रस और राधाकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। रचनाकाल ज्ञात नहीं, लिपिकाल संवत् १७१२ दिया है। विवरणपत्र में दिए गए उद्धरणों में संग्रह का नाम 'कवित्त चतुःशती' नहीं मिलता। पुष्पिका में 'शेख आलम के कवित्त' लिखा है। विवरणकर्त्ता (पं० कंठमणि जी शास्त्री) ने विशेष ज्ञातव्य में लिखा है कि श्री भवानीशंकर जी याज्ञिक (स्व० पं० मायाशंकर जी याज्ञिक के भतीजे) ने इस संग्रह को देखा था और एक कागद पर जो इसी संग्रह में रखा है इस प्रकार लिखा है—

(१) चतुःशती कल्पित नाम प्रतीत होता है। इस ग्रंथ की कई प्रतियाँ हमारे देखने में आई हैं पर चतुःशती नाम किसी में भी नहीं दिया हुआ है।

(२) यह प्रति संवत् १७१२ वि० की है। हमारे अनुमान से समस्त प्राप्त प्रतियों में यह सबसे प्राचीनतम है।

(३) इस प्रति में बीसवाँ पत्र नहीं है। इस कारण जो भाग लुप्त हो गया है उसे एक अलग पत्र पर लिख दिया है। अतः इससे पता चलता है कि इस संग्रह में चतुःशती नाम कहीं न कहीं अवश्य दिया है।

२—**कविता संग्रह**—इसका भी विषय शृंगार एवं राधाकृष्ण के केलिकलापों का वर्णन है। रचनाकाल और लिपिकाल अज्ञात हैं। कुछ 'कवित्त-संग्रह' खोज रिपोर्ट (०३–६; २३–६; ४१–१२) में उल्लिखित हैं।

३—**अकार के कवित्त**—इस संग्रह में कवित्तों का विभाग अक्षरक्रम से किया गया है, पर विवरणपत्र में दिए गए उद्धरणों से पता चलता है कि इन्हें अक्षर-क्रम से लिखा नहीं। आरंभ में 'न' पर लिखा गया दोहा है और अंत में 'अ' पर की चनाएँ हैं। इनका विषय भक्ति और शृंगार है। रचनाकाल अज्ञात है, लिपिकाल अनुमान से संवत् १८२१ से १८५५ तक दिया है।

इनके अतिरिक्त 'सुदामाचरित्र' की एक प्रति और 'माधवानल-कामकंदला'[१२] की छः प्रतियों के भी विवरण लिए गए हैं। इन दोनों ग्रंथों का उल्लेख खोज रिपोर्ट (३५–४; ०४–६; २३–८; २६–८; ४१–४७५) में हो चुका है।

गिरधरदास

ये खोज रिपोर्ट (१२–६०; २६–१४; ४१–४६; ४८८) में उल्लिखित गिरिधरदास हैं जो भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के पिता थे। इनके संबंध में प्रसिद्धि है कि इन्होंने 'नहुष नाटक' (विद्याविभाग, काँकरोली) की रचना की थी जिसका आज से पहले 'खोज' में कोई पता नहीं चल सका था। इसकी प्रस्तुत प्रति पूर्ण है। रचना-

---

१२—पता—(१) श्री बलदेव चौबे, ग्राम तथा डाकघर दुधौड़ा, जि० जौनपुर। (२) म्युनिसिपल संग्रहालय, इलाहाबाद। (३) श्री रामचंद्र टंडन, १० साउथरोड, इलाहाबाद। (४) हिं० सा० स०, प्रयाग। (५) श्री रामरत्न त्रिपाठी, अध्यापक फार्म्स हाई स्कूल, फैजाबाद (६) ना० प्र० सभा काशी।

काल अज्ञात है। लिपिकाल संवत् १९२३ दिया है। इसमें सूर्यवंशी राजा नहुष की कथा का वर्णन है और प्राचीन संस्कृत नाटकों की शैली पर लिखा गया है। पहले मंगल और फिर नांदीपाठ है। गद्य और पद्य दोनों प्रयोग का हुआ है।

ग्रंथ द्वारा रचयिता का कोई परिचय नहीं मिलता। पिछली रिपोर्टों में इनका उपनाम 'गोपालचंद' लिखा है। जन्मकाल संवत् १८८१ माना गया है। सत्ताईस-अट्ठाईस वर्ष की अल्पावस्था में ही ये स्वर्गस्थ हो गए थे। फिर भी इतनी अवस्था तक लगभग चालीस ग्रंथों की रचनाएँ कर चुके थे।

यहाँ नाटक का कुछ अंश दिया जाता है—

मातलि की ओर देखि कै ॥ नहुस ॥ सानंद ॥

दोहा

देखनीय कमनीय अति, उपवन यह रमनीय।
अहै कौन को सो कहहु, लग्यो मोहि अति प्रिय ॥७३॥

मातलि ॥

दोहा

यह सब रितु सोभा भरयो, सुखमय पूरन काम।
महाराज को विपिन है, नंदन याको नाम ॥७४॥

नहुस ॥ सानंद ॥ सीघ्र चलहु सीघ्र चलहु ॥

तब मातलि रथ चढाय नंदनवन मैं गयो ॥ तहां की सोभा देखि कै
नहुष ॥ सानंद ॥..............

जटमल नाहर

इनके "प्रेमविलास—प्रेमलता-कथा" (सम्मेलन, प्रयाग) ग्रंथ के विवरण लिए गए हैं। यह शुद्ध भारतीय प्रेम-कथानक शैली पर लिखा गया मनोरंजक और सरस काव्य है। इसमें दी हुई कथा इस प्रकार है—

यौतनपुर में राजा प्रेमविजय राज करता था। उसकी रानी का नाम प्रेमवती और पुत्री का प्रेमलता था। उसके मंत्री मदनविलास के एक पुत्र था जिसका नाम प्रेमविलास रखा गया। प्रेमलता और प्रेमविलास दोनों एक गुरु के पास पढ़ने लगे। दोनों रूपवान् थे, अतः गुरु ने इस शंका से कि कहीं उनमें अनुचित प्रेम न हो जाय, दोनों को एक दूसरे के झूठमूठ दोष बताए। राजकुमारी से कहा कि प्रेमविलास कोढ़ी है और प्रेमविलास को बताया कि राजकुमारी

अंधी है। फलस्वरूप साथ साथ पढ़ते हुए भी दोनों एक दूसरे को घृणित दोष से युक्त समझकर देखना भी पाप समझते थे। एक दिन जब गुरु किसी काम से बाहर गए हुए थे, राजकुमारी के पढ़ने में कुछ अशुद्धि हो गई जिसपर प्रेमविलास ने उसको अंधी कह दिया। राजकुमारी को बड़ा क्रोध आया और उसने भी प्रेमविलास को कोढ़ी कहकर संबोधित किया। प्रेमविलास ने कहा- "गुरु ने तुम्हें अंधी बतलाया था। अतः यह सोचकर कि उसी दोष से तुमने अशुद्ध पढ़ा है, मैंने तुमको अंधी कहा; परंतु तुमने मुझे कोढ़ी क्यों कहा ?" राजकुमारी ने भी सत्य बात बतला दी। इसपर दोनों एक दूसरे को ध्यानपूर्वक देखने लगे। दोनों रूपवान् तो थे ही, अतः शीघ्र ही एक दूसरे पर अनुरक्त हो गए। इतने में गुरु जी आ गए और देखा कि उनकी चतुरता का परदा खुल गया। उन्होंने उनको डाँटा और समझाया, पर फल कुछ न हुआ। दोनों ने गुरु से अपने अपने हृदय की बातें कह दीं। दुष्परिणाम की आशंका से गुरु ने शीघ्र ही दोनों को घर जाने का आदेश दिया। परंतु दोनों प्रेमियों को शांति कहाँ ? एक दिन उन्होंने निश्चय किया कि महाकाल के सम्मुख विवाह कर भाग जाँय। आगे की आमावस्या का दिन इसके लिये निश्चित हो गया। इस बीच नगर में एक जोगिन आ गई जो वीणा बजाना और गाना बहुत अच्छा जानती थी। लोग उसकी कला पर मुग्ध हो गए। राजा भी उससे मिलकर प्रसन्न हुआ। उसने उससे राजकुमारी को भी वीणा बजाना और गाना सिखाने की प्रार्थना की। जोगिन ने स्वीकृति दे दी। राजकुमारी नित्य जोगिन की कुटिया पर संगीत-शिक्षा के लिये जाने लगी। प्रेमविलास भी अवसर पाकर कुटिया पर राजकुमारी से मिल लिया करता। दोनों एक दूसरे को देखकर व्याकुल हो उठते। एक दिन ऐसे ही अवसर पर राजकुमारी की आँखों से आँसू गिरते देख जोगिन को बड़ा आश्चर्य हुआ, पर मूल कारण ज्ञात हो जाने पर उसने राजकुमारी को आँखों का अंजन देकर उड़ने तथा रूप पलटने की विद्या सिखाई। थोड़े ही दिनों पश्चात् राजकुमारी की शिक्षा पूर्ण होने पर जोगिन चली गई। इधर पूर्व निश्चयानुसार दोनों प्रेमी चंपकमाला सखी के साथ महाकाल के सामने वैवाहिक कृत्य संपन्न कर और देवता का आशीर्वाद लेकर आकाश-मार्ग से उड़ भागे। तीनों रतनपुर नगर पहुँचे, जहाँ का राजा उसी दिन मर चुका था। राजा संतानहीन था, अतः यह निश्चय हुआ कि हाथी जिसको राजतिलक कर देगा वही राजा बनाया जायगा। संयोगवश हाथी ने प्रेमविलास को ही राजतिलक कर दिया। अतः वह और प्रेमलता उस राज्य के

राजारानी हो गए। कुछ दिनोपरांत प्रेमविलास को चंद्रपुरी पाटण के राजा चंद्रचूड़ से घोर युद्ध करना पड़ा, जिसमें चंद्रचूड़ पराजित हुआ। इस प्रकार अनेक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर प्रेमलता और प्रेमविलास अपने दिन सुखपूर्वक बिताने लगे। एक दिन उन्होंने अपने मातापिता के पास एक दूत भेजा। उनके मातापिता उनके लिये अत्यंत व्याकुल रहते थे, पर महाकाल की उपासना से जब उन्हें पता चला कि वे रतनपुरी में राज करते हैं तो उनको पाने की उत्कट अभिलाषा रखते हुए भी संतोष कर चुप रह गए। इधर जब दूत उनके पास पहुँचा तो वे बहुत प्रसन्न हुए और उसको अनेक पारितोषिक तथा उपायन देकर प्रेमलता और प्रेमविलास को यौतनपुर आने का संदेश भेजा। दोनों प्रेमी अपने घर आए और मातापिता से मिलकर आनंदित हुए। दोनों का पुनः विधिवत् विवाह किया गया। इस प्रकार कुछ दिन मातापिता के पास रहकर वे दोनों फिर अपनी राजधानी को लौट गए।

ग्रंथ का रचनाकाल संवत् १६६३ है। इसकी प्रस्तुत प्रतिलिपि राजपूताने के प्रसिद्ध लेखक श्री अगरचंद नाहटा ने संवत् १९९९ वि० में करके, हिंदी-साहित्य सम्मेलन को दे दी थी। यह संवत् १८०९ की लिखी प्रति की नकल है। ग्रंथ के अनुसार रचयिता लाहौर के निवासी थे और सिंधु नदी से लगे हुए प्रदेश के अंतर्गत जलालपुर के राजा सहिवाज के आश्रय में रहते थे। ये नाहर वंश के थे। राजा सहिवाज को सइदा का सहिवाज खाँ भी कहा गया है—

संवत् सोलह सै त्रैयानुं। भाद्रमास सुकल पख जानुं॥
पंचमि चौथ तिथै संलगना। दिन रविवार परम रस मगना॥७८॥
सिंध नदी कै कंठ पइ, मेवासी चो फेर।
राजा बली पराक्रमी, कोऊ न सकै घेर॥७९॥
पूरा कोट कटक पुनि पूरा। परसिरदार गाऊ का सूरा॥
मसलत मंत्र बहुत सुजाने। मिले खान सुलतान पिछाने॥
सइदा कौ सहिवाजखाँ, बइरी सिर कलवत्र।
जानत नाही जेहली, सब्र अवान कौ छत्र॥८१॥
रइयत बहुत रहत सुराजी। मुसलमान सुखास निमाजी॥
चोर जार देख्या न सुहावै। बहुत दिलासा लोक बसावै॥८२॥
बसै अडोल जलालपुर, राजा थिरु सहिबाज।
रइयत सकल बसै सुखी, जब लगि थिरहू राज॥८३॥

तहाँ बसै जटमल लाहोरी। करनै कथा सुमति तसु दोरी॥
नाहरवंस न कुछ सो जानै। जो सरसती कहै सो आनै॥८४॥

अन्य परिचय नहीं दिया है। नाहटा जी ने प्रति और कवि के विषय में इस प्रकार लिखा है—

(१) प्रतिपरिचय—हमारे संग्रह की ८ पत्रों वाली प्रति से प्रस्तुत प्रति नकल करवाई गई हैं। प्रशस्ति (पुष्पिका) से स्पष्ट है कि प्रति संवत् १८०८ की वैशाख बदी ७ को मरोठ में स्वरूपचंद ने लिखी हैं। प्रस्तुत ग्रंथ की एक और प्रति हमारे संग्रह में है।

(२) कविपरिचय—आप (जटमल नाहर) नाहरगोत्रीय ओशवाल जैन श्रावक थे। इनकी गोराबादल की बात हिंदी-संसार में काफी प्रसिद्धि-प्राप्त है आप अच्छे कवि थे। अभी तक हमारी खोज से निम्नोक्त ग्रंथ प्राप्त हुए हैं एवं हमारे संग्रह में हैं। ये अपने को लाहोरी लिखते हैं, अतः येलाहोर-निवासी थे। आपके पिता का नाम धर्मसी था।

पुस्तकों के नाम—(१) गोराबादल की बात-संवत् १६८६ भादवा ११ सुंवली; (२) प्रेमविलास प्रेमलता चौपाई—संवत् १६९३ भा० सु० ४।५ रवि; (३) जटमल बावनी; (४) लाहोर गजल; (५) सुंदरी (स्त्री) गजल; (६) झिंगोर गजल; (७) फुटकर सवैयादि।

रचयिता की गोराबादल की कथा का उल्लेख खोज रिपोर्ट (१—४८), (३८-७१) में हो चुका है। उनमें इनका जो परिचय मिला, वह ठीक नहीं।

देवीदास

इनकी "सोमवंश की वंशावली" (याज्ञिक संग्रह, ना० प्र० सभा काशी) ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रचना है। संवत् ११०३ वि० (फागुन तीज रविवार) की एक ऐतिहासिक घटना का इसमें उल्लेख हैं। उस समय इस वंश के राजा **विजयपाल थे** जो बड़े प्रसिद्ध हुए और जिन्होंने विजयगढ़ दुर्ग का निर्माण कराया। गुजरात, महाराष्ट्र, तैलंग, भोट और नैपाल के राजाओं को इन्होंने जीत लिया था। कंदहार के बूबक्कसाहि से इनकी दस मास तक घोर लड़ाई हुई जिसमें ग्यारह हजार यवन (तिमिर) मारे गए थे। परंतु इस लड़ाई का परिणाम भारत के लिये अच्छा नहीं हुआ। दिन-प्रति-दिन हिंदुओं का ह्रास होता गया और यवनों की शक्ति बढ़ती गई। कवि के शब्दों में इसका उल्लेख इस प्रकार है—

तब तें भई देस तुरक्कमई। भइ घोर मसीति तु बाँग दई ॥
कलमा पढि पाँच नवाज करी। भुवपाल बिजै बिनु गाइ परी ॥
हिंदुवान घट्यौ तुरकान बढ्यौ। सबको सब भांति निपोतु कढ्यौ ॥

इस घटना के अतिरिक्त बहुत सी पौराणिक कथाएँ भी दी हैं। जैसे कलियुग का प्रवेश और व्यासदेव जी का अपने शिष्य वैशंपायन को सब पुराण देना तथा श्रीकृष्ण-वंश का वर्णन करते रहने का उपदेश देकर गुप्त हो जाना आदि।

सोमवंश के राजाओं के नामों की तालिका विषय के खाने में दी हुई है। ग्रंथ में रचनाकाल का उल्लेख नहीं। लिपिकाल संवत् १८३१ वि० है।

रचयिता ने अपना और कोई वृत्त न देकर केवल आश्रयदाता रतनपाल (करौली नरेश) का उल्लेख किया है। वे सोमवंशी थे। अतः इस आधार पर ये पिछली खोज-रिपोर्ट (६-२२०; १७-४७; २३-६६; २६-६८; दि० ३१-२५; ०२-१; २-८२; ६-२७) में उल्लिखित देवीदास ही हैं। उक्त रिपोर्टों में आए प्रेमरत्नाकर और "राजनीतिरा कवित्त" इन्हीं की रचनाएँ हैं।

भीम

इन्होंने संवत् १५५० में "डँगवेपुराण" (पता—दे० पृ० ४ टि० ३) की रचना की। यह महाभारतांतर्गत डंगवे-कथा का अनुवाद है। इसकी प्रस्तुत प्रति में लिपिकाल संवत् १७७७ वि० है।

रचयिता ने अपना विस्तृत विवरण दिया है, पर ग्रंथ कैथी लिपि में अत्यंत अशुद्ध लिखा रहने के कारण ठीक ठीक पढ़ा नहीं जाता। फिर भी, यह अंश जैसा कुछ पढ़ा जा सका, उद्धृत किया जाता है—

संवत पंद्रह सै पचास जब भएऊ। द्रुमुप नम संमत चलि गएऊ ॥
सावन सुकुल संतमी अइ। डंगवे कथ भीम सुनई ॥
कवन नग्रं कैसनो ठाऊ। कैन देस कैन से गाऊ ॥
जहए भए कवीसर विचरा। तह वसंत है कौन भूअर ॥
पुहुमी धर्म प्रन एक देसा। वसै लोग ऋीमल रेह ॥

× × ×

नसै कवी दोसन को देही। जो कवी अपन नाउ न लेइ ॥
कवीत तहव भै उपपती। कवन नग्रं कैन सो जती ॥

नग्र अमर सब वै रे कहा। वसुक इंद्रदेव तीस लहा॥
जती के कएथ करन कुवेरु। महीमत ही कलीनेम अचरु॥
तसुत नौ रतन वर बीरू। अती प्रचंड नीक सुसरीरु॥
मत मतंग वीरू मह दीनह। तब तेनह सब गवरह लीन्ह॥
तेही कुल भीम बरियरा। वैरी बुधी वहु वैसरा॥
कहै चहै कछु कथ सुभउ। भरथ कथ डंगवैं गउ॥
चह उरवं फीरी आवे सोहइ। सोइ प्रीती कंठमन लइ॥

जान पड़ता है कि रचयिता अमर नगर के निवासी और वसुक इंद्रदेव कायस्थ के पुत्र नौरतन के कुल में उत्पन्न हुए थे। संभवतः ये खोज रिपोर्ट (२०-१६)में उल्लिखित महाभारत 'द्रोणपर्व' के रचयिता भीम हैं, क्योंकि दोनों ग्रंथ महाभारत से ही संबंध रखते हैं और भाषा भी दोनों की एक ही है। अतः इनका एक ही रचयिता द्वारा रचा जाना संभव है।

रसरासि (रामनारायण)

"रसिकपच्चीसी" (ना० प्र० सभा, काशी) के ये रचयिता हैं। ग्रंथ में गोपी-उद्धव संवाद वर्णित है। साहित्यिक दृष्टि से रचना सरस और सुंदर है। रचनाकाल और लिपिकाल अज्ञात हैं।

रचयिता जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह के आश्रय में रहते थे जिनकी आज्ञा से इन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की। खोज रिपोर्ट (१—६३) में इनकी 'कवित्त रत्नमालिका' का उल्लेख है जिसके अनुसार इनका नाम रामनारायण था और ये जयपुर-निवासी ब्राह्मण, रामानुज-संप्रदाय के अनुयायी थे तथा जयपुर- नरेश महाराज प्रतापसिंह के दीवान जीवरखसिंह के आश्रित थे।

इनकी प्रस्तुत रचना का उल्लेख राजस्थान की "हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज" (प्रथम भाग, पृष्ठ १०६) में भी है।

प्रस्तुत ग्रंथ से इनका एक कवित्त दिया जाता है—

उधौ कहि को है जदुनाथ द्वारिका कौ नाथ कौन वसुदेव कौन पूत सुखदाई है।
कौन है निरंजन अखिल अविनासी कौन ब्रह्महू कहावै कौन जाकी जोति छाई है।
इनसौं हमारी कहौ कासों पहचानि जानि याते रसरासि बातें मन में न भाई है।
प्रीतम हमारौ मोर मुकुट लकुट वारौ नंद कौ दुलारौ स्याम सुंदर कन्हाई है॥१४॥

लखनसेनी

इस त्रिवर्षी में इनके "हरिचरित्र विराट पर्व"[13] के विवरण लिए गए हैं जो महाभारत के विराट पर्व का हिंदी पद्यानुवाद है। रचनाकाल संवत् १४८१ (?) और लिपिकाल संवत् १८८७ है।

रचयिता का उल्लेख "महाभारत भाषा" के साथ पिछली खोज रिपोर्ट (६—१६८) में हो चुका है। परंतु न तो उसमें इनका वृत्त ही है और न समय ही। अपना वृत्त इन्होंने विस्तृत रूप से दिया है। कुछ कवियों, यथा जयदेव, घघ, विद्यापति, बैजलदास आदि का उल्लेख भी है तथा तत्कालीन देशकाल की परिस्थिति के संबंध में भी ऐतिहासिक बातें दी हैं। परंतु खेद के साथ कहना पड़ता है कि यह विवरण ठीक ठीक स्पष्ट नहीं होता। इसका कारण ग्रंथ की प्राचीनता ही है। लिपिकारों की असावधानी और उनकी अयोग्यता के कारण इतने दीर्घ समय से ग्रंथ की प्रतिलिपि होते रहने से अशुद्धियाँ हो जाना असंभव नहीं। परंतु जब तक कोई शुद्ध और प्रामाणिक प्रति नहीं मिलती तब तक इसी से संतोष करना पड़ता है। आशा है, सावधानी से अध्ययन करने पर कुछ काम की बातें ज्ञात हो सकेंगी। विवरण का सार इस प्रकार है—

जौनपुर का राजा (बादशाह) बीराहीमसाहि (इब्राहीम शाह) बड़ा शक्तिशाली था। उस समय गुणियों का अत्यंत ह्रास हो गया था। यह देख कवि बैजल दासराइ (?) के पास गया और प्रस्तुत ग्रंथ लिखना आरंभ किया। इसके पश्चात् 'सखाराजा' तथा डीलेस्वर (?) के अधिपति अमुकाराम और उसके पुत्र लखनकुमार का उल्लेख हैं। ये जब कवि-मंडली में जाने लगे तो बड़े बड़े कवि इनकी प्रतिभा के सामने लज्जित होने लगे। जयदेव, घघ और विद्यापति उठ चुके थे। उस समय देश का (संभवतः जहाँ कवि का निवास था) घोर पतन हो गया था। अच्छे अच्छे राजाओं और उनके आश्रय में रहनेवाले गुणी जनों के न रहने से अधम श्रेणी के मनुष्यों का बाहुल्य होता जा रहा था। अतः जन-परिजन सहित कवि ने वह देश छोड़ दिया, पर जहाँ गया वहाँ भी वही दुर्दशा थी। भोंदू महंत कान फूँकते थे और सुंदर कामों को छोड़ बुरे काम करते थे। कपटी धर्माधिकारी

१३—पता श्री शिवबरनसिंह रघुनाथसिंह, ग्राम समोगरा, डा० नैनी, जिला इलाहाबाद।

बने हुए थे। खोटे वैद्य व्याधि की पहचान तक नहीं कर सकते थे। हाथी बँधे बँधे भूख से मरते थे और गदहों की यत्नपूर्वक सेवा टहल होती थी। चंदन और आम के वृक्ष काटकर लोग करील और बबूल लगाते थे। कोकिल हंस और मंजार (बिल्ली) मारकर काक का पालन करते थे। सारिका का पंख उखड़वाते थे और मुर्गियों का पोषण करते थे। कवि उस देश में पहुँचा जहाँ लोग उधार लेकर खाते थे।

चौसा नगर प्रसिद्ध था, जहाँ गोरखनाथ का रामराज था। वहाँ के नृपति बड़नंदन दूसरे राम थे जिसने गंगा के किनारे शत्रुओं को बुरी तरह परास्त किया था। उसी के अनुरूप उसका पुत्र पूरणमल भी था।

उपर्युक्त विवरण से पता चलता है कि उस समय हिंदू समाज और हिंदू संस्कृति का बहुत पतन हो गया था तथा देश में चारों ओर मुसलमानी आचार-विचार फैल रहा था। कवि ने 'घघ' का उल्लेख किया है जिससे यह जिज्ञासा होती है कि ये प्रसिद्ध 'घाघ' तो नहीं हैं? बैजलदास राइ और अनुकाराम (डीलेस्वर) का निश्चित विवरण अप्राप्त है। ग्रंथ ऐतिहासिक महत्त्व रखता है।

चौपाई

बादसाहि जे वीराहिमसाही। राज करहि महि मंडल माही॥
आपुन महाबली पुहमी धावै। जउनपुर मह छत्र चलावै॥
संवत चौदह सइ एकासी। लषनसेनी कवि कथा प्रगसी॥
गुनी जन सब अषीर भैउ। बैजलदास राइ पह गएउ॥

दोहा

बैजलदास मन हरषीत, ताहीमरावै जीव।
लषनसेनि कवि भाषा, कथा वैरठ जे कीव॥

× × ×

कैसे मेखउ अछर कै पाती। सरबार राजा कइ जाती॥
हंसन पति होइ छन छन वाका। महवेलाभ भए नीहलंका॥
अछर सुनत सुन्य सुधी काढा। अम्रती बोल बचन सो वाढा॥

दोहा

नर्गहि चहि नगसरी पंडित रहै सीर धुनी।
छलै बैल सब होषै लषनसेनी कवि गुनी॥

डीलेस्वर अनुकाराम । तेजरासि कुल राजा धंम ।
तासु तनै जे लषन कुमार । दुरजन द्रवन सींव करीवार ॥

दोहा

कंठे वसै सुरसती, हीरदै वसहि गनेस ।
लषनसेनी तहने वसे, धन्य धन्य सो देस ॥ ५ ॥

लषनसेनी कविजन में आइ । वड़ वड़ कविता गए लजाइ ॥
गए धर्म औ सतजुग राजा । देवीपुर गए वली के काजा ॥
गए कीती धनसेनि नरेसा । भोजपुर गए देव गनेसा ॥
जैदेव चले सर्ग की वाटा । औ गए वध्र सुरपति भाटा ॥
नगर नरिंद्र जो गए उनारी वीद्यापति कइ गइ लचारी ॥
अवित कुंड नग्र जे थहाइ । त्रीधनी कुंड नग्र अत्र गहइ ॥
तेन्ह पावीन्ह कह पोज उठाऊ । जे नहीं लीन जन्म भरि नाऊ ॥

दोहा

तेहि पापी तह रापीए, जेई हरिनाम न लीन ।
अछर तीनीसा जीव करि, भ्रम होइ दीन दीन्ह ॥

जन परिजन छड़ि सो देसा । जहव उपमवन वसै नरेसा ॥
भोदु महंथ जे लागे काना । काज छांड़ि जे अकाजै जाना ॥
कपटी लोग सब भे धरमाधी । पोट वइद नहि चीन्है वीयाधी ॥
कुंजल बाँधे भुषन मरई । आदर सो षर सेइ चराइ ॥
चंदन काटि करील जे लावा । आव काटि कइ वबुर वोवावा ॥
कोकिल हंस मंजारही मारी । वहुत जतन कागहि प्रतिपाली ॥

दोहा

सारीव पंष उपरिव पालै तमचुर जग संसार ।
लषनसेनी ताहने वसै काढी जो पाही उधारि ॥

चौपाइ

चौसा नगर जगत परमीधा । रामराज तह गोरष सीधा ॥
जैजै कहि जवा वीग्रह चढ़ाइ । कांपै सेज (सेस ?) धरनी लरघरइ ॥
प्रीथीमी वडनंदन नरनाहा । दुसर रघुपति उपजे ताहा ॥

चारी षानी चौरासी भीरा। मारेउ सबै गंगा के तीरा॥
जेकर पुत्र जे पुरनमाला। अरि के हीरदै महाबलसाला॥

दोहा

साठी गाइ बांधी चरु पुरनमल के ढाट।
कौतुक कीन सुरस कवी वीवीध कथा वैंराट॥

प्रस्तुत विवरणिका में संख्या ३६८ के रचयिता भी यही लखनसेनि कवि जान पड़ते हैं।

विश्वनाथसिंह

इनका "भाषा भक्तचंद्रिका" (दुदन सदन, अमेठी) नामक एक उत्तम काव्य-ग्रंथ मिला है जिसमें गोपी-उद्धव संवाद वर्णित है। इसकी प्रस्तुत प्रति खंडित है। रचनाकाल लिपिकाल क्रमशः १८९४ और १९०५ वि० हैं।

रचयिता का कोई विवरण नहीं मिलता। संभव है ये रीवाँ के महाराज विश्वनाथसिंह (राज्यकाल संवत् १८९०–१९११) हों। इनके लिये देखिए, खोज-रिपोर्ट (००—४३; १—६ ; ३—२२ ; ६—३२८)।

यहाँ इनकी एक कविता दीजाती है—

लागत मधु मासै कांम जु ग्रासै रहत उदासै सब गोपी।
तिय पतिहि निहारै करत सिंगारै माग सवारै दुति वोपी॥
फूली वन वेली सुभग चमेली लषि अलबेली सुष सरसैं।
हरि हैं न सहायक इत रतिनायक बहु दुषदायक सर बरसैं॥६७॥

वृंद कवि

इनका "यमकालंकार सतसैया" या "वृंदविनोद" (पता पृ० १७ टि० ६ में) नाम से एक उत्तम ग्रंथ मिला है जिसमें यमकालंकार के अनेक भेद तथा उनके भिन्न-भिन्न प्रयोगों का वर्णन है। इसका रचनाकाल अस्पष्ट है—

गुन[3] रस[6] सुष (ऋषि) अमृत वरस, वरस सुकुल नभ मास।
दूज सुकवि कवि वृंद ए, दोहा किए प्रकास॥

यह संवत् १७६३ जान पड़ता है। लिपिकाल अज्ञात है। खोज रिपोर्ट (४१–२५६ ग) में इस ग्रंथ का उल्लेख हो गया है।

पिछली खोज रिपोर्टों में रचयिता के कई ग्रंथ आ चुके हैं (द्रष्टव्य खोज रिपोर्ट ४१–२५६; ६–३३०; २३–४४६ और ००–१२१; २–६; १७–३३०)। उक्त रिपोर्टों में इनका विवरण इस प्रकार है—

"ये सेवक जाति के ब्राह्मण, मेड़ता जोधपुर-निवासी, संवत् १७४३–१७६१ के लगभग वर्तमान और कृष्णगढ-नरेश महाराज सावंतसिंह (नागरीदास) के पिता महाराज राजसिंह के गुरु थे। संवत् १७६१ में ये बादशाह औरंगजेब की फौज के साथ ढाके तक गए थे। इनके वंशज जयलाल कवि कृष्णगढ़ में वर्तमान हैं।"

सोमनाथ या शशिनाथ

ये हिंदी के सुप्रसिद्ध कवियों में से हैं। इनकी कई रचनाएँ पहले मिल चुकी हैं; (द्रष्टव्य खोज रिपोर्ट ४–४७; ०–२६८; १७–१७६; २३–३६६; पं० २२–१०३)। उक्त रिपोर्टों के अनुसार ये माथुर चौबे, नीलकंठ के पुत्र, संवत् १८०६ के लगभग वर्तमान और भरतपुर के महाराजकुमार प्रतापसिंह के आश्रित थे। इस बार इनकी दो नवीन रचनाएँ "शृंगारविलास" और "प्रेमपचीसी" नाम से और मिली हैं। रचनाकाल, लिपिकाल और विषय की दृष्टि से इनका विवरण इस प्रकार है—

शृंगार विलास—रचनाकाल-लिपिकाल अज्ञात। विषय नायिकाभेद। इसमें भावों को स्पष्ट करने के लिये कहीं-कहीं गद्य का भी प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ यहाँ एक कवित्त दिया जाता है जिसका भाव गद्य में स्पष्ट किया गया है—

> प्रेमरंगराते परजंक पै हसत दोऊ अंक भरि लेत करि बिरह निवारनें।
> कबहूँ विनोद सों विलोकत उमंग संगहीं सरस कियें भूषन सँवारनें।
> "सोमनाथ" रीझि पियें अधर पियूष एसी शोभ कित पाई रति मदन गँवारनें।
> छाई अजों नैंननि निकाई आजु दंपति की हेरति हिराई री किए में प्रान वारनें।

इहाँ दंपति आलंबन विभाव॥ भूषन सुंदरता उद्दीपन विभाव॥ विलोकिवो अरु अधरपान करिबौ अनुभाव॥ विनोद सब्द करि हर्ष संचारी भाव॥ इन सबसे रति स्थायी व्यंग तातें सिंगार रस पूर्ण॥

प्रस्तुत प्रति स्वयं रचयिता के हाथ की लिखी है। इसमें जहाँ-तहाँ काट-छाँट की गई है और प्रत्येक अध्याय (उल्लास) की पुष्पिका में त्रुटियों का भी उल्लेख है।

(२) प्रेमपच्चीसी—इसके भी रचनाकाल और लिपिकाल अज्ञात हैं। विषय श्रीकृष्ण-भक्ति है। यह पंजाबी भाषा में रची गई है जिसमें फारसी शब्दों का भी मिश्रण है और खड़ी बोली का भी प्रयोग है। इसमें कवि के सोमनाथ और शशिनाथ दोनों नाम पाए जाते हैं।

प्रस्तुत त्रिवर्षी में इस कवि के संबंध की खोज विशेष महत्त्व रखती है। 'शृंगारविलास' की प्रति स्वयं इनके हाथ की लिखी प्रतीत होती है। इस विवरणिका में संख्या २२० पर उल्लिखित प्राणनाथ सोती कृत "जेहली जवाहर" की नकल भी इन्होंने ही की है। उसकी लिपि का प्रस्तुत ग्रंथ की लिपि के साथ मिलान करने से स्पष्ट पता चलता है कि दोनों एक ही व्यक्ति की लिखी हुई हैं। दोनों की लिपियाँ मिलती हैं और दोनों में अक्षरों के ऊपर अनुस्वार लगाने में एकता पाई जाती है। शृंगारविलास में इनके गद्य का नमूना ऊपर दिया गया है। प्रेमपच्चीसी इनके पंजाबी भाषा के ज्ञान का प्रमाण है। प्रसन्नता की बात है कि ये दोनों रचनाएँ सभा के लिये प्राप्त हो गई हैं और आर्यभाषा पुस्तकालय के याज्ञिक-संग्रह में सुरक्षित हैं।

प्रेमपच्चीसी से दो छंद दिए जाते हैं—

क्या किति तकसीर तुसांडी नही मुषउ दिषलावै है।
राति दिहां विनु तैंडी चरचा मुझनु और न भावै है।
वेदरदी महबुव गीरदे क्यौ जरदगी करदा है।
सोमनाथ नही सै कैसा दील अंदरदा परदा है ॥२॥

× × ×

काम नही यह सवदा कोइलि नीरवाहै टाडा है।
साहिव दे दरसन दा दरसन नही ठोदा चाटा है।
कहि ससिनाथ सुनो वेदाए नहचै दिलदा साटा है।
नही किसीदा आठा तौ भी इसक सेहदा काटा है ॥२६॥

नीचे विवरणिका के परिशिष्टों की सूची दी जाती है, जो स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं दिए जा सकते—

परिशिष्ट १—ग्रंथकारों पर टिप्पणियाँ।
„ २—ग्रंथों के विवरणपत्र (उद्धरण, विषय, लिपि और कहाँ वर्तमान है—आदि विवरण)।

„ ३—उन महत्त्वपूर्ण रचनाओं के विवरणपत्र (उद्धरण, विषय, लिपि, और कहाँ वर्तमान हैं आदि विवरण) जिनके रचयिता अज्ञात हैं।

„ ४—(क) परिशिष्ट १ में आए उन कवियों की नामावली जो आज तक अज्ञात थे।

(ख) परिशिष्ट १ और २ में आए उन ग्रंथों की नामावली जो खोज में मिले हैं।

(ग) काव्य-संग्रहों में आए उन कवियों की नामावली जिनका पता आज तक न था।

„ ५—ग्रंथकार और उनके आश्रयदाताओं की सूची। अंत में ग्रंथकारों और ग्रंथों की नामानुक्रमणिकाएँ।※

※ इस त्रैवार्षिक खोज-विवरण की सामग्री खोज-विभाग के अन्वेषक श्री दौलतराम जुयाल ने प्रस्तुत की है, एतदर्थ उन्हें धन्यवाद।

—निरीक्षक।

विमर्श

साहित्य-निर्माण और भाषा का रूप

हिंदी के विद्वानों तथा हिंदीवर्धिनी संस्थाओं के समक्ष संप्रति दो प्रश्न विशेष रूप से विचारणीय हैं। पहले प्रश्न का संबंध साहित्य-निर्माण के कार्य से है और दूसरे का भाषा के स्वरूप से।

१

जब भारतीय संविधान परिषद् ने हिंदी को राजभाषा पद पर प्रतिष्ठित करने के लिये पंद्रह वर्ष की अवधि बाँध दी तब हिंदी-संसार में बहुत खलबली मची, बड़ा रोष प्रकट किया गया और कितनी कुछ बातें नहीं कही गई। मैं स्वयं उन व्यक्तियों में हूँ जो यह मानते हैं कि यदि हिंदी आज राजभाषा स्वीकृत हो तो कल से ही उस रूप में उसका व्यवहार होना उचित है। कठिनाइयों का बहाना मैं मानने को तैयार नहीं। अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करना और चाहे जो भी कठिनाइयाँ और बाधाएँ आएँ उन्हें कुचलना सरकार का और हमारा कर्तव्य है, इस कार्य में भले ही कुछ समय लग जाय। परंतु प्रश्न यह है कि जब पंद्रह वर्ष की अवधि स्वीकृत हो ही गई, तो उसे भी सार्थक बनाने के लिये हमने पिछले डेढ़ वर्षों में क्या किया? शायद हम भूल जाते हैं कि संविधान में इतना अवकाश तो रक्खा ही गया है कि यदि उचित प्रयत्न किया जाय तो पंद्रह वर्ष की अवधि पाँच वा दस वर्ष निकटतर खींच लाई जा सकती है, अन्यथा पंद्रह वर्ष के बाद भी अंग्रेजी का हटना निश्चित नहीं। यदि वैसी स्थिति आ जाय तो क्या उसके लिये सरकार को जी भरकर कोस लेने से ही हम अपने कर्तव्य से मुक्त हो जायँगे?

इधर डेढ़ वर्षों में जितनी बातें हुई हैं उनसे कार्य के लिये चिंता और उत्सुकता तो अवश्य प्रकट होती है, परंतु जान पड़ता है अभी यही नहीं तै हो पा रहा है कि कार्य कहाँ से और कैसे आरंभ किया जाय। आगे जितना विशाल कार्य

पड़ा हुआ है, मैं समझता हूँ यह अकेले किसी विद्वान् या संस्था के मान का नहीं। परंतु बाँटकर काम करने के लिये भी पहले यह निश्चित करना आवश्यक है कि कितनी अवधि में कितना कार्य कर लेना आवश्यक है और कौन सा कार्य तत्काल आवश्यक है तथा कौन कौन सा कितने दिन बाद। इसका निश्चय होते ही व्यक्ति हों या संस्थाएँ, अपनी अपनी शक्ति के अनुसार काम में जुट जायँ। तभी हम निश्चित अवधि के भीतर हिंदी को ऐसा संपन्न बना सकेंगे कि रसास्वादन, ज्ञानार्जन और व्यवहार, सभी दृष्टियों से उसका अध्ययन, अनुशीलन और उपयोग अनिवार्य हो जाय।

संविधान ने हिंदी की अभिवृद्धि का दायित्व संघ-सरकार पर डाला है। उसके उद्योग की प्रगति हमारे सामने है। परंतु उसके भरोसे चुपचाप बैठ रहना कहाँ की बुद्धिमानी है? क्या आज तक हिंदी किसी सरकार की छाया में ही फूली-फली है? क्या अपने लोकबल और प्रकृत गुणों के कारण ही वह सरकार द्वारा मान्य नहीं हुई है? हाँ, शिकायत करनेवालों की इस शिकायत में अवश्य दम है कि आधुनिक ज्ञान-पिपासा को शांत करने योग्य साहित्य की हिंदी में कमी है। यही कमी हमें पूरी करनी है। देश में योग्य लेखकों और प्रकाशकों की कमी नहीं है, पर लेखक के सामने प्रकाशन का और प्रकाशक के सामने विक्रय का आर्थिक प्रश्न है। यह प्रश्न हिंदीवर्धिनी संस्थाओं द्वारा ही सुलझाया जा सकता है। वे कार्य आरंभ करें तो जनता और सरकार दोनों ही सहायता देंगी। काशी नागरीप्रचारिणी सभा, जिसने हिंदीशब्दसागर तथा अन्य अनेक व्ययसाध्य ग्रंथों का प्रकाशन किया, इसका प्रमाण है।

उचित तो यह हो कि हिंदी की सभी समर्थ संस्थाएँ मिलकर भार उठाएँ। पर यदि इसमें कठिनाई वा अधिक विलंब हो तो जो आपस में मिल सकें वे ही संस्थाएँ अथवा कोई भी संस्था अकेली ही भिन्न-भिन्न विषयों के चुने हुए अधिकारी विद्वानों को साहित्य-निर्माण की योजना बनाने के लिये आमंत्रित करे और छोटे पैमाने पर ही एक योजना स्वीकार कर अपने सामर्थ्य के अनुसार उन विद्वानों से ग्रंथ लिखने का अनुरोध करे तथा उन ग्रंथों को प्रकाशित करे। डेढ़ वर्ष बीत चुके हैं, दूसरा वर्ष समाप्त होते होते योजना के अनुसार कार्य आरंभ किया जा सकता है।

एक बात और। यह समझना निरा भ्रम है कि भिन्न भिन्न विषयों के पारिभाषिक शब्द गढ़ लेने से ही साहित्य संपन्न हो जायगा, अथवा उसके बाद ही

ग्रंथ-निर्माण हो सकेगा। मौलिक ग्रंथों के निर्माण या अनुवाद अथवा ज्ञान-संकलन के कार्य के साथ साथ ही आवश्यक शब्दों का निर्माण और चयन स्वाभाविक और उचित है। तभी शब्द सार्थक होंगे और भाषा सशक्त और प्रवाहयुक्त होगी। पहले कोश बनाकर ग्रंथ-निर्माण करने से या तो भाषा पंगु और असमर्थ होगी अथवा अधिकांश शब्दों की ही अकाल अंत्येष्टि देखनी पड़ेगी। भूलना न चाहिए कि भाषा व्यवहार से ही बनती हैं, कोश या व्याकरण से नहीं।

२

दूसरे प्रश्न का संबंध भाषा के रूप से है। इधर संस्कृतनिष्ठ हिंदी के नाम पर बड़ा भ्रम फैल रहा है जो अनर्थकारी है। यदि हिंदी के लिये संस्कृतनिष्ठता का कोई अर्थ अभीष्ट है तो यही कि संस्कृत हमारे देश की प्राचीन गौरवमयी संपन्न भाषा है, हमारे जीवन और संस्कृति की अमूल्य निधि उसमें सुरक्षित है, इस नाते हमारी वर्तमान भाषा हिंदी आवश्यकतानुसार उसकी शक्ति और भांडार का उपयोग करने की अधिकारिणी है। हमारे उपयोग की जो वस्तु उसमें मिलेगी वह हम अवश्य लेंगे। हम अपने पूर्वजों की ज्ञानराशि और भाव-परंपरा भी उसमें से ग्रहण करेंगे। परंतु यदि 'संस्कृतनिष्ठ' का यह अभिप्राय हो कि हिंदी संस्कृत कोश और व्याकरण के साथ जकड़कर बाँध दी जाय और हर बात में संस्कृत की दुहाई देकर उसकी स्वतंत्र प्रवृत्ति कुंठित कर दी जाय एवं गति अवरुद्ध, तो ऐसी संस्कृतनिष्ठता अविलंब त्याज्य है। हिंदी के पास अपनी शक्ति है, अपना स्वतंत्र मार्ग है। उसकी शक्ति उसे सीधे लोक-व्यवहार से मिली है, किसी भाषा से उधार ली हुई नहीं है। इसी के कारण वह देश में मान्य हुई है। अब उसे लोक से पृथक् कर संस्कृत व्याकरण के साथ बाँधना उसकी शक्ति तथा लोक के अधिकार पर प्रहार करना होगा।

हमारी भाषा में न तो रूप में और न अर्थ में संस्कृत की अनुयायिता का स्वभाव है। हिंदी में जो हजारों शब्द तद्भव रूप में प्रसिद्ध हैं उनका संस्कृत से रूप-परिवर्तन हिंदी ने अपनी प्रकृति और अपने नियमों के अनुसार कर लिया है। पर प्रश्न केवल रूप तक सीमित नहीं, कितने ही तत्सम शब्दों का अर्थ भी इसने बदल डाला है। हिंदी में 'मोह' का अर्थ 'अनुरक्ति, 'आसक्ति' है, जब कि इसका संस्कृत अर्थ 'मूढ़ता' है। 'संतोष' हिंदी में 'सब्र' के अर्थ में चलता है—नहिं संतोष तो पुनि कछु कहऊ। परंतु इसका मूल अर्थ है 'सम्यक् रूप से तुष्टि', जिससे अनुत्तम'

सुख मिलता है; भीतर ही भीतर जलना नहीं (जनि रिस रोकि दुसह दुख सहऊ)।

स्वयं संस्कृत ने भी अपनी पूर्ववर्तिनी वैदिक भाषा की बेड़ी नहीं पहनी। वही परंपरा संस्कृत के संबंध में हिंदी ने ग्रहण की है। संस्कृत ने वैदिक भाषा के नियमों का क्या शब्दों के रूप में और क्या विभक्तियों में पद पद पर उपमर्द किया है। अन्यथा वह वैदिक भाषा से स्वतंत्र कैसे होती? वह तो वदिक भाषा ही बनी रह जाती। ऐसी दशा में हिंदी ने ही क्या अपराध किया है कि उसे पाणिनीय नियमों की बेड़ी पहनाई जाय?

वैदिक भाषा का एक स्वभाव था कि उसमें मित्रावरुण, विश्वावसु, विश्वामित्र, वैश्वानर सरीखे समासों में पहले पद का अकार आकार हो जाता था। संस्कृत में वह स्वभाव नहीं आया और पाणिनि को 'मित्रे चर्षौ' (६।३।१३०) सरीखा सूत्र बनाना पड़ा। इस संबंध में एक कथा भी वैयाकरणों में चलती है कि विश्वामित्र पाणिनि के पूर्ववर्ती सभी व्याकरणकारों से अपने नाम का अर्थ पूछा करते और वे स्वभावतः उन्हें 'विश्व का अमित्र' बताया करते थे। इसपर महर्षि उनके व्याकरण को न चलने का शाप दे दिया करते। जब पाणिनि की पारी आई तो उन्होंने अपना सूत्र सुना दिया जिससे 'विश्व का मित्र' अर्थ निकलने के कारण उन्होंने अपने व्याकरण की अमरता का वरदान पाया।

वैदिक नियमों को जाने दीजिए, पाणिनि के नियमों से भी संस्कृत के सभी शब्द सिद्ध हों सो नहीं। कुछ 'निपात' शब्द हैं जिनके लिये अपवाद रूप पाणिनि को अलग सूत्र बनाने पड़े हैं। 'ज़ुबाँदाँ' लोगों के मुँह से जो शब्द हठात् गिर या निकल पड़ते हैं उनका रूप जैसा भी हो, मान्य होता है। यही चीज निपात है। निपात और उक्त 'पड़ना' दोनों में ही 'पत्' (गिरना, पड़ना) धातु है। यदि संस्कृत सरीखी माँजी-खरादी जकड़बंद भाषा तक में निपात ग्राह्य हैं तो हिंदी ने क्या दोष किया है कि उसी के पल्लवन पर कुठाराघात किया जाय? संस्कृत की भाँति हमारे ज़ुबाँदानों के प्रयोग भी कम से कम निपात तो हैं ही। आजकल हिंदी की दशा मैनाक सरीखी हो रही है। उसने तनिक सिर ऊँचा किया कि उसके सहस्राक्ष कृपालुओं ने वज्र चलाया!

'पुनीत' शब्द को गोस्वामी जी के 'परम पुनीता' प्रयोग के बाद हम कैसे

छोड़ सकते हैं ? वह कितना भी अशुद्ध हो, फिर भी उनके प्रयोग करने से ही पुनीत हो गया है।

'राष्ट्रीय' शब्द जब 'राष्ट्रिय' रूप में हमारे सामने आता है तो इकार की ह्रस्वता के कारण उसकी कमर टूटी सी दिखाई देती है और उसका अर्थ 'राजश्यालस्तु राष्ट्रियः' हठात् उपस्थित हो जाता है।

'उपरोक्त' शब्द संस्कृत व्याकरण के अनुसार अशुद्ध है। किंतु केवल इस कारण हम उसे छोड़ क्यों दें ? फिर वैदिक भाषा के पंडित उसे वैदिक भाषा के अनुसार शुद्ध बतलाते हैं। हाँ, डा० रघुबीर के 'स्फट्यात' आदि की भाँति कोई भी शब्द श्रुतिमधुर न होने कारण अवश्य त्याज्य है।

'हित' शब्द तो तत्सम है न ? फिर गोस्वामी जी ने उसके जिस 'अनहित' रूप का प्रयोग किया है (हित अनहित पसु पच्छिहुँ जाना) और जो हिंदी की सभी पूरबी और पश्चिमी बोलियों में चलता है उसके लिये किस व्याकरण की दुहाई दी जा सकती है ?

जिस प्रकार जात गंगा है उसी प्रकार भाषा भी गंगा है। जो शब्द इसमें प्रवहमान हो जायँ वे शुद्ध हैं।

अपने यहाँ 'स्त्रियोपयोगी' खूब चल रहा है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार इसे 'स्त्र्युपयोगी' होना चाहिए। किंतु कौन इसके उच्चारण का 'दर्द सर' मोल लेगा ?

यह लक्ष्य करने की बात है कि अपने यहाँ के भाषाशास्त्रियों ने ऐसे शब्दों को जिन्हें आज हम संस्कृत शब्द कहते हैं, 'तत्सम' नाम दिया है। उनका आत्मसम्मान उन शब्दों को उधार लिया हुआ मानने को तैयार न था। जब वे शब्द तत्सम मात्र हैं तो हम अपनी भाषा की प्रकृति के अनुसार उनका रूप बना सकते हैं और बनावेंगे।

—(राय) कृष्णदास

चयन

सुरुहानी का ज्वाला देवी का मंदिर

रायल एशियाटिक सोसायटी (बंबई शाखा) की पत्रिका के भाग २६, अंक १ में श्री जे०एम० ऊनवाला का बाकू के ज्वाला-मंदिर में लगे हुए शिलालेखों के विषय में एक लेख (अंग्रेजी, सचित्र) प्रकाशित हुआ है। एच० वैलेंटाइन, अलेक्ज़ंडर ब्यमा और एक पारसी सज्जन ने उक्त मंदिर को जरथुश्त्री अग्नि-मंदिर माना है। लेखक ने ई० १९२५ में उक्त मंदिर को स्वयं जाकर देखा था और शिलालेखों के फोटो भी प्राप्त किए थे। अपने लेख में मंदिर का आँखों देखा वर्णन करके उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि वह भारतीयों का ज्वाला देवी का मंदिर है। उक्त लेख का सारांश हिंदी में यहाँ प्रस्तुत है।

बाकू का ज्वाला-मंदिर रूसी अजरबैजान की राजधानी बाकू के पास सुरुहानी में स्थित है। रूसियों ने इस प्रांत को ई० १८२३–२४ में फतहअली शाह के समय में ईरान से जीत लिया था। यह नगर कश्यप (कास्पियन) सागर के उत्तरी तट पर उस क्षेत्र में बसा है जिसमें तैल-कूपों की प्रचुरता है। नगर में भवन आदि यूरोपीय ढंग के बने हुए हैं, पर बाहरी भाग में पुराने और लकड़ी के मकान भी हैं। एक पुरानी मसजिद भी शाह अब्बास (प्रथम) की बनवाई हुई है जिसमें मुसलमान अब भी जुमा को नमाज पढ़ते हैं।

ज्वाला-देवी का मंदिर शुद्ध ईरानी शैली पर बना है। उसके दो विभाग हैं—एक तो वह वेदिका जिसपर निरंतर ज्वाला जलती रखी जाती थी; दूसरा, उसके तीन ओर की पुजारियों और पुरोहितों के रहने की कोठरियाँ। चौथी ओर प्रवेश-द्वार था। वेदिका एक प्रांगण के बीचोबीच ऊँचे चबूतरे पर बनी हुई है। इसके ऊपर चार खंभों पर टिके हुए एक गुंबद की छाया है, सासानी 'चहार-ताक़' की भाँति यह चारों ओर से खुली हुई है। इस समय इसमें ज्वाला प्रज्वलित नहीं रहती, परंतु इसके नीचे बाँई ओर कई गज गैस-नल पड़े हुए हैं और एक नलखंड इसके भीतर भी है। तैलस्थलों में एकत्र हुई गैस इन नलों में से

होकर आती और निरंतर प्रज्वलित रहती थी। इस गैस का जलना कब बंद हुआ, इसका ठीक पता नहीं। किंतु कई कोठरियों के दरवाजों के ऊपर लगे शिलालेखों की तारीखों से जान पड़ता है कि ई० उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में ऐसा हुआ होगा।

कोठरियाँ नीची और तंग हैं। दीवारों पर तृणमिश्रित मिट्टी के ऊपर से गच या पेरिस-प्लास्टर का पतला पलस्तर है। किसी समय ये दीवारें भीतर की ओर धार्मिक चित्रों से अलंकृत थीं, जो अब मिट गए हैं। केवल एक कोठरी में एक दीवार पर एक हाथी और उसके सवार का चित्र विद्यमान है, यद्यपि जलवायु के कुप्रभाव से वह भी अछूता नहीं है।

शिलालेखों की संख्या सोलह है। किसी अनभिज्ञ व्यक्ति के द्वारा (क्योंकि कुछ लेख उलटे लगे हैं) ये अपने मूल स्थान से हटाकर पंद्रह कोठरियों के दरवाजों के ऊपर लगा दिए गए हैं। रूसी अजरबैजान के पुरातत्त्व विभाग द्वारा लिए गए इनके फोटो सदोष हैं, क्योंकि उनपर प्रकाश विपरीत दिशा से पड़ा है। कुछ शिलालेख चूने के कई स्तरों से ढक गए हैं। मास्को स्थित 'विदेशी संस्कृतियों से संपर्क स्थापित करनेवाली सोवियत संस्था' से लेखक को इन शिलालेखों के सोलह फोटो प्राप्त हुए हैं। तेरह लेख देवनागरी में हैं, दो गुरुमुखी में, एक फारसी में। गुरुमुखी शिलालेखों का तो पेशावर के दो सिक्ख वकीलों ने अनुवाद कर दिया है परंतु नागरी और फारसी के शिलालेखों को पूरा पूरा समझने के सारे प्रयत्न विफल हुए। डाक्टर बार्नेट के अनुसार नागरी लेख संस्कृत भाषा में नहीं, प्रत्युत किसी भारतीय देशभाषा में लिखे गए हैं। किंतु उनका भाव स्पष्ट है। सभी नागरी लेख गणेश-नमस्कार से आरंभ होते हैं, दो में 'राम जी सत' भी लिखा है। 'ज्वाला जी' के अनेक बार उल्लेख से यह अग्नि देवता या ज्वाला देवी का मंदिर निश्चित होता है। इनमें दिए गए सभी संवत् उन्नीसवीं शती के हैं, केवल एक संवत् १७७० है। गुरुमुखी के शिलालेखों में 'श्री जाप जी' के बाद कुछ सिक्ख गुरुओं और शिष्यों के नाम दिए हैं, जिन्होंने मंदिर के किसी अंश का निर्माण कराया था। लेखों का परिचय इस प्रकार है—

सं० १—लेख के शीर्ष पर एक आयत में दो उभारदार पंक्तियों में ये अभिप्राय दिए हैं—ऊपर की पंक्ति में बाएँ से दाहिने क्रमशः वृंत-पत्र-युक्त पुष्प, घंटा, सूर्य की मुखाकृति, दोहरी दंत-पंक्ति वाला कंघा, फिर पूर्ववत् पुष्प; निचली पंक्ति में

बाएँ से दाहिने क्रमशः कुछ पत्तियाँ, नीचे आधार पर रखा हुआ एक त्रिशूल, एक स्वस्तिका, फिर पूर्ववत् त्रिशूल और पत्तियाँ। आयत के नीचे उभरे हुए नागरी अक्षरों में नौ पंक्तियों का लेख है। प्रत्येक पंक्ति दूसरी से एक उभरी हुई चौड़ी पट्टी द्वारा पृथक् है। इसका समय पौष कृष्ण १५, सं० १८७३ दिया है।

सं० २—उभारदार नागरी अक्षरों की पाँच पंक्तियाँ हैं। तिथि सं० १८०२, ? कृष्णा सप्तमी है।

सं० ३—यह सात पंक्तियों का गुरुमुखी लेख है। अक्षर उभारदार हैं, पंक्तियों के बीच उभरी हुई चौड़ी पट्टियाँ हैं। लेख इस प्रकार है—

इक ओंकार सतनाम कर्ता पुरुख निर्भौ निरवैर अकाल मूर्त अजुनि सैभान गुरपरसाद जप आद सच जुगाद सच है भी सच नानक ओसी भी सच सत गुर परसाद बाबा...का चेला...धरम की जगा बनाई।

सं० ४—यह उभारदार नागरी अक्षरों में सात पंक्तियों का लेख है, परंतु प्रथम पंक्ति में 'श्री गणेशाय नमः' को छोड़ और कुछ पढ़ा नहीं जाता।

सं० ५—उभारदार नागरी अक्षरों में नौ पंक्तियाँ हैं। केवल प्रथम पंक्ति में 'ओं श्री गणेशाय नमः' और तृतीय में 'श्री ज्वालाजि' पढ़ा जाता है।

सं० ६—यह भी उभारदार नागरी अक्षरों में है। इसमें छः पंक्तियाँ हैं, पर पढ़ी नहीं गईं। संवत् ? १८०१।

सं० ७—इसमें सात पंक्तियाँ हैं और अक्षर उभरे हुए हैं। निचले कोने खिर गए हैं। प्रथम पंक्ति के प्रारंभ में स्वस्तिका है। तिथि वैशाख कृ० ८, संवत् १८३६ ? है।

सं० ८—उभरे हुए नागरी अक्षरों की छः पंक्तियाँ हैं। केवल पहली पंक्ति में 'श्री गणेशाय नमः' और पाँचवीं-छठी में 'वैसाख वद ७, संवत् १८३६' पढ़ा जाता है।

सं० ९—यह लेख सात पंक्तियों का है। अक्षर नागरी के उभारदार हैं जो बिलकुल पढ़े नहीं गए।

सं० १०—इस लेख में गुरुमुखी अक्षरों की सात पंक्तियाँ हैं। पंक्तियों के बीच मोटी विभाजक रेखा है। लेख इस प्रकार है—

इक ओंकार सतनाम कर्ता पुरुख निरभौ निरवैर अकाल मूरत अजुनी सैभान गुरु परसाद वाहे गुरु जी साहे बाबा ए दास भांगे वाले का चेला मेलाराम तिसका चेला कर्तीराम (भर्तीराम) उदासी ज्वाला में धरम की जगा बनाए गया वाहे गुरु वाहे गुरु......बुज गए।

सं० ११—इसमें छः असमान पंक्तियाँ हैं और अक्षर दूर दूर हैं। पत्थर केवल अक्षरों की रेखाओं के ही इर्दगिर्द खोदा गया है। संवत् १७७० है।

सं० १२—यह बिलकुल पढ़ा नहीं गया । पंक्तियाँ पाँच हैं और अक्षर नागरी के उभारदार हैं ।

सं० १३—इसमें सात पंक्तियाँ उभारदार नागरी में हैं। परंतु इसका पत्थर मेहराब के ऊपर लगाया हुआ है और मेहराब के आकार के अनुरूप काट दिया गया है जिससे केवल ऊपर की तीन पंक्तियाँ अक्षुण्ण हैं। सं० १७७० है।

सं० १४—आठ पंक्तियाँ; उभारदार नागरी अक्षर। पढ़ा बिलकुल नहीं गया।

सं० १५—यह उभारदार फारसी अक्षरों में है और लेख सं० २ के नीचे लगा है। इसमें चार पंक्तियाँ हैं, जिनके बीच मोटी उभरी रेखाएँ हैं। समय हिजरी ११५८ है। लेखक द्वारा दिए गए इसके रोमन प्रत्यक्षर का नागरी प्रत्यक्षर इस प्रकार है—

१—आनंत जी चंद कीशदः भवन दादू-
२—जी भवान जी रसीदः अबादाक
३—भमादि नो बमंज़िले मुबारके माद गुफ़्त ?
४—खानए शद ज़ि वस्तामल सन ११५८।

सं० १६—इसमें उभारे हुए नागरी अक्षरों की सात पंक्तियाँ हैं जो बिलकुल नहीं पढ़ी गई।

अंग्रेजी शिक्षितवर्ग द्वारा हिंदी की उपेक्षा

डा० धीरेंद्र वर्मा द्वारा संपादित 'इलाहाबाद युनिवर्सिटी हिंदी मेगजीन' (भाग ८) में प्रकाशित 'संपादकीय', जिसमें अंग्रेजी शिक्षितवर्ग को हिंदी की उपेक्षा के कुपरिणामों के प्रति सावधान किया गया है, यहाँ अविकल उद्धृत है—

सन् १९४९ में जब स्वतंत्र भारत के विधान में हिंदी को राजभाषा के रूप में स्वीकृत किया गया था और युनिवर्सिटी कमीशन ने उच्च शिक्षा के क्षेत्र में

अंग्रेजी के स्थान पर भारतीय भाषाओं तथा संघ की भाषा को अधिकाधिक स्थान देने पर बल दिया था तो ऐसी आशा हो गई थी कि देश का भाषा-संबंधी वातावरण शीघ्रता के साथ बदलेगा, किंतु इस एक वर्ष में जिस मंद गति के साथ इन क्षेत्रों में कार्य आरंभ किया गया है उससे आशावादी व्यक्ति भी निराशावादी होते जा रहे हैं। प्रस्तावों कांफरेंसों कमेटियों आदि की सीढ़ी से काम आगे नहीं बढ़ पा रहा है। कोई भी ठोस कार्य हाथ में नहीं लिया गया है, कोई भी क्रम-बद्ध आयोजना नहीं बनाई जा रही है जिससे एक निश्चित समय में यह परिवर्तन पूर्ण हो सके, कोई भी वास्तविक प्रेरणा इस संबंध में नहीं दी जा रही है। यह सच-मुच देश का दुर्भाग्य है। फलस्वरूप सर्वसाधारण की यह धारणा बनती जा रही है कि देश को विदेशी शासन से तो मुक्ति मिल गई है किंतु सांस्कृतिक स्वराज्य मिलने में अभी देर है। यही कारण है कि सरकारी संस्थाओं तथा युनिवर्सिटी आदि के संबंध में अपनेपन की जैसी भावना जनता के हृदय में उत्पन्न हो जानी चाहिए थी वह नहीं हो पा रही है। स्वतंत्र देश में जनता और शिक्षितवर्ग में इस प्रकार का पार्थक्य यों दोनों ही के लिये हितकर नहीं है। किंतु शिक्षितवर्ग के लिये तो यह विशेष घातक सिद्ध हो सकता है। देश-हित की भावना से नहीं तो स्वार्थ की दृष्टि से ही अंग्रेजी शिक्षितवर्ग को सर्वसाधारण की सुविधाओं, आवश्यकताओं तथा भावनाओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए। यदि वर्तमान टाल-मटूल की नीति अधिक दिनों चलाई गई तो देशवासियों की आस्था शिक्षितवर्ग से बिलकुल ही हट सकती है, और यदि ऐसा हुआ तो वर्तमान अंग्रेजी शिक्षितवर्ग को भारी हानि हो सकती है।

निर्देश

हिंदी

आज का गुजराती साहित्य—जगदीश गुप्त; सम्मेलन पत्रिका ३७।२ [गुजराती साहित्य की हिंदी के साथ तुलनात्मक आलोचना।]

आयुर्वेद में कैसा साहित्य चाहिए—नित्यानंद शर्मा; स० प० ३७।२ [आयुर्वेद विषयक साहित्य के निर्माण के विषय में कुछ उपयोगी सुझाव।]

कुमारगुप्त तृतीय—बी० पी० सिन्हा; जर्नल ऑव बिहार रिसर्च सोसायटी ३६।३–४ [सारनाथ अभिलेख वाला कुमारगुप्त द्वितीय है और नालंदाभित्तरी की

मुहरों वाला तृतीय। दोनों एक नहीं हो सकते। इनका भिन्न होना मुद्राओं से सिद्ध। नरसिंहगुप्त बालादित्य का पुत्र था जो मिहिरकुल का समकालीन था। यह ५२० ई० में गद्दी पर बैठा होगा। हुयनसांग द्वारा वर्णित वज्र भी यही है। यशोधर्मन से इसकी हार ५३० ई० हुई होगी।]

दक्षिणापथ की भाषाओं से क्या लिया जाय—श्रीराम शर्मा; स० प० ३७।२ [सिद्ध, नाथ, रामभक्ति, कृष्णभक्ति, निर्गुण-भक्ति, प्रेममार्ग आदि के संबंध में हमारी जो धारणाएँ हैं, दक्षिण के साहित्य के अध्ययन से उसमें परिवर्तन संभव है। हिंदी में भक्ति के श्रीगणेश के समय दक्षिण में विशेषत: तामिल भाषा में वह पूर्ण परिपक्व हो चुकी थी। प्राचीन और आधुनिक मराठी तथा तिलगू में भी महत्त्वपूर्ण साहित्य है जिसका हिंदी में संग्रह किया जा सकता है।]

पंद्रह वर्ष की अवधि में हिंदीसेवियों का दायित्व—कालिदास कपूर; "विशाल-भारत", अप्रेल ५१ [इस संबंध में विचारणीय सुझाव।]

पृथ्वीराजरासो पर की गई शंकाओं का समाधान—कविराव मोहनसिंह; "शोधपत्रिका", भाग २ अंक ३ [लेखक ने रासो के सम्यक् अध्ययन से उसके क्षेपकों को अलग करने की जो कुंजियाँ स्थिर की हैं उनके आधार पर रासो पर की गई मुख्य शंकाओं का समाधान प्रस्तुत लेख में किया है।]

प्राचीन भारतीय साहित्य में स्त्री और शूद्र के कुछ सम्मिलित उल्लेख—रामशरण शर्मा; ज० बि० रि० सो० ३६।३-४ [गीता, पुराण तथा गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और स्मृति ग्रंथों के साक्ष्य से पुष्ट किया है कि स्त्रियों और शूद्रों को धर्म, राज्य-शासन, संस्कृति आदि की दृष्टि से समान रूप से घृणित और गर्हित स्थान दिया गया था। दोनों का उल्लेख भी साथ साथ हुआ है।]

भारतीय कला का तिब्बत में प्रभाव—दशरथी राय; विशालभारत, अप्रेल ५१ [तिब्बत की पाषाण-मूर्तियों तथा चित्रित धर्मध्वज आदि में भारतीय शैली स्पष्ट लक्षित होती है। ६३६ ई० में तिब्बत के राजा ने नैपाल की राजकुमारी से विवाह किया। इस राजकुमारी ने अपने प्रभाव से तिब्बत में बौद्ध धर्म तथा नेपाली कला का, जो वास्तव में भारतीय कला थी, प्रचार किया। बारहवीं शती तक बौद्ध भिक्षु तथा नेपाली कलाकारों द्वारा यह कला वहाँ पहुँचती रही।]

भोजकालीन यांत्रिक कलाकुशलता–विजयेंद्र शास्त्री; वि० भा० अप्रैल ५१ [महाराज भोज (ग्यारहवीं शती) के संकृत ग्रंथ 'अमरांगण सूत्रधार' से उद्धरण देकर बताया गया है कि उस समय भारत में यंत्रविद्या की कैसी उन्नति थी ।]

मराठी के पाँच प्रतिनिधि ग्रंथ–प्रभाकर माचवे; स० प० ३७।२ [हिंदी में संग्रह एवं अनुवाद के योग्य मराठी साहित्य के चुने हुए ग्रंथों एवं साहित्यकारों का निर्देश ।]

राजस्थान का एक लोकगीत पणिहारी–मनोहर शर्मा; शो० प०, वर्ष २ अंक ३ [सरस भावपूर्ण राजस्थानी लोकगीत की भावात्मक समीक्षा और गुजरात, पंजाब, व्रज तथा अवध के गीतों से उसकी एकात्मता पर प्रकाश ।]

हंस कवि कृत चाँदकँवर री वात–भोगीलाल जयचंद भाई साँडेसरा; शो० प० २।३ [सं० १७४० की लिखी उक्त पुस्तक की हस्तलिखित प्रति (कुल छः पन्ने) सारांश और टिप्पणी सहित प्रकाशित ।]

हिंदी में वैदिक साहित्य–साँवलिया बिहारी लाल; स० प० ३७।२ [हिंदी में प्रकाशित वैदिक साहित्य का परिचय ।]

अंग्रेजी

अर्ली संस्कृत पोएटिक्स–के० कृष्णमूर्ति; "भारतीय विद्या", ११।१-२ [संस्कृत साहित्यशास्त्र का इतिहास कालिदास और संभवतः भास के भी पूर्व आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र से प्राप्त होता है । इस लेख में केवल भामह, दंडी, वामन, उद्भट, रुद्रट और आनंदवर्धन के सिद्धांतों की विशेषताओं का तुलनात्मक विवेचन है ।]

ऑन कंडारिऊण–जी० एस० गाय; बुलेटिन ऑव द डेकन कालेज रिसर्च इंस्टीट्यूट ११।१ [राजशेखर ने कर्पूरमंजरी में 'कंडारिऊण' का प्रयोग 'उकेरकर, कोरकर अथवा सँवारकर' (by carving, sculpturing ie giving nicer touches) के अर्थ में किया है और डा० स्टेनकोनो ने इसे मराठी शब्द बताया है । इस लेख में प्राचीन साहित्य तथा अभिलेखों के आधार पर सिद्ध किया है कि यह कन्नड़ शब्द है ।]

ऑन दि ओरिजिन ऑव द ब्राह्मण गोत्राज–डी० डी० कोशांबी; जर्नल ऑव द रायल एशियाटिक सोसायटी (बंबई शाखा) २६।१ [वैदिक, पौराणिक और ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर ब्राह्मण गोत्रों के मूल की खोज ।]

ऑब्जर्वेशंस ऑन द सोर्सेज ऑव दि अपभ्रंश स्टैंज़ाज़ ऑव हेमचंद्र-शिवेंद्रनाथ घोष; इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली २७।१ [हेमचंद्र के ३०–३५ दोहों का मूल उनके पूर्व के प्राकृत ग्रंथ हाल की सतसई और जयवल्लभ की वज्जालग्गा में तथा अपभ्रंश में रामसिंह कृत पाहुड़दोहा और योगींद्रदेव कृत परमात्मप्रकाश में ढूँढ़ा गया है।]

एग्ज़ामिनेशंस ऐंड देअर ईविल एफ़ेक्ट्स–आर० एम० ठाकुर; "शिक्षा", वर्ष ३ अंक ४ [वर्तमान परीक्षा-प्रणाली भारतीय शिक्षा में सबसे हानिकर वस्तु है, विदेशों में भी इसका त्याग हो रहा है। भारत में गुरुकुल पद्धति ही सर्वथा उपयुक्त है]

ऐस्पेक्ट्स ऑव दि एंशंट आर्ट ऑव इंडिया ऐंड द मेडिटरेनियन—मेरिओ बुसाग्ली; 'इस्ट एंड वेस्ट' १।४ [यूनानी कला में वास्तविकता और गति केवल उसी की विशेषता नहीं है। भारत की हड़प्पा कला में बहुत पहले ही ये गुण पाए जाते हैं। सैंकड़ों हजारों वर्ष तक मेसोपोटामिया, मिश्र और भारत की कला में जो वास्तविकता का अभाव रहा उसका कारण कलाकारों का अज्ञान नहीं, उनके लक्ष्य की भिन्नता है।]

औरंगज़ेब्स डीलिंग्ज़ विथ रॉबर्स—एस० पी० संग; भा० वि०, ११।१-२ [चोरों और लुटेरों से प्रजा की रक्षा के लिये औरंगजेब की क्या दंड-व्यवस्था थी इसका विदेशी यात्रियों के उल्लेखों के आधार पर वर्णन.]

कला परिच्छेद—सदाशिव एल० कत्रे०, ज० रा० ए० सो० बं० [कला परिच्छेद' निश्चित रूप से दंडी द्वारा रचित और उनके काव्यादर्श का ही एक परिच्छेद था—इसे उद्धरणों द्वारा सिद्ध किया है।]

कल्चुरल वर्ड्स ऑव चाइनीज़ ओरिजिन—एस० महदी हसन; वही २६।१ [फिरोजा, यश्ब, चमचा, तोप और सिलफची शब्दों की व्युत्पत्ति चीनी भाषा से सिद्ध की गई है।]

कल्ट कैरेक्टरिस्टिक्स ऑव द हिंदू टेंप्ल्स ऑव द डेकन—ए० बी० नायक, बु० डे० का० रि० इं० ११।१ [दक्षिण की वास्तुकला के अध्ययन के लिये वहाँ के मंदिरों का शैव, वैष्णव, ब्राह्म, सौर आदि सांप्रदायिक आधार पर वर्गीकरण और उनकी भेदक विशेषताओं का वर्णन।]

क्लासिफ़िकेशन ऑव सम लैंग्वेजेज़ ऑव द हिमालयाज़—राबर्ट शेफर; जर्नल ऑव बिहार रिसर्च सोसायटी ३६।३-४ [हिमालय प्रदेश की कुछ भाषाओं का वर्गीकरण ।]

चाइनीज़ फ़िलासफ़ी ऐंड इट्स पॉसिब्ल कौंट्रिब्यूशन टु ए यूनिवर्सल फ़िलासफ़ी—फेंग-यू-लान; ई० वे० १।४ [प्लेटो और कांट तथा कंफ्यूशियस और ताओ के सिद्धांतों में साम्य और भेद दिखलाकर बताया गया है कि उच्चतम नैतिक आदर्शों को सामान्य जीवन में उतारने में सक्षम होने के कारण चीनी दर्शन विश्व-दर्शन की स्थापना में सहायक हो सकता है ।]

चित्तोर ऐंड अलाद्दीन खिलजी—एम० एल० माथुर; [आधुनिक लेखकों ने चित्तोर के रतनसेन और पद्मिनी की प्रसिद्ध कथा को ऐतिहासिक सत्य न मानकर जायसी द्वारा कल्पित कहा है । इस लेख में अमीर खुसरो की 'खजीनतुलफतह' पुस्तक से यह सिद्ध किया है कि उक्त कथा ऐतिहासिक घटना है; हाँ अलाद्दीन के गढ़ के भीतर जाकर दर्पण में पद्मिनी का रूप देखने की घटना अवश्य कल्पित है ।]

द वाकाटक क्वीन प्रभावती गुप्ता—आर० सी० मजूमदार; भा० वि०, ११।१-२ ['साग्र वर्ष शतदिव पुत्र पौत्रा' में 'दिव' वस्तुतः 'दीव' जान पड़ता है जो 'जीव' के स्थान पर भूल से लिखा गया है । इससे उसका अर्थ होगा कि महारानी प्रभावती गुप्ता सौ से अधिक वर्ष जीती रहीं और उनके पुत्र-पौत्र भी उस समय विद्यमान थे । वे क्रमशः अपने ज्येष्ठ पुत्र दिवाकर सेन और द्वितीय पुत्र दामोदर सेन की अभिभाविका रहीं । दामोदरसेन की मृत्यु के बाद महारानी का तृतीय पुत्र प्रवरसेन राजा हुआ ।]

द वेदिक ऐक्सेंट ऐंड दि इंटर्प्रिटर्स ऑव पाणिनि—सिद्धेश्वर वर्मा; ज० रा० ए० सो० बं० २६।१ [१-वैदिक स्वरों विशेषतः उदात्त की ठीक व्याख्या तैत्तिरीय प्रातिशाख्य और शिक्षाओं में की गई थी जो आधुनिक तुलनात्मक भाषाविज्ञान द्वारा समर्थित है । २—उदात्त का अर्थ 'उच्च' स्वर है और पाणिनि भी संभवतः यही मानते थे । यदि उदात्त = उच्च स्वर, तो स्वरित संभवतः अधिक उच्च होगा, जैसे दीर्घ से प्लुत ।]

दि इंडियन मूवमेंट ऑव १८५७-५६—के० के० दत्त; जर्नल ऑव बिहार रिसर्च सोसायटी, ३६।३-४ [बंगाल पुलिस बटालियन के सूबेदार सरदार बहादुर

हिदायतुल्ला ने १८५८ ई० में विद्रोह के कारणों का विवरण लिखा था जो हाल में लेखक को प्राप्त हुआ है। उसमें बड़े विस्तार से ब्रिटिश सैनिक प्रबंध के दोषों तथा भारतीय जनता की असंतोष-भावना को विद्रोह का कारण बताया गया है।]

मॉडर्न मेडिसिन इन इट्स हायर सिंथिसिस—निकोला पेंडे; ई० वे० १।४ [चिकित्सा में 'निओ-हिप्पोक्रेटिज्म' सिद्धांत का प्रतिपादन, जिसमें आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली की भाँति मानव शरीर को केवल यंत्रवत् मानकर उसके अंग पुर्जों की चिकित्सा का विधान नहीं, प्रत्युत उसका लक्ष्य मनुष्य को शरीर और आत्मा का युक्त रूप, एक तृतीय पूर्ण पदार्थ मानकर उसकी चिकित्सा करना है।]

लिंग्विस्टिक अबिरेशंस इन कालिदास—तारापद चौधरी; ज० बि० रि० सो० ३६।३-४ [कालिदास की रचनाओं में पाणिनि से च्युत प्रयोगों का भाषा-वैज्ञानिक विवेचन।]

सम प्रॉब्लेम्स ऑव एंशंट इंडियन हिस्ट्री—ए० डी० पुसालकर, भा० वि० ११।१-२ [हड़प्पा सभ्यता का संबंध ऋग्वेद से है। व्हीलर का यह समझना निराधार है कि वह आर्यों द्वारा नष्ट की गई अनार्य सभ्यता है। आर्य ई० पू० १५०० में बाहर से नहीं आए, वे यहीं के थे। ऋग्वेद का काल ई० पू० चौथी-पाँचवीं सहस्राब्दी हो सकता है। हड़प्पा सभ्यता ऋग्वेद सभ्यता का ही उत्तरकालीन रूप है। और अधिक खुदाइयों से इन बातों पर प्रकाश पड़ेगा।]

सम फॉरेन वर्ड्स इन एंशंट संस्कृत लिट्रेचर—वासुदेवशरण अग्रवाल; इं० हि० क्वा० २७।१ [तैमात, आलीगी।विलिगी, उरुगूला, हेलयः-हेलयः, जिगुरुत, कार्षापण, जाबाल, हैलिहिल, कंथा, स्तवरक और पिंगा शब्दों की व्युत्पत्ति व्याख्या सहित विदेशी शब्दों से सिद्ध की गई है।]

सम मोर इंद्र लिजेंड्स फ्रॉम शतपथ ब्राह्मण—एच० आर० कार्णिक; भा० वि० ११।१-२ [शतपथ० १।४।४,२।१। २, और २।४।३ में दी हुई इंद्र की तीन कथाओं से इंद्र का चरित्रांकन। इन कथाओं में इंद्र क्रमशः भीरु, कूटनीतिज्ञ तथा योद्धा चित्रित हैं।

सेकंड सप्लिमेंट टु वेश्या—लुडविक स्टर्नबेंच; भा० वि० ११।१-२ [संस्कृत साहित्य-ग्रंथों से संग्रह कर 'वेश्या' शब्द के ६५, वेश्यालय के ११ और कुट्टनी के १० पर्याय तथा उनके अर्थ दिए गए हैं। और शब्दों के लिये द्रष्टव्य "भारतीय विद्या" भाग ४, ५ तथा ८]

समीक्षा

राजस्थानी भाषा और साहित्य—ले० श्री मोतीलाल मेनारिया, एम० ए०; प्रकाशक हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग (सं० २००६); पृ० सं० ३१५ (ड० डि० सोलहपेजी); मूल्य ६)

हिंदी भाषा का सामान्य अर्थ बहुत विस्तृत है और इससे पिछली अपभ्रंश, खड़ी-बोली, ब्रज, अवधी, राजस्थानी, मैथिली, भोजपुरी आदि भाषाओं का बोध होता है। इस विस्तृत अर्थ में राजस्थानी हिंदी की एक विभाषा मात्र है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से हिंदी से केवल खड़ी बोली का बोध होता है। 'प्रकाशकीय' में सम्मेलन के साहित्य-मंत्री ने 'हिंदी भाषा' का प्रयोग सामान्य एवं विस्तृत अर्थ में किया है। पर 'निवेदन' में ग्रंथ-लेखक ने हिंदी का दूसरा अर्थ लेकर राजस्थानी को हिंदी से स्वतंत्र भाषा माना है। वे राजस्थानी को हिंदी-समुदाय की एक स्वतंत्र भाषा मानते हैं, हिंदी की विभाषा नहीं। यह विचारणीय है। साहित्य के प्रसंग में, जो ग्रंथ का प्रधान विषय है, शास्त्रीय अर्थ की अपेक्षा सामान्य और प्रसिद्ध अर्थ ही समीचीन जान पड़ता है।

ग्रंथ में आठ प्रकरण हैं—भूमिका, प्रारंभिक काल, पूर्व मध्यकाल, उत्तर मध्य-काल, संत-साहित्य, आधुनिक काल, प्राचीन और अर्वाचीन गद्य, उपसंहार। भूमिका वाले प्रकरण में राजस्थानी भाषा, व्याकरण, छंद, रस, अलंकार, गुण-दोष आदि का विवेचन किया गया है। उपसंहार वाले प्रकरण में राजस्थान की आधुनिक साहित्यिक प्रवृत्तियों का विवेचन और उनके भविष्य पर विचार प्रकट किया गया है। इस ग्रंथ में जैसा कि उसके नाम से लक्षित होता है, राजस्थानी भाषा और उसके साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास प्रस्तुत करना चाहिए था, परंतु ऐसा न कर लेखक ने नाम को असार्थक बना दिया है। उन्होंने इस ग्रंथ में राजस्थान में हुए ब्रजभाषा के प्राचीन-अर्वाचीन कवियों और खड़ी-बोली के आधुनिक गद्य-पद्य-लेखकों का भी विवेचन किया है, इससे ग्रंथ लक्ष्यच्युत हो गया है। यदि लेखक को राजस्थान के इन ब्रज भाषा और खड़ी बोली के कवियों और लेखकों का मोह ही था तो इन्हें परिशिष्ट रूप में दिया जा सकता था। इस ग्रंथ में बिहारी,

कुलपति मिश्र, नागरीदास, सोमनाथ, सुंदरदास आदि ब्रज भाषा के सिद्ध कवियों तथा लज्जाराम मेहता, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, रामकृष्ण शुक्ल, नरोत्तमदास स्वामी, कन्हैयालाल सहल, मुंशी देवीप्रसाद, डा० रघुवीरसिंह, विश्वेश्वरनाथ रेउ, चतुर्वेदी गिरिधर शर्मा 'नवरत्न', जनार्दन राय, हरिभाऊ उपाध्याय, दिनेशनंदिनी चोरड्या, सुधींद्र आदि खड़ी बोली के लेखकों को भी न जाने किस न्याय से राजस्थानी भाषा और साहित्य के अंतर्गत स्थान दिया है।

ग्रंथ में यत्र-तत्र तथ्यों का भी त्रुटिपूर्ण उल्लेख है। उदाहरणार्थ नागरीदास को लीजिए। पहले के इतिहासकारों ने इनके ७५ ग्रंथों का उल्लेख किया है, मेनारिया जी ने ७७ का। बंबई के ज्ञानसागर यंत्रालय से १८९८ ई० में प्रकाशित 'नागरसमुच्चय' (नागरीदास के संपूर्ण ग्रंथों का संग्रह) में केवल ६९ ग्रंथ हैं, ७५ या ७७ नहीं। इस अंतर का कोई आधार उल्लिखित नहीं है। 'नागरसमुच्चय' में नखशिख, चरचरिया, रेखता, धन्यधन्य, ब्रज-नाममाला, गुप्त रसप्रकाश आदि ग्रंथ नहीं हैं। एक-आध ग्रंथ के नाम में भी त्रुटि है। 'छूटक पद' को 'छूटक विधि' लिखा गया है। 'छूटक पद' का अर्थ है छुट्टे, फुटकर, स्फुट पद। पर राधाकृष्णदास जी 'छूटक विधि' लिख गए, शुक्ल जी के इतिहास में भी यही लिखा गया और मेनारिया जी ने भी यही लिखा।

सतसईकार बिहारी के प्रसंग में तीन कवित्त उद्धृत किए गए हैं जो अत्यंत शिथिल हैं और बिहारी जैसे सुगठित पदावली वाले कवि के नहीं प्रतीत होते। शिवसिंहसरोज में बिहारी नाम के अनेक कवियों का उल्लेख हुआ है। ये कवित्त किसी दूसरे बिहारी के संभव हैं। यदि ये सतसईकार प्रसिद्ध बिहारीलाल चौबे के ही हैं, तो इसका पूर्ण प्रमाण ग्रंथकार को देना चाहिए था।

प्रादेशिक एवं जनपदीय भाषाओं और साहित्यों की रक्षा एवं वृद्धि समय की माँग है और इसकी पूर्ति की ओर मेनारिया का प्रयत्न इस ग्रंथ के रूप में स्तुत्य है। आशा है अगले संस्करण में वे उपर्युक्त प्रकार की त्रुटियों का निराकरण कर देंगे।

—किशोरीलाल गुप्त

सौश्रुती—पं० रमानाथ द्विवेदी एम्० ए० ए० एम्० एम्०; प्रकाशक चौखंभा संस्कृत सीरीज, बनारस; डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ सं० ५५८; मू० ८॥)

पुस्तक का नाम ही विद्वान् लेखक की विद्वत्ता और योग्यता का सजीव

प्रमाण है। वस्तुतः 'सर्जरी' शब्द का बोधक तथा सुश्रुत के महत्त्व का प्रतिपादक इससे सुंदर नाम नहीं चुना जा सकता था।

आरंभिक प्राक्कथन में विज्ञ लेखक ने अपना संकल्प एवं ध्येय बड़े ही विनम्र शब्दों में पतिपादित कर इतिवृत्तात्मकाध्याय नामक प्रथम प्रकरण में विस्तृत रूप में आयुर्वेद का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत किया है। इसमें न केवल आयुर्वेद की अपितु देश की अन्य ऐतिहासिक सामग्री भी सन्निविष्ट है। यद्यपि इसमें स्वीकृत तथ्यों का आधार आधुनिक विचारधारा ही है जिससे सहमत होना सबके लिये संभव नहीं, तथापि इस अध्याय के मनन से भारत के संबंध में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है और आयुर्वेद के वर्तमान रूप तक पहुँचने के लिये एक ठोस आधार प्राप्त होता है। इसमें लेखक द्वारा प्रस्तुत ऋग्वेदकाल, बौद्धकाल, ग्रीस, चीन, आदि के अनेक उद्धरणों एवं तुलनात्मक विवेचना से उसके गंभीर अध्ययन तथा ऐतिहासिक ज्ञान का पता चलता है।

आगे के तेईस प्रकरणों और अध्यायों में शल्य-संबंधी विस्तृत वर्णन के अतिरिक्त कायचिकित्सा तथा अन्य आयुर्वेदीय सामग्री इतने प्रचुर परिमाण में सन्निविष्ट की गई है कि वह एक स्वतंत्र तथ्यपूर्ण चिकित्सा-ग्रंथ हो गया है।

मिश्रकद्रव्यसंग्रहणाध्याय नामक पच्चीसवें प्रकरण में चिकित्सोपयोगी अठारह प्रमुख ओषधगणों के संकलन तथा कुछ संगृहीत योगों के वर्णन से ग्रंथ बहुत उपयोगी हो गया है। अनंतर दो प्रकरणों में अन्य व्यावहारिक विषयों का वर्णन कर उपसंहार में विरोधियों तथा आयुर्वेद के उपेक्षकों को समुचित उत्तर दे लेखक ने कुछ उपयोगी सुझाव रक्खे हैं जो मननीय एवं व्यावहारिक रूप देने योग्य हैं। अंत में यंत्रशस्त्रों के चित्र तथा शुद्धिपत्र देकर पुस्तक समाप्त की गई है।

यह अपने ढंग का नया प्रयास है जिसमें लेखक को अच्छी सफलता मिली है। इसमें उसके प्राच्य एवं पाश्चात्य ज्ञान का स्थान-स्थान पर परिचय मिलता है। वस्तुतः ऐसी रचनाएँ उभयज्ञ विद्वानों द्वारा ही प्रस्तुत की जा सकती हैं जिनकी आयुर्वेद-संसार को बड़ी आवश्यकता है।

ऐसे लेखकों का सम्मान करना और उत्साह बढ़ाना सबका पुनीत कर्तव्य है। पुस्तक आयुर्वेद-विद्यालयों के पाठ्यक्रम में रखने योग्य तथा प्रत्येक वैद्य, आयु-

वैदीय छात्र और उसके प्रेमियों एवं भारतीय इतिहास के जिज्ञासुओं के लिये संग्रहणीय है।

शीघ्रता के कारण प्रूफ की अशुद्धियाँ अधिक रह गई हैं। छपाई भी सुंदर नहीं हो सकी। मूल्य कुछ अधिक है जिससे पुस्तक के प्रचार में बाधा पड़ सकती है।

मर्मविज्ञान—लेखक आयुर्वेदाचार्य पं० रामरक्ष पाठक; ए० एम० एस्० एफ्० ए० आई० एम्०; प्रकाशक चौखंभा संस्कृत सीरीज बनारस; डबलक्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ सं० ११०; मूल्य ३॥)

प्रस्तुत पुस्तक में आरंभिक प्रस्तावना के अतिरिक्त सात अध्याय हैं जिनमें सुश्रुतोक्त मर्मों का सचित्र वर्णन है। पंचविध मर्मों की विस्तृत परिभाषा, उनकी संख्या, नाम, उनपर लगनेवाले अभिघात का परिणाम तथा उसका प्रतिकार, और छः चित्रों द्वारा उनका स्वरूप-ज्ञान बड़े ही सरल तथा व्यवस्थित ढंग से कराया गया है।

प्रथम अध्याय में मर्मों के सद्यः प्राणहरत्वादि पर जो व्याख्या की गई है वह बहुत उच्च कोटि की है और सुश्रुत के वचनों पर उससे अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसी प्रकार दूसरे अध्याय में मर्म पर अभिघात लगने से प्रवृद्ध वायु किस प्रकार तीव्र पीड़ा उत्पन्न कर शरीर नष्ट कर सकता है इसपर दिया गया आलोचनात्मक वक्तव्य निश्चय ही सुश्रुत के गौरव का प्रसार करता है।

इसमें ऊर्ध्व-अधः शाखा, मध्य शरीर, ऊर्ध्व जत्रुगत मर्मों का नाम, उनकी रचना, उनमें लगनेवाले अभिघातों से उत्पन्न उपद्रव तथा उनकी चिकित्सा का क्रमशः तीसरे, चौथे, पाँचवें तथा छठे अध्याय में वर्णन किया गया है। इससे पाठकों को विषय के समझने में बड़ी सरलता होती है। सातवाँ अध्याय परिशिष्ट के रूप में है जिसमें मर्माभिघात से उत्पन्न होनेवाले सामान्य उपद्रवों की चिकित्सा तथा कुछ सुंदर योग भी दिए गए हैं जिससे पुस्तक अधिक उपादेय हो गई है।

हिंदी में यह अच्छा संकलन है। यद्यपि लेखक ने इसे अपनी मौलिक रचना ही सिद्ध करने की चेष्टा की है तथापि प्राप्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि पुस्तक केवल डा० बी० जी० घाणेकर की सुश्रुत की टीका एवं डा० पी० वी० कृष्णराव कृत 'मर्मों का तुलनात्मक अध्ययन' (Comparative Study of

the Marmas) का संग्रह मात्र है। जिन व्याख्याओं और वक्तव्यों की चर्चा की गई है वे डा० घाणेकर की टीका से अविकल उद्धृत हैं तथा अन्य भी अनेक प्रकरण उसी भाँति पुस्तक में समाविष्ट हैं। भाषा तक ज्यों की त्यों हैं। पुस्तक में दिए गए छहों चित्र मर्मों की रचनाओं का वर्णन, अनेक सूचियाँ तथा चिकित्साएँ डा० कृष्णराव के हैं।

लेखक ने प्रस्तावना में "मर्मरचना में जिन जिन अवयवों का सन्निपात हुआ है उनका आधुनिक नामकरण कर उन भागों के महत्त्व को समझाया है...... साथ ही अभिघात-जन्य उपद्रवों की संक्षेप चिकित्सा का भी संकेत किया है। यह उक्त सुश्रुत की व्याख्या की दिशा में एक प्रयास है जो छात्रों के अध्यापन-काल-जन्य परिस्थितियों का परिणाम मात्र है।" तथा "मर्मों के वर्णन में यद्यपि सतर्कता रक्खी है तथापि त्रुटियाँ होना असंभव नहीं..." आदि लिखकर यह दिखाने की चेष्टा की है कि यह उनकी निजी कृति है, इतने दिनों के अध्यापन-कार्य से वे इसमें समर्थ हुए, आधुनिक नामकरण भी उनके हैं और पुस्तक लिखने में उन्हें बहुत सतर्कता की आवश्यकता पड़ी।

अस्तु, जहाँ तक लेखक के श्रम का संबंध है, हिंदी में यह संकलन कर उन्होंने मातृभाषा का भंडार भर आयुर्वेद-जगत् का बड़ा उपकार किया है। अनुवादक तथा संकलनकर्ता भी धन्यवाद के पात्र होते हैं और उनके गंभीर अध्ययन की प्रशंसा पाठकों को करनी ही पड़ती है। किंतु उपर्युक्त प्रकार की प्रवृत्ति प्रशंसनीय नहीं। विज्ञजगत् की यह परंपरा है कि यदि वह अन्य ग्रंथों से कोई अभिप्राय भी लेता है तो उन ग्रंथों का साभार उल्लेख करता है। किंतु यहाँ अभिप्राय ही नहीं, संपूर्ण विषय तथा सामग्री अथच पृष्ठ के पृष्ठ उक्त दोनों ग्रंथों से लेने के बाद भी न कहीं उनका नाम है न उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन। यह अवश्य खटकनेवाली बात है और विद्वान् लेखक के अनुरूप नहीं।

वैद्यों, छात्रों तथा आयुर्वेदप्रेमियों के लिये पुस्तक उपादेय तथा संग्रहणीय है। छपाई आदि आकर्षक होने पर भी मूल्य अधिक है।

—व्रजमोहन दीक्षित

स्त्री-पुरुष-मर्यादा-ले० श्री किशोरलाल मश्रूवाला; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद (१९५१ ई०) ; पृष्ठ संख्या १८८ (ड० क्रा० सोलहपेजी); मूल्य १।।)

गांधी जी के बिचारों के विचारशील अनुयायी, 'हरिजन सेवक' के प्रतिष्ठित संपादक श्री किशोरलाल मश्रूवाला ने स्त्री और पुरुष के पारस्परिक संबंधों के विषय में समय-समय पर लेखादि के रूप में अपने जो विचार प्रकट किए हैं उन्हीं का इस पुस्तक में संकलन हैं। लेखक के अनुसार "जिसे कामविज्ञान का साहित्य कहा जाता है वैसे भी ये लेख नहीं हैं", परंतु व्यापक रूप में लेखों का विषय कामविज्ञान से संबंधित है। आर्य आदर्श के अनुसार स्त्री-पुरुष के संबंध कैसे होने चाहिएँ, उनमें काम-विकार कहाँ तक बाधक होता है तथा उसपर किस प्रकार नियंत्रण रखा जा सकता है, इस विषय पर लेखक की निष्ठा प्राचीन आदर्श में होते हुए भी यथार्थ कठिनाइयों को सामने रखते हुए स्वाभाविक दृष्टि से विचार किया गया है।

जैसा काका कालेलकर ने लिखा है, स्त्री-पुरुष के संबंध में उठनेवाले आज के कितने ही महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को लेखक ने छोड़ दिया है, यथा स्त्री पुरुष की तरह कमाई करे या नहीं, विवाह-विधि की मान्यता आवश्यक है या नहीं, स्त्री-पुरुष की शिक्षा में कोई भेद हो या नहीं, इत्यादि। निस्संदेह इन प्रश्नों पर विचार करने से पुस्तक अधिक पूर्ण और उपयोगी होती। फिर भी जहाँ तक भारतीय समाज में युवक-युवतियों के चरित्र-निर्माण का प्रश्न है, यह पुस्तक निस्संकोच उनके हाथों में दी जा सकती है और इस विषय की अन्य पुस्तकों से अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

—चित्रगुप्त

समीक्षार्थ प्राप्त

अर्चना के फूल (कविता)—लेखक श्री मदनलाल नककोफा; प्रकाशक मानसरोवर प्रकाशन, गया; मूल्य १)

उपाख्यान माला भाग १—लेखक श्री शिवप्रसाद चारण एम० ए०; प्रकाशक महर्षि मालवीय इतिहास-परिषद्, दुगड्डा (गढ़वाल); मूल्य ।=)

गालिब—लेखक श्री दयाकृष्ण गंजूर; प्रकाशक लेखक, ८ लालबाग लखनऊ; मूल्य २॥)

गुहादित्य (ऐतिहासिक नाटक)—लेखक श्री शिवप्रसाद चारण एम० ए०; प्रकाशक महर्षि मालवीय इतिहास परिषद्, दुगड्डा; मूल्य ।≡)

गोरा बादल (ऐतिहासिक नाटक) ले० श्री शिवप्रसाद चारण एम० ए०; प्र० महर्षि मालवीय इतिहास परिषद्, दुगड्डा; मूल्य ।।।)

जीवन जौहरी (श्री जमनालाल बजाज)—लेखक श्री ऋषभदास राँका; प्रकाशक भारत जैन महामंडल, वर्धा; सन् १९५०; मूल्य १।)

जुझारसिंह बुंदेला (ऐति० ना०)—ले० श्री शिवप्रसाद चारण; प्रकाशक मालवीय इतिहास परिषद्, दुगड्डा; मूल्य ।।।)

नईधारा (मासिक पत्र वर्ष १ अंक २)—संपादक श्री रामवृक्ष बेनीपुरी; अशोक प्रेस, महेंद्रू, पटना; वार्षिक मूल्य १०)

नील अंगार—लेखक श्री ब्रह्मदेव; प्रकाशक सुजाता प्रकाशन, गया-दिल्ली; सन् १९५१; मूल्य ।।)

पन्ना धाय—ले० श्री शिवप्रसाद चारण; प्र० मालवीय इतिहास परिषद्, दुगड्डा; मूल्य १।)

बलिपथ के गीत—लेखक श्री जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद; प्रकाशक आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली; सन् १९५०; मूल्य २।।)

बालनाटक माला भाग १—लेखक श्री शिवप्रसाद चारण; प्र० मालवीय इतिहास परिषद्; दुगड्डा; मूल्य ।।)

भारतीय धर्म और दर्शन—लेखक श्री मिश्रबंधु; प्रकाशक राष्ट्रभाषा प्रकाशन, मथुरा; मूल्य १।।)

महाराणा संग्रामसिंह (ऐति० ना०, पूर्वार्ध)–ले० श्री शिवप्रसाद चारण; प्र० मालवीय इतिहास परिषद्, दुगड्डा; मू० १)

मि० ह्यूम की परंपरा–लेखक श्री किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री; प्रकाशक हिमालय एजेंसी, कनखल; सन् १९५०; मू० ।।)

म्युजिक ऐंड डान्स इन कालिदास (अंग्रेजी)—ले० श्री के० वी० रामचंद्रन; जर्नल ऑव ओरिएंटल रिसर्च, मद्रास (भाग १८ अंक २) से प्रतिमुद्रित।

रसायनिक उद्योग-धंधे—ले० श्री सोहनलाल गुप्त, एम० एस-सी०, एम० ए०; प्रकाशक शांति पुस्तक भंडार, कनखल; सन् १९५१; म० ।।)

वीर हम्मीर (ऐति० ना०)—ले० श्री शिवप्रसाद चारण; प्र० मालवीय इतिहास परिषद्, दुगड्डा; मू० ।।।)

श्री सुभासचंद्र बोस—श्री किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री; प्रकाशक राष्ट्रभाषा परिष्कार परिषद्, कनखल; सन् १९५१; मूल्य ।।।)

संघर्ष संगीत—ले० श्री शिवप्रसाद चारण; प्र० मालवीय इतिहास परिषद्, दुगड्डा; मू० ।=)

समर्पण (सामाजिक नाटक)—लेखक श्री जगन्नाथप्रसाद मिलिंद; प्रकाशक आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली; सन् १९५०; मूल्य १।।।)

सर्वोदय यात्रा—लेखक श्री विनोबा भावे; प्रकाशक भारत जैन महामंडल, वर्धा; सन् १९५१; मूल्य १।)

साहित्य में प्रगतिवाद—लेखक श्री सोहनलाल लोढ़ा एम० ए०; प्र० नवजागरण प्रकाशन गृह, जोधपुर; मूल्य १।)

सुमित्रानंदन पंत (अनेक लेखकों के आलोचनात्मक लेख)—संपादिका श्री शची रानी गुर्टू, एम० ए०; प्रकाशक आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली; सन् १९५१; मूल्य ६)

सिंहनाद (कविताएँ)—लेखक श्री वल्लभदास बिन्नानी; प्रकाशक कल्याणदास ऐंड ब्रदर्स, बनारस १; संवत् २००७; मूल्य १।)

स्त्री-पुरुष मर्यादा—लेखक श्री किशोरलाल मशरूवाला; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद; सन् १९५१; मूल्य १।।।)

स्वर्गभूमि की यात्रा (ऐति० नाटक)—लेखक श्री रांगेय राघव; प्रकाशक राजेंद्र प्रकाशन मंदिर, लोहामंडी, आगरा; सन् १९५१; मूल्य २)

हिंदी कविता में युगांतर—लेखक श्री सुधींद्र एम० ए०; प्रकाशक आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली; सन् १९५०; मूल्य ८)

हिरोल (ऐति० ना०)—ले० श्री शिवप्रसाद चारण; प्र० मालवीय इतिहास परिषद्, दुगड्डा; मू० ।।।)

हुतात्मा परिचय—ले० श्री शिवप्रसाद चारण; प्रकाशक मालवीय इतिहास परिषद्, दुगड्डा; मू० ।।)

विविध

हिंदी का रूप

ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन में कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज ने हिंदी और उर्दू की पृथक्ता पर तो अपनी पक्की मुहर लगा ही दी थी, स्वतंत्र और स्वाभाविक रूप से पनपती हुई जनता की भाषा खड़ी-बोली हिंदी के भीतर भी सं० १९२३-२४ में ही यह विवाद उठ खड़ा हुआ था कि इसका रूप कैसा हो—संस्कृत मिश्रित या अरबी-फारसी-मिश्रित। और मनोरंजक बात यह है कि इस विवाद में दोनों पक्षों के नेता दो अंग्रेज थे—बीम्स और ग्राउज। बीम्स अरबी-फारसी शब्दों के पक्षपाती थे और ग्राउज संस्कृत के। वह समय भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र और राजा शिवप्रसाद का था। तब से आज तक यह प्रश्न बराबर उलझा ही रहा और अब भी, जब कि हिंदी राष्ट्रभाषा और राजभाषा स्वीकृत हो चुकी है, यह पूरी तरह सुलझ नहीं सका है। जहाँ तक लेखकों और साहित्यिकों तथा राष्ट्र के हित का संबंध है, यह कोई बड़ी गंभीर समस्या नहीं होनी चाहिए थी, परंतु आज परिस्थितिवश विदेशी भाषाओं का पक्ष दुर्बल पड़ जाने पर भी संविधान की शब्दावली को लेकर हिंदी के किसी अकल्पित रूप की सृष्टि की घोषणा की जा रही है। यह भूल जाया जाता है कि जनता की भाषा का निर्माण जनता के मुख और साहित्यस्रष्टा की लेखनी द्वारा हुआ करता है, कुछ लोगों के निश्चय द्वारा नहीं। कुछ लोगों की इच्छा से बनाई हुई भाषा शासकों, पंडितों या कुछ लोगों की भाषा बन सकती है, परंतु राष्ट्रभाषा या सबकी भाषा नहीं।

अरबी-फारसी के पक्षपाती चाहते थे (अब भी चाहते हैं) कि हिंदी में संस्कृत की गंध भी न रहे, और संस्कृत के पक्षपाती इसमें विदेशी शब्दों को कौन कहे, तद्भव (संस्कृतमूलक) शब्दों को भी ग्रहण करना उचित नहीं समझते। इसी लिये संभवतः एक तीसरा पक्ष हिंदी के नूतन रूप और नूतन कोष-व्याकरण की सृष्टि की चिंता में है। मानो इन पक्षों से पृथक् हिंदी की कोई गति

ही नहीं है। परंतु यह भ्रम है। हिंदी का इतिहास एक विकासशील जनभाषा के उन्मुक्त एवं सर्वग्राही प्रवाह का इतिहास है। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी में संस्कृत के शब्दों का भी स्थान है और अन्य देशी तथा विदेशी भाषाओं के शब्दों का भी। परंतु इनमें से वह किसी के पल्ले में बँधकर बड़ी नहीं हुई है। अपनी स्वतंत्र शक्ति से अपनी प्रकृति के अनुरूप ढालकर ही इसने आवश्यकतानुसार अन्य भाषाओं के शब्दों को ग्रहण किया और उन्हें पूर्ण रूप से पचा लिया है। हिंदी में कठिन और सरल दोनों प्रकार की शैलियाँ हैं, जैसी सभी उन्नतिशील भाषाओं में होती हैं। [हिंदी की स्वतंत्र प्रकृति और शक्ति के संबंध में इसी अंक में 'विमर्श' (पृ० ५८) में प्रकाशित श्री राय कृष्णदास जी का लेख भी द्रष्टव्य है।]

काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने उपर्युक्त बीम्स-ग्राउज विवाद के लगभग तीस वर्ष बाद हिंदी के ५८ विद्वानों की सम्मति से "हिंदी की लेख तथा लिपि प्रणाली" संबंधी प्रश्नों की मीमांसा की थी और अपना निश्चय प्रकाशित किया था। कुल आठ प्रश्नों पर विचार किया गया था, परंतु भाषा के रूप संबंधी प्रथम प्रश्न पर उसका स्पष्ट और उदार निश्चय आज भी हिंदी को एक ही पक्ष से देखनेवाले हितैषियों, लेखकों और विद्वानों के लिये उपयोगी होगा। अतः उसका मुख्य अंश यहाँ उद्धृत है—

१—पहिला प्रश्न यह है कि "हिंदी किस प्रणाली की लिखी जानी चाहिए अर्थात् संस्कृतमिश्रित, या ठेठ हिंदी या फारसीमिश्रित और यदि भिन्न भिन्न प्रकार की हिंदी होनी उचित है तो किन किन विषयों के लिये कैसी भाषा उपयुक्त होगी ?"

किसी भाषा के लिखने की प्रणाली एक सी नहीं हो सकती। विषयभेद तथा रुचिभेद से भाषा का भेद है। पृथ्वी पर जितनी भाषाएँ हैं सभी में कठिन और सरल लेख लिखने की रीति चली आती है। कहाँ कैसी भाषा लिखनी चाहिए यह लेखक और विषय पर निर्भर है। इसके लिये कोई नियम नहीं बन सकता। यदि लेखक की यह इच्छा है कि भाषा कठिन हो तो उसे निस्संदेह संस्कृत के शब्दों का प्रयोग करना होगा और यदि उसकी यह इच्छा है कि भाषा सबके समझने योग्य हो तो उसे सीधे हिंदी के शब्दों को काम में लाना होगा। परंतु यह बात केवल लेखक ही पर निर्भर नहीं है, विषय पर भी बहुत कुछ निर्भर है। यदि कोई महाशय दर्शन शास्त्र पर कोई लेख वा ग्रंथ लिख रहे हैं तो निश्चय उनकी भाषा में संस्कृत के शब्द भरे रहेंगे और भाषा कठिन होगी। वैसे ही यदि कोई महाशय रेल वा अन्य ऐसी बातों का वर्णन करें जिनका युरोपीय लोगों के कारण इस देश में प्रचार हुआ हो तो उन्हें अवश्य-

मेव युरोपीय भाषाओं के शब्दों से कुछ न कुछ काम लेना पड़ेगा और यदि उनको विदेशी शब्दों से चिढ़ है तो उनकी भाषा ऐसी होगी कि जिसे समझने के लिये पाठकों को उन्हीं से पूछना पड़ेगा।

× × ×

...इसी प्रकार से फारसी और अरबी के बहुत से शब्द हिंदी में मिल गए हैं जिनमें से कुछ का तो रूप बदल गया है और कुछ ज्यों के त्यों वर्तमान हैं। इसलिये जो लोग यह कहते हैं कि हिंदी में अरबी फारसी के किसी शब्द का प्रयोग न हो उन्हें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि क्यों अरबी फारसी ही पर यह दंड लगाया जाय, क्यों न यह नियम कर दिया जाय कि जितने शब्द संस्कृत के अतिरिक्त किसी दूसरी भाषा से आ गए हैं वे सब निकाल दिए जायँ? हम लोगों का यह मत है कि जो शब्द अरबी फारसी वा अन्य भाषाओं के हिंदीवत् हो गए हैं तथा जिनका पूर्ण प्रचार है वे हिंदी ही के शब्द माने जायँ और उनका प्रयोग दूषित न समझा जाय।

हिंदीलेखकों और हिंदीहितैषियों में से एक दल ऐसा है जो इस मत का पोषक है कि हिंदी में हिंदी के शब्द रहें संस्कृत के शब्दों का प्रयोग न हो। यह सम्मति युक्तिसंगत नहीं जान पड़ती।...यह उद्योग कि हिंदी से वे सब संस्कृत के शब्द निकाल दिए जायँ जो हिंदीवत् नहीं हो गए हैं सर्वथा निष्फल और असंभव है। संस्कृत के शब्दों से अवश्यमेव सहायता ली जायगी पर इस बात पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ शुद्ध हिंदी से काम चल जाय और भाषा में किसी प्रकार का दोष न आता हो वहाँ संस्कृत के शब्दों की वृथा भरती न की जाय। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि संस्कृत के शब्दों का ही अधिक प्रयोग हो, विदेशी भाषा के सरल शब्द के स्थान पर भी यदि संस्कृत के एक कठिन शब्द से काम चल सके तो संस्कृत शब्द ही काम में लाया जाय, विदेशी भाषा का शब्द निकाल दिया जाय। इन महाशयों के मत से भाषा ऐसी कठिन हो जायगी कि उसका समझना सब लोगों का काम न होगा। हिंदी भाषा में विशेष गुण यह है कि वह सरलता और सुगमता से समझ में आती है...। संस्कृत शब्दों के अधिक प्रचार से यह गुण जाता रहेगा। हाँ, यह बात अवश्य है कि भाषा सब श्रेणी के लोगों के पढ़ने योग्य हो—पर क्या संस्कृत के कठिन शब्दों के बिना यह नहीं हो सकता?

विदेशी भाषा के शब्दों के विषय में इतना कहना और रह गया है कि जिन शब्दों का भाषा में प्रचार हो गया है उनके छोड़ने वा निकालने का उद्योग अब निष्फल, निष्प्रयोजक और असंभव है। हाँ, भविष्यत में विदेशी भाषा के नवीन शब्दों को प्रचलित करते समय

इस बात पर पूर्णतया ध्यान रखा जाय कि उन विदेशी शब्दों का हिंदी में प्रयोग न हो जिनके लिये हिंदी या संस्कृत में ठीक वही अर्थवाचक शब्द हैं। सब पक्षों पर ध्यान देकर हम लोगों का सिद्धांत यह है कि हिंदी लिखने में जहाँ तक हो सके फारसी अरबी तथा और विदेशी भाषाओं के ऐसे शब्दों का प्रयोग न किया जाय जिनके स्थान पर हिंदी के अथवा संस्कृत के सुगम और प्रचलित शब्द उपस्थित हैं पर विदेशी भाषाओं के ऐसे शब्द जो पूर्णतया प्रचलित हो गए हैं और जिनके स्थान पर हिंदी के शब्द नहीं हैं अथवा जिनके स्थान पर संस्कृत के शब्द रखने से कष्टार्थ दूषण की संभावना है, ज्यों के त्यों लिखे जाने चाहिएँ। सारांश यह कि सबसे पहिला स्थान शुद्ध हिंदी के शब्दों को, उसके पीछे संस्कृत के सुगम और प्रचलित शब्दों को, उसके पीछे फारसी आदि विदेशी भाषाओं के साधारण और प्रचलित शब्दों को और सबसे पीछे संस्कृत के अप्रचलित शब्दों को स्थान दिया जाय। फारसी आदि विदेशी भाषाओं के कठिन शब्दों का प्रयोग कदापि न हो।

भिन्न भिन्न विषयों तथा अवसरों के निमित्त भिन्न-भिन्न प्रणाली आवश्यक है। जो ग्रंथ वा लेख इस प्रयोजन से लिखे जाएँ कि सर्वसाधारण उन्हें समझ सकें उनकी भाषा ऐसी सरल होनी चाहिए कि सर्व-बोध-गम्य हो। जहाँ तक हो सीधे सरल शब्दों का प्रयोग हो, फारसी और अरबी के अप्रचलित शब्दों का प्रचार न हो। उच्च श्रेणी के पाठकों के लिये जो ग्रंथ लिखे जाएँ और जिनके द्वारा लेखक साहित्य की उच्चतम शब्द छटा दिखलाना चाहता हो उसमें निस्संदेह संस्कृत के शब्द आवें पर फिर भी जहाँ तक संभव हो कठिनतर शब्दों का प्रयोग न हो। भाषा में गंभीरता संस्कृत के कठोर शब्दों के प्रयोग से नहीं आ सकती। सुंदर-शब्द-योजना और मुहाविरा ही भाषा का मुख्य भूषण है। जैसे यदि किसी प्राकृतिक दृश्य का वर्णन किया गया तो उसमें इस प्रकार की भाषा सर्वथा अनुचित है—

"अहा! यह कैसी अपूर्व और विचित्र वर्षा ऋतु साम्प्रत प्राप्त हुई है और चतुर्दिक कुज्झटिकापात से नेत्र की गति स्तम्भित हो गई है, प्रतिक्षण अभ्र में चंचला पुंश्चली स्त्री की भांति नर्तन करती है और वैसे ही बकावली उड्डीयमाना होकर इतस्ततः भ्रमण कर रही है। मयूरादि अनेक पक्षीगण प्रफुल्लित चित्त से रव कर रहे हैं और वैसे ही दर्दुर गण भी पंकाभिषेक करके कुकवियों की भाँति कर्णवेधक टक्काझङ्कार सा भयानक शब्द करते हैं।"

इसमें संस्कृत के शब्द कूट कूट कर भर दिए गए हैं। चाहे कैसा ही ग्रंथ क्यों न लिखा जाय उसमें इस प्रकार की भाषा न लिखनी चाहिए। इससे तो यदि संस्कृत ही लिखी जाय तो श्रेय है। भाषा का दूसरा उदाहरण देखिए—

"सब विदेशी लोग घर फिर आए और व्यापारियों ने नौका लादना छोड़ दिया, पुल टूट गए, बाँध खुल गए, पंक से पृथ्वी भर गई, पहाड़ी नदियों ने अपने बल दिखाए, बहुत वृक्ष कूल समेत तोड़ गिराए, सर्प बिलों से बाहर निकले, महानदियों ने मर्यादा भंग कर दी और स्वतंत्र स्त्रियों की भाँति उमड़ चलीं।"

इसमें भी संस्कृत के शब्द हैं पर ये इतने सामान्य और सरल हैं कि उनका प्रयोग अग्राह्य नहीं है। ऐसी ही भाषा हम लोगों की आदर्श होनी चाहिए। भाषा के दो अंग हैं, एक साहित्य और दूसरा व्यवहार। साहित्य की भाषा सर्वदा उच्च होनी चाहिए, इसका ढंग सर्वथा ग्रंथकर्ता के आधीन है, वह अपनी रुचि तथा विषय के अनुसार उसे क्लिष्ट और सरल लिख सकता है। संस्कृत या विदेशी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग भी उसी की इच्छा पर निर्भर है। इसमें बाधा डालकर ग्रंथकर्ता की बुद्धि के वेग को रोककर उसे सीमाबद्ध कर देने का अधिकार किसी को नहीं है परंतु व्यवहार संबंधीय लेखों में अवश्य वही भाषा रहनी चाहिए जो सबकी समझ में आ सके, उसमें किसी भाषा के भी प्रचलित शब्द प्रयोग किए जा सकते हैं। अदालत के सब काम, नित्य की व्यवहार संबंधीय लिखापढ़ी सर्वसाधारण में वितरण करने योग्य लेख या पुस्तकें, समाचारपत्रादि जितने विषय कि सर्वसाधारण के साथ संबंध रखते हैं उनमें ऐसी सरल बोलचाल की भाषा आनी चाहिए जो सबकी समझ में आ जाय, उसके लिये उच्च हिंदी होनी आवश्यक नहीं है, वह ऐसी होनी चाहिए कि जिसे ऐसा मनुष्य भी कि जो केवल नागरी अक्षर पढ़ सकता हो समझ ले। पाठशालाओं में पढ़ाने का क्रम ऐसा होना चाहिए कि जिसमें सब प्रकार की भाषा समझने की योग्यता बालक को हो जाय। प्रारंभिक पुस्तकें अत्यंत ही सरल होनी चाहिएँ, उनमें उच्च हिंदी का विचार आवश्यक नहीं, फिर क्रम क्रम से भाषा कठिन होनी चाहिए जिसमें कठिन से कठिन भाषा-ग्रंथों के समझने की योग्यता हो जाय। व्यावहारिक लेखों की भाषा पाठशालाओं में सिखलाना व्यर्थ है क्योंकि उसे तो केवल अक्षर पहिचान लेने ही से इस देश के निवासी समझ लेंगे।

शास्त्रीय ग्रंथों में पारिभाषिक शब्दों को छोड़कर भाषा अत्यंत सरल और सीधी हो क्योंकि विषय की कठिनता के साथ यदि भाषा भी कठिन हुई तो उसका अर्थ समझ ही में न आवेगा और लेखक का उद्योग निष्फल होगा।

प्रयाग विश्वविद्यालय में हिंदी

प्रस्तुत अंक में 'चयन' के अंतर्गत हम अंग्रेजी शिक्षितों की हिंदी के प्रति उपेक्षा के विषय में प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष डा० धीरेंद्र

वर्मा का वक्तव्य उद्धृत कर चुके हैं। हाल ही में समाचारपत्रों से यह जानकर कि प्रयाग विश्वविद्यालय ने इसी वर्ष के सत्रारंभ से बी० ए०, बी० एस-सी० और बी० काम० के प्रथम वर्ष के छात्रों को नागरी हिंदी में शिक्षा देने का निश्चय किया है, प्रत्येक हिंदीप्रेमी ही नहीं प्रत्येक भारतीय शिक्षाप्रेमी को आंतरिक प्रसन्नता होनी चाहिए। कार्य करने की इच्छा के अभाव में अच्छे से अच्छे निश्चय करके भी उन्हें कार्यान्वित न करने के लिये अनेक दुस्तर कठिनाइयों की कल्पित बाधा उपस्थित की जा सकती है, परंतु सत्संकल्प को पूरा करने का दृढ़ निश्चय सभी बाधाओं को दूर करने का उपाय भी निकाल सकता है। प्रयाग विश्वविद्यालय का निश्चय इसका उदाहरण है जिसके लिये उक्त विश्वविद्यालय बधाई का पात्र है।

उपर्युक्त निश्चय के अनुसार सन १९५३ तक आवश्यक पाठ्य पुस्तकें तैयार करा ली जायँगी और तब तक आवश्यकतानुसार अंग्रेजी पुस्तकों से भी सहायता ली जायगी। प्रश्नपत्र भी हिंदी में बनेंगे, जिनमें हिंदी में अनूदित पारिभाषिक शब्दों के आगे उनके अंग्रेजी प्रतिशब्द भी दिए जायँगे। सन् १९५५ तक प्रश्नपत्र अंग्रेजी हिंदी दोनों में बनेंगे, उसके बाद केवल हिंदी में। अहिंदीभाषी छात्रों और अध्यापकों को हिंदी विभाग की सहायता से विशेष रूप से हिंदी पढ़ाने का प्रबंध किया जायगा। यह व्यवस्था उपयुक्त और सुंदर है। परंतु जो प्रत्येक विभाग के अध्यक्ष को अपने विभाग में शिक्षा का माध्यम हिंदी या अंग्रेजी रखने की छूट दी गई है, उसकी अवधि भी सन् १९५५ तक ही निश्चित कर देना उचित होगा।

आशा है अन्य विश्वविद्यालय भी शीघ्र सत्साहस के साथ इस दिशा में अग्रसर होंगे।

पटियाला राज्यसंघ में हिंदी

हिंदी के भारतीय संघ की राजभाषा घोषित हो जाने से कम से कम संघीय विषयों में उन राज्यों के लिये भी हिंदी का व्यवहार अनिवार्य है जिनकी प्रादेशिक भाषा हिंदी नहीं है। अतः यदि वे राज्य अपनी प्रादेशिक भाषा के साथ साथ हिंदी को भी राज्य की एक सरकारी भाषा तथा उच्च शिक्षा के माध्यम रूप में स्वीकृत कर लें तो यह उनके हित की ही बात होगी। हिंदी के व्यवहार से प्रादेशिक भाषा

को कोई क्षति पहुँचने की आशंका तो है ही नहीं, परस्पर आदान-प्रदान के द्वारा वह और अधिक संपन्न ही होगी। वे राज्य देश के हृदय से निकटतर संबंध रखने में समर्थ होंगे और संघ शासन में अपना उचित अधिकार प्राप्त करने में भी उन्हें सुगमता होगी। इस बात पर सभी अहिंदीभाषी राज्यों को गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। और जिन राज्यों में एकाधिक प्रादेशिक भाषाएँ प्रचलित हों तथा हिंदी भी उनमें एक हो, उनपर तो राज्य की मुख्य भाषा के साथ हिंदी को सरकारी भाषा स्वीकार करने का नैतिक दायित्व भी है।

पटियाला राज्यसंघ की प्रधान भाषा पंजाबी है; परंतु वहाँ सभी लोग बराबर हिंदी बोलते और समझते हैं। वहाँ पंजाबी के साथ साथ हिंदी को भी राज्य की एक भाषा स्वीकार कर लेना सर्वथा उचित होगा। परंतु खेद है कि वहाँ के सिक्ख इसका विरोध कर रहे हैं जब कि स्वयं शासन इसके पक्ष में है। विरोध करनेवाले सिक्ख भाई भूल जाते हैं कि उनके पूज्य ग्रंथ साहब में अनेक संतों की हिंदी रचनाएँ संगृहीत हैं और स्वयं गुरु अर्जुनसिंह ने उनका संकलन करवाया था। भारत-गौरव गुरु गोविंदसिंह तो हिंदी कवियों को आदरपूर्वक आश्रय देते थे और स्वयं हिंदी में रचनाएँ भी करते थे। ये गुरु भली भाँति जानते थे कि देश की व्यापक और सामान्य भाषा हिंदी ही है, इसीलिये वे इसका आदर करते थे। आज सिक्ख लोग किस कारण इतनी संकीर्णता दिखा रहे हैं? उन्हें तो अपने पूज्य गुरुओं का अनुसरण करते हुए शासन द्वारा हिंदी को स्वीकृत कराने के लिये स्वयं आगे बढ़ना उचित है, न कि उसका विरोध करना, जब कि शासक उसके पक्ष में हों।

—संपादक

सभा की प्रगति

[वैशाख—आषाढ़ संवत् २००८]

सभा का अट्ठावनवाँ वार्षिक अधिवेशन रविवार १६ वैशाख को हुआ जिसमें निम्नलिखित कार्याधिकारी और प्रबंध समिति के सदस्य चुने गए—

कार्याधिकारी

सभापति आचार्य नरेंद्र देव। उपसभापति (१) श्री रामचंद्र वर्मा, (२) श्री सहदेव सिंह। प्रधान मंत्री—श्री रत्नशंकर प्रसाद। साहित्य मंत्री—श्री पद्मनारायण आचार्य। अर्थ मंत्री—श्री ब्रजरत्न दास। प्रकाशन मंत्री—श्री मुरारी लाल केडिया। प्रचार मंत्री—श्री काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर'। संपत्ति-निरीक्षक—श्री शुकदेव सिंह। पुस्तकालय निरीक्षक—श्री जीवनदास। आय-व्यय निरीक्षक—श्री एस० के० मिश्र ऐंड कं०।

प्रबंध समिति के सदस्य

संवत् २००८ से २०१० तक

काशी—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; श्री उदयशंकर शास्त्री; श्री ठाकुरदास ऐडवोकेट; श्री रामनारायण मिश्र; श्री राजेंद्रनारायण शर्मा। बंबई—श्री घनश्यामदास पोद्दार। मध्यप्रदेश—श्री नंददुलारे वाजपेयी। उत्तर प्रदेश—डा० धीरेंद्र वर्मा। राज्य—महाराजकुमार डा० रघुबीर सिंह; श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी; श्री शांतिप्रिय आत्माराम। सिंहल—श्री ना० नागप्पा। मद्रास—श्री हनुमत् शास्त्री।

संवत् २००८ और २००९ के लिये

काशी—श्री दिलीपनारायण सिंह; श्री राय कृष्णदास; श्री श्रीनिवास; श्री शिवकुमार सिंह; श्री गिरिजाशंकर गौड़। उत्तर प्रदेश—श्री मैथिली शरण गुप्त; श्री भगवतीशरण सिंह। राज्य—श्री झाबरमल्ल शर्मा; श्री मोतीलाल मेनारिया। सिंध—रिक्त। दिल्ली—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल। आसाम—श्री श्रीप्रकाश। मैसूर—श्री जी० सच्चिदानंद। रूस—श्री ए० बारान्निकोव। विदेश-रिक्त।

संवत् २००८ के लिये

काशी—श्री बच्चन सिंह; श्री करुणापति त्रिपाठी; श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र; श्री कृष्णानंद; श्री देवीनारायण एडवोकेट। बंगाल—डा० सुनीतिकुमार चटर्जी। उत्कल—श्री गोविंदचंद्र मिश्र। उत्तर प्रदेश—श्री गोपालचंद्र सिंह; श्री अशोक जी। पंजाब—श्री जगन्नाथ पुच्छरत। राज्य—श्री विद्याधर शास्त्री। बिहार—श्री शिवपूजन सहाय। ब्रह्मदेश—डा० ओमप्रकाश।

नियम-परिवर्द्धन

उक्त वार्षिक अधिवेशन में सभा की नियमावली में निम्नलिखित परिवर्द्धन स्वीकृत हुआ—

(१) प्रत्येक स्थायी कर्मचारी को निम्नलिखित छुट्टी सभा से मिलेगी—

क—आकस्मिक छुट्टी वर्ष में १४ दिनों की सवेतन मिलेगी।

ख—किसी रजिस्टर्ड वैद्य, डाक्टर अथवा हकीम के प्रमाणपत्र पर बीमारी की छुट्टी वर्ष में एक मास तक आधे वेतन पर मिलेगी। यह छुट्टी प्रबंध समिति की स्वीकृति से मिलेगी। यह एकत्र होती रहेगी, किंतु एक बार तीन मास से अधिक नहीं मिलेगी। तीन वर्ष की सेवा के उपरांत यह छुट्टी प्राप्य होगी।

ग—रियायती (साधारण) छुट्टी ग्यारह महीने की सेवा के उपरांत एक महीने की सवेतन मिलेगी। प्रबंध समिति को इसकी स्वीकृति का अधिकार होगा। यह छुट्टी एकत्र होती रहेगी, किंतु एक बार तीन मास से अधिक लेने का अधिकार न होगा।

घ—अस्थायी कर्मचारियों को महीने में दो दिन की सवेतन छुट्टी दी जायगी।

(२) कोई भी छुट्टी देने के लिये सभा बाध्य नहीं होगी।

(३) उपर्युक्त छुट्टियों के अतिरिक्त और कोई छुट्टी न दी जायगी।

(४) इसके अतिरिक्त प्रबंध समिति को अधिकार होगा कि किसी व्यक्ति को किसी प्रकार की छुट्टी सवेतन या अवेतन दे।

(५) इसके पहले के सब नियम रद्द हो जाते हैं।

आर्यभाषा पुस्तकालय

पुस्तकालय माघ सं० २००७ से आषाढ़ २००८ तक १४१॥ दिन और वाचनालय १६५॥ दिन खुला रहा। इस अवधि में कुल ५६ नवीन सहायक बने। एक

साधारण सहायक आजीवन सहायक बने तथा ८ सदस्यता से पृथक् हो गए। ११ व्यक्तियों ने पी-एच० डी० के लिये पुस्तकालय का उपयोग किया। दैनिक पाठकों की संख्या प्रतिदिन १२५ के लगभग रही। १९० पुस्तकें भेंट-स्वरूप, ४४ समीक्षार्थ तथा ७ परिवर्तन में प्राप्त हुईं। इनके अतिरिक्त १६ पुस्तकें क्रय की गईं। दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, द्वैमासिक, और त्रैमासिक पत्र-पत्रिकाएँ देश-विदेश से आती रहीं जिनकी संख्या २१९ तक रही।

हस्तलिखित ग्रंथों की खोज

इस अवधि में संवत् २००४, २००५ और २००६ वि० का खोज-संबंधी त्रवार्षिक विवरण प्रस्तुत करने का कार्य पूर्ववत् चलता रहा। इसके अतिरिक्त संवत् २००१ से २००३ तक का संक्षिप्त त्रैवार्षिक विवरण और आरंभ से लेकर अब तक (संवत् १९५७–२००८ वि०) की खोज का परिचयात्मक विवरण भी प्रस्तुत किया गया। ये विवरण यथावसर नागरीप्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित होंगे।

प्रकाशन

निम्नलिखित पुस्तकें इस अवधि में प्रकाशित हुईं—

१–भारतीय शिष्टाचार
२–सूरसागर खंड २ (सस्ता संस्करण)
३–संक्षिप्त हिंदी व्याकरण
४–हिंदी पद्य पारिजात भाग १
५–जायसी ग्रंथावली
६–संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर
७–कबीर ग्रंथावली
८–हिंदी साहित्य का इतिहास
९–रसखान और घनानंद

निम्नोक्त पुस्तकें छप रही हैं और बहुत शीघ्र तैयार हो जायँगी—

१–संस्कृत साहित्य का इतिहास
२–धातु-विज्ञान

नागरी मुद्रणालय के लिये एक सुयोग्य सहायक व्यवस्थापक की नियुक्ति कर ली गई है तथा डबल डिमाई आकार का 'ली' नामक मुद्रणयंत्र क्रय करने की भी व्यवस्था कर ली गई है जो, आशा है, शीघ्र मिल जायगी।

सत्यज्ञान-निकेतन

आरंभ से लेकर संवत् २००७ तक का निकेतन का संक्षिप्त कार्य-विवरण इस अवधि में पृथक् पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। निकेतन में पुस्तकालय का नवीन भवन बनवाने के लिये अपने स्वर्गीय पूज्य पिता राय साहब पं० चंद्रिकाप्रसाद जी तिवारी की पुण्य स्मृति में श्रीमती रामदुलारी दूबे जी द्वारा प्रदत्त जो १०००० मिले हैं उनसे नवीन भवन बनवाया जा रहा है। इस भवन का शिलान्यास १५ श्रावण २००८ को श्री महामंडलेश्वर महंत मोहनानंद जी के हाथों संपन्न हुआ।* कार्य शीघ्र समाप्त हो जाने की आशा है। सरस्वती-व्याख्यान-माला के अंतर्गत विद्वानों के भाषण, साहित्य-गोष्ठी, जयंतियाँ बराबर होती रहीं।

सहायक मंत्री
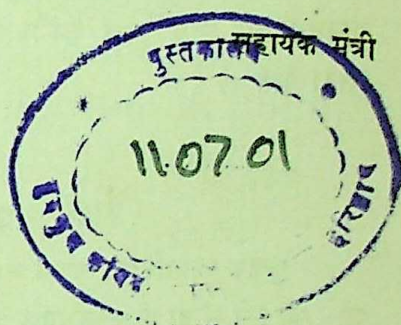
*श्री सेठ बनवारीलाल जी ठीकेदार तथा श्री बालमुकुंद जी इंजिनियर निर्माणकार्य की देखरेख निस्स्वार्थ भाव से कर रहे हैं।

रामचरितमानस

(संपादक—मानसमराल स्वर्गीय श्री शंभुनारायण चौबे)

गोस्वामी तुलसीदास जी के 'मानस' के अब तक शताधिक विभिन्न संस्करण निकल चुके हैं, किंतु विद्वन्मंडली और भक्त-संप्रदाय की मानस के शुद्धतम पाठ की आकांक्षा-पूर्ति उनमें से किसी से भी पूर्ण रूप से अब तक नहीं हो पाई है। इसी कमी को पूरा करने के उद्देश्य से सभा ने स्वर्गीय चौबे जी से, जिन्होंने मानस के ही निमित्त अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया, आग्रह करके मानस का यह संस्करण प्रस्तुत कराया है। चौबे जी ने इसके संपादन और पाठनिर्धारण में भागवतदास, वि० सं० १७२१, सं० १७६२, छक्कनलाल, रघुनाथदास, बंदन पाठक, काशिराज, कोदोराम, श्रावणकुंज, राजापुर आदि की प्रतियों एवं मानस के लब्धप्रतिष्ठ ज्ञाताओं और साधकों से सहायता लेकर अत्यंत सावधानता से गोस्वामी जी की मौलिक वाणी निर्दिष्ट की है। मानस का यह संस्करण अब तक प्रकाशित अन्य समस्त संस्करणों से शुद्ध और श्रेष्ठ है, इसमें लेशमात्र संशय नहीं। मानसप्रेमियों एवं मानस-संबंधी शोध कार्य करनेवालों के लिये यह ग्रंथ परमोपयोगी है। इसका मूल्य ७) है।

बालोपदेश

(लेखक—श्रीयुत पं० रामनारायण मिश्र)

पुस्तक का परिचय उसके नाम से व्यक्त है। बालकों को उच्च आदर्श पर ले जाने की इसे सीढ़ी ही समझिए। इसमें बालक-बालिकाओं के जानने योग्य सभी बातें संक्षेप में और सरल भाषा में दी गई हैं। मूल्य ।।)

जीवों की कहानी

(लेखक—श्री कुँवर सुरेशसिंह)

इस पुस्तक में स्तन-पायी जीवों, चिड़ियों, सरीसृपों, कीड़े-मकोड़ों और पेड़-पौधों का सचित्र और अत्यंत रोचक वर्णन है। प्राणिजगत के इन समस्त जीव-जंतुओं और पशु-पक्षियों का आकार, रंग-रूप, उनकी प्रकृति, उनके क्रिया-कलाप, उनकी उपयोगिता तथा अन्य विशेषताएँ इस ढंग से दे दी गई हैं कि थोड़ी उम्र के विद्यार्थी उनके बारे में आवश्यक ज्ञान सहज ही प्राप्त कर सकते हैं। डबल फुलिस्केप अठ-पेजी आकार के लगभग १०० पृष्ठ, सजिल्द, तिरंगा कवर, मूल्य ४) मात्र।

भारतेंदु ग्रंथावली (पहला खंड)

संपादक श्री ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल-एल० बी०

आधुनिक हिंदी के जन्मदाता गोलोकवासी भारतेंदु हरिश्चंद्र के समस्त नाटकों का यह संग्रह संवत् २००७ में मनाई गई उनकी जन्मशती के अवसर पर प्रकाशित हुआ है। इस संग्रह में कुल सत्रह नाटक दिए गए हैं जिनमें दस मौलिक हैं तथा पाँच संस्कृत से और दो बंगला से अनूदित है। इसमें संस्कृत के नाटकों का पाठ यथासंभव भारतेंदु जी के समसामयिक संस्करणों के आधार पर ही निश्चित किया गया है। जहाँ नाटकों के प्रथम संस्करण नहीं मिले, वहाँ भारतेंदुजी की पत्रिकाओं हरिश्चंद्र मैगजीन, हरिश्चंद्र चंद्रिका, बालाबोधिनी, कविवचनसुधा, आदि की सहायता से मल पाठ का निर्धारण और नाटकों की रचना का क्रम निर्धारित किया गया है। इस प्रकार यह संस्करण अध्येताओं तथा अनुशीलनकर्ताओं के लिये विशेष उपयोगी हो गया है। परिशिष्ट में 'नाटक' नामक एक निबंध तथा पात्रों और नाटक में प्रयुक्त गीतों की प्रतीकानुक्रमणिका भी दे दी गई है। डबल डिमाई १६ पेजी आकार के लगभग ८०० पृष्ठ। सुंदर मजबूत पक्की जिल्द। मूल्य केवल ८ रु०।

लंकादहन

रचयिता स्व० चौधरी लक्ष्मीनारायणसिंह "ईश"

वाल्मीकि रामायण की कथा पर आधृत इस खंडकाव्य के कवि ने महावीर हनुमान के श्री रामचंद्र जी से मुद्रिका लेकर जानकी जी को देने से लेकर उनकी चूड़ामणि लाकर श्री रामचंद्र जी को अर्पित करने तक का प्रसंग ऐसी टकसाली ब्रजभाषा में किया है जिसमें काशी में प्रयुक्त अवधी का भी पुट है। स्व० "ईश" जी ब्रजभाषा की कवि-शृंखला की अंतिम कड़ी थे। उनकी वाग्धारा में जिन्होंने अवगाहन किया है वे भली भाँति जानते हैं कि उनकी रचनाएँ प्रसंगानुकूल कितनी मधुर और ओजपूर्ण होती थीं। वे विज्ञापन और प्रचार से दूर, केवल स्वांतःसुखाय रचना करते थे। फलतः स्फुट कविताएँ यदा-कदा ही पत्रों में प्रकाशित हुआ करती थीं। सभा ने उनसे विशेष आग्रह करके यह खंडकाव्य प्रकाशनार्थ लिया था। डबल क्राउन १६ पेजी आकार के १६० पृष्ठ; मूल्य १।।) रु० मात्र।

संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर

संपादक श्री रामचंद्र वर्मा

सभा द्वारा प्रकाशित बृहद् हिंदी शब्दसागर से हिंदी जगत् पूर्ण परिचित है। उसी का संक्षिप्त संस्करण संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर के नाम से छपा है। इसके कई संस्करण हो चुके हैं। इधर हिंदी साहित्य ने तीव्र गति से अपनी उन्नति की है। फलस्वरूप उसके शब्दभंडार में अनेक नवीन शब्दों की वृद्धि हुई है। जब से देश स्वतंत्र हुआ है और हिंदी राजभाषा घोषित हुई है तब से राजकाज में प्रयुक्त होनेवाले अनेक नवीन हिंदी शब्दों का भी निर्माण हुआ है। ऐसे सभी शब्दों का समावेश इस संस्करण में कर लिया गया है, प्राचीन और नवीन काव्यों में व्यवहृत शब्दों का संकलन तो है ही। इस प्रकार सभी दृष्टियों से इसको उपयोगी बना दिया गया है। प्रत्येक विद्यार्थी, साहित्यसेवी, पत्रकार, आलोचक आदि के लिये यह उपादेय है। डबलक्राउन अठपेजी आकार के तीन कालम वाले लगभग १३५० पृष्ठों में यह कोश पूर्ण हुआ है जिसमें लगभग पचास हजार शब्द हैं। छपाई, कागज, जिल्दबंदी आदि सभी सुंदर हैं। मूल्य १५)

धातु विज्ञान

लेखक डा० दयास्वरूप (काशी हिंदू विश्वविद्यालय के खनन और धातुशोधक विभाग के अध्यक्ष)

यह पुस्तक मुख्यतः धातु विज्ञान के आरंभिक विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर प्रस्तुत की गई है। लोहा और इस्पात, ताँबा, एल्यूमोनियम, सीसा, जस्ता, राँगा, गिलट, सोना, चाँदी मैंगनीज, कोमियम और टंकस्टन का वर्णन है। इनके खनिज कहाँ-कहाँ और किन रासायनिक मिश्रणों के साथ उपलब्ध होते हैं और इनके शोधन की क्या प्रक्रिया है एवं इनका कौन सा वैज्ञानिक अथवा औद्योगिक उपयोग है इत्यादि बातें अत्यंत सरलता से इस पुस्तक में वर्णित हैं। धातु शोधन में उपयुक्त होनेवाले यंत्रों, उपकरणों तथा उपादानों का प्रसंगानुसार सचित्र वर्णन है। देश में किस किस धातु के कारखाने कहाँ कहाँ हैं और कहाँ किस पद्धति से काम होता है। इसका भी उल्लेख कर दिया गया है। हिंदी में अपने विषय की यह सर्वप्रथम मौलिक और प्रामाणिक रचना है। आकार डबल क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ संख्या लगभग ३०० से ऊपर, सजिल्द, मूल्य ६)

मुद्रक—शंभुनाथ वाजपेयी, नागरीप्रचारिणी सभा, नागरी मुद्रण, काशी।